नागार्जुन

सम्पादक
सुरेशचन्द्र त्यागी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
एम० एस० कालेज
सहारनपुर-247001

आशिर प्रकाशन, सहारनपुर-247001

सम्पर्क :
रामजीवन नगर, चिलकाना रोड
सहारनपुर-247001

वितरक—
आशिर प्रकाशन
रामजीवन नगर, चिलकाना रोड
सहारनपुर-247001

मार्च 1984
मूल्य : अस्सी रुपये

नवयुगान्तर प्रेस
पो० बाक्स 333
शारदा रोड
मेरठ—2

— क्रम —

सम्पादकीय

जनवादी बाबा की जय

कई बरस पहले की बात है यह। तब हमारे विश्वविद्यालय में यह भी नियम था कि यदि शोधार्थी या शोध-निर्देशक चाहे तो शोध-समिति के सामने प्रस्तावित विषय के बारे मे अपना पक्ष प्रस्तुत कर सकता है। मेरे निर्देशन मे एक शोधार्थी ने नागार्जुन के व्यक्तित्व-कृतित्व पर रूपरेखा प्रस्तुत की थी। उस दिन शोध-समिति की बैठक थी। शोध-समिति के संयोजक के अलावा कई विश्वविद्यालयों के विशेषज्ञ भी बैठक में थे। शोधार्थी ने शोध समिति की बैठक से लौटकर मुझे बतलाया कि विषय स्वीकृत नही हुआ है। कारण पता नहीं लगा तो मैं समिति के सदस्यों के सामने गया। पूछा मैंने—"विद्वज्जनों! क्या यह विषय घिसा-पिटा है? या नागार्जुन का व्यक्तित्व-कृतित्व इस लायक नही कि शोध हो सके? या......" एक सदस्य बोले—"नही, यह बात नहीं है। बात एक नियम की है। विश्वविद्यालय का नियम है कि उस जीवित साहित्यकार पर शोध-कार्य नही हो सकता जो साठ वर्ष से कम आयु का है। नागार्जुन अभी साठ के नही है इसलिये.. ..." अर्थात् शोधकार्य उसी लेखक पर हो सकता है जो सठिया जाये या मर जाये! खैर, मैंने प्रमाण प्रस्तुत कर दिया कि नागार्जुन साठ वर्ष से अधिक के हो चुके है इसलिये शोध का विषय होने के लिये सर्वथा योग्य हैं। विषय स्वीकृत हो गया लेकिन वह सदस्य बहुत खिसियाकर बोले—"नागार्जुन साठ के हो चुके! लगते तो नहीं।" मैंने कहा—"तो क्या यह भी नियम है कि होना काफी नही है, लगना भी चाहिये?"

भला ऐसा कौन व्यक्ति है जो जैसा हो, वैसा ही लगे या जो जैसा लगे, वैसा ही हो? नागार्जुन भी इसके अपवाद क्यों होंगे? व्यक्ति और रचनाकार दोनों ही रूपों में नागार्जुन को समझना जितना सरल लगता है, उतना है नहीं।

ठक्कन मिसिर/वैद्यनाथ मिश्र/नागार्जुन/यात्री/और अन्ततः बाबा के व्यक्तित्व के बारे में कुछ कहने का मुझे अधिकार नहीं है क्योंकि उनके सम्पर्क में आने का, उनके निकट होने का मुझे अवसर नहीं मिला। लगभग बीस वर्ष पहले उन्हें मेरठ में एक कवि-सम्मेलन में देखा-सुना था लेकिन अब उस समय का कोई बिम्ब मेरी स्मृति में नहीं है, इसके बाद जयपुर में प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में प्रतिनिधियों के अनुरोध पर नागार्जुन, त्रिलोचन और मन्मथनाथ गुप्त थोड़ा-थोड़ा

बोले थे। नागार्जुन ने कहा था कि 'उद्घाटन का कर्मकांड निबट ले, फिर तीन दिन तक बातचीत करनी ही है।' 'कर्मकांड' उन्होने इस भंगिमा से कहा जैसे कृत्रिमता से आलोकित ऐसे उद्घाटन समारोहो की पोल खोल रहे हों। अधिवेशन के आयोजको ने सब प्रतिनिधियों के ठहरने की व्यवस्था एक धर्मशाला में की थी। फर्श पर दरिया थी। जिसे जहाँ जगह मिले, लेटे बिस्तर खोलकर। प्रगतिवादी शैली के इसी प्रबन्ध के तहत एक कोठरी में नागार्जुन, भीष्म साहनी आदि पडे थे। रात्रि के कार्यक्रम मे अधिकतर लोग रवीन्द्र मंच चले गये। सर्दी बहुत थी। दमे के उखड़ने के डर से नागार्जुन वहीं रहे। वाचस्पति दो टोस्ट, कुछ खजूर और चाय ले आये थे। लिहाफ मे दुबके-लिपटे बाबा से अधिवेशन की व्यवस्था और फिर वाम विचार धारा के विभिन्न खेमों मे बिखर जाने के बारे में बातचीत होने लगी। इस बिखराव से बाबा खिन्न थे। उन्होंने अपने आक्रोश को व्यक्त किया—"चौत्य की पराकाष्ठा है!" चौत्य? सहसा समझ नहीं सका मैं। उन्होने प्रकृति-प्रत्यय खोलकर व्युत्पत्ति बतला दी। तीसरी बार मुजफ्फरनगर में डा० विश्वनाथ मिश्र (प्राचार्य, एस० डी० कालेज) की षष्ठिपूर्ति के अवसर पर आयोजित एक समारोह मे उनसे भेंट हुई थी। उनकी उपस्थिति से वह समारोह प्राणवान हो उठा था। संक्षिप्त भाषण के बाद उन्होंने अपनी 'अकाल और उसके बाद' कविता भी सुनाई थी।

केवल तीन अवसरों पर उनसे हुए साक्षात्कार के आधार पर कैसे कहा जा सकता है कि मैं उन्हे जानता-समझता हूं? इस व्यक्ति मे कुछ भी तो ऐसा नही लगा कि जिससे चौंका जाए या जिसकी चमक से आतंकित हुआ जाये। यह साधारणता नागार्जुन के व्यक्तित्व की विलक्षणता नहीं है क्या? उनका बयान है—"मैं साधारण हूँ, अपने को साधारण ही कहलवाना पसन्द करता हूँ। मैं तथाकथित विशिष्ट लेखकों की जमात मे नहीं हूँ। सामान्य की कोशिश मेरी हड्डियों तक में रची-बसी है। विशिष्ट लेखक तो घुसे रहते हैं साहित्यिक गुफाओ में। घुसेड़े रहते है अपने को इन्टेलेक्चुअल बेसमेट मे, जब तक खुद ही गुफा न बन जाये। अंधेरे में ही रहेंगे ताकि अपना व्यक्तित्व उस पृष्ठभूमि मे और चमके। कुछ अनोखा नजर आये। हशमत मियां, ऐसी बौद्धिक बेसमेट नौटंकी का मै कायल नही हूं।"[1] कृत्रिम साधारणता को दुशाले की तरह ओढ़े हुए लोग आजकल समाज के हर क्षेत्र में बहुतायत से मिलते है। जीवन में रची-बसी सहज साधारणता के उदाहरण है नागार्जुन। यह साधारणता विलक्षण है! बहुभाषाविद् प्रभाकर माचवे के हवाले से कहा जा सकता है कि "..... राहुल जी के छोटे गुरुभाई नागार्जुन को इतनी भाषाएं बखूबी आती हैं, वे धड़ल्ले से उन्हे पढ लेते है: मातृभाषा मैथिली, पैतृकभाषा संस्कृत, पालि, अर्धमागधी, अपभ्रंश, सिंहली, तिब्बती, मराठी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, सिन्धी इत्यादि। सिर्फ पढ़ते ही नही, रुचि से उसके नवीनतम साहित्य और

1. आलोचना (56-57) में कृष्णा सोबती से बातचीत, पृष्ठ 231

कविता-शैलियों से अपने आप को परिचित कराते रहते है।"[2] हिन्दी और अंग्रेजी इनसे अलग है। इतने जानकार होकर भी अनजान-से दिखने वाले नागार्जुन के बहुआयामी व्यक्तित्व को समझना आसान नही है। विशेष रूप से उन विरोधाभासो को समझाना तो कठिन ही है जो उनमे है। बाबा से कैफियत तलब की जा सकती है कि ब्रिटेन की प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर द्वारा महादेवी वर्मा को ज्ञानपीठ पुरस्कार दिये जाने का विरोध करने वाले हस्ताक्षरकर्ताओ मे वह है तो उत्तर प्रदेश सरकार के पुरस्कार को इन्दिरा गाधी के हाथो लेने वालो मे क्यो है ?[3] और उन इन्दिरा गांधी के हाथों जिन्हे उन्होने नवाबो की नानी, नफाखोर सेठो की अपनी सगी माई, काले बाजार की कीचड़, बाघिन, डायन, हिटलर की नानी, बाघो की रानी, चुड़ैल, देशी तानाशाही का पूर्णवितार, महाकुबेरो की रखैल, प्रभुता की पीनक मे बदहोश, भस्मासुर की माता, डेमोक्रेसी की डमी तथा और भी न जाने क्या क्या कहा था !

एक ओर वह लेखक की ईमानदारी के प्रमाण रूप मे है तो दूसरी ओर एक ही रचना को दो शीर्षको से छपवाकर (उसके पीछे कारण चाहे जो हो) अपने पाठकों को भ्रमित करने वालों मे क्यों हैं ? एक ओर वह जन-संघर्ष से प्रेरणा लेने वाले है[5] तो दूसरी ओर घोर श्रृंगारी कविता का हिन्दी रूपान्तर करके सामन्ती श्रृगार का रसपान करने-कराने वाले क्यों है ?[6] एक ओर प्रतिहिंसा और भून्न को अपने रचनाकार का स्थायी भाव घोषित करने वाले हैं तो दूसरी ओर अपनी

---

2. नागार्जुन (सम्पादक-प्रभाकर माचवे), पृष्ठ 4

3. इस बारे में नागार्जुन का कहना है कि "पुरस्कार क्या इन्दिरा गांधी के घर का था ? सवाल यह है कि इन्दिरा गांधी या जैलसिंह या कोई और या उत्तर प्रदेश सरकार ने जो रकम हमें दी वह रकम चार साल पहले क्यो नही मिली। यह होता और हमारे मन में ग्लानि की बात तब होती जब हम सरकार की तारीफ में कविता लिखते या अगले ही दिन दरबार में पेश हो जाते। मगर ऐसा तो हमने किया नही। यह तो ऐसी बात हुई कि सरकार से हमारा विरोध है और रेलगाड़ी चूंकि सरकार की है इसलिये हम उस पर चढ़ें ही नहीं, कारपोरेशन के नल का पानी ही न पियें।" —दिनमान (29 जनवरी-4फरवरी 84), पृष्ठ 51

4. 'इमरतिया' और 'जमनिया का बाबा', 'हीरक जयन्ती' और 'अभिनन्दन', 'कुंभीपाक' और 'चम्पा' उपन्यास दो दो शीर्षकों से प्रकाशित एक ही रचना हैं।

5. "मुझे संघर्षशील जनता का विपन्न बहुलांश ही शक्ति प्रदान करता है।" — 'नागार्जुन का रचना-संसार' (विजय बहादुर सिंह) के शुरू में नागार्जुन का पत्र, पृष्ठ 11

6, 'विद्यापति के गीत' के प्रारंभ में कवि-परिचय देते हुए नागार्जुन ने लिखा है कि "मुझे तो विरह-श्रृंगार वाले ये कोमल गीत तत्कालीन सामन्तवर्ग के मनोविनोद की सामग्री प्रतीत होते हैं। नर्तक और नर्तकियां भावाभिनय पूर्वक इन गीतों को गाते थे और सुविधाभोगी वर्गों के प्राण-मन इन्हे सुन सुनकर परितृप्त होते थे"—पृष्ठ 7

'अत्यन्त सुन्दर' रचना 'भस्माकुर' मे काम की गौरव-गाथा गाने वाले क्यो है ?

साधारण नागार्जुन के व्यक्तित्व के ये विरोधाभासी रूप उनके बारे मे जानने के लिए काफी दिलचस्पी पैदा करते है और यही वह विलक्षण हो उठते है। उनकी साधारणता सरलता भी है, यह कहना कठिन हो जाता है। चाहे वह आधुनिक लोगो की दृष्टि म 'प्रेक्टीकल' न हो लेकिन उन्हे अव्यावहारिक कहना भी कठिन है। उनकी व्यावहारिक बुद्धि (व्यापारिक तो नही कहना चाहिए) का यह रूप दर्शनीय है—"खण्डकाव्य लिख रहे है आजकल। थोडा पौराणिक—क्लासिक ऐसा थीम हो तो खण्डकाव्य झट कोर्स मे लग जाता है। उपन्यास भी हम छोटा लिखते है। बृहद उपन्यास मे झझट है। आकार बड़ा होगा तो कीमत भी ज्यादा होगी। कहाँ स खरीदेगा विद्यार्थी!"[8] लेखन की यह दृष्टि भी उनके अव्यवस्थित जीवन से कहाँ मेल खाती है!

आलोचना कोई भरोसे की चीज थोड़े ही है। और हिन्दी आलोचना! राम का नाम लो। लेखक और पाठक के बीच सेतु बनना चाहिये आलोचक को लेकिन बन नही रहा है। वह तो दोनों के मध्य दीवारे चिन रहा है सिद्धान्तों की—मनोविश्लेषणवादी, समाजवादी, सौन्दर्यवादी, रूपवादी इत्यादि। आलोचना के क्षेत्र मे भी तात्कालिक तूफान आते है— मुक्तिबोध से बड़ा कोई नहीं हुआ, धूमिल ने नई जमीन तोड़ दी, फला अभूतपूर्व है, फलां वैसा है। नागार्जुन लम्बे अरसे तक आलोचकों की उपेक्षा झेलते रहे। कही नामोल्लेख मात्र हुआ तो हुआ अन्यथा वह भी नहीं। यह धरती का पुत्र रत्नप्रसविनी भारत-भू को नापता रहा खुरदरे पैरों से, लेखनी से। आजकल ज्वार आया हुआ है—नागार्जुन दूसरे कबीर है, वर्तमान प्रेमचन्द है, नागार्जुन जैसा व्यंग्यकार हिन्दी मे कबीर के बाद हुआ ही नहीं, नागार्जुन वाल्ट ह्विटमेन है, स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासकारो मे सबसे बड़े है, अद्वितीय है। नागार्जुन बाबा मुस्करा रहे है—चौर्य की पराकाष्ठा है! कहते है—"आज का श्रमजीवी साहित्यकार अपने व्यक्तित्व की सीमाएं जानता है। अपनी क्षमताओं का दायरा उसे अच्छी तरह दिखाई देता है। अनुचित या अत्यधिक प्रशंसा से उन्मद होकर वह कर्त्तव्य से भ्रष्ट नही होगा। भक्त अनुरक्त जन लाल या हरा पानी पिलाक अब उसे गगन विहारी नहीं बना सकते।"[9]

मेरे लेखे यह जानना महत्वपूर्ण नही है कि नागार्जुन किससे बड़े या छोटे

---

7. 'प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है मेरे कवि का'—हजार हजार बाँहों वाली,। एक बातचीत में नागार्जुन ने विजयबहादुर सिंह से कहा था—'मेरे लिये भूख अभी तो स्थायीभाव है।'—नागार्जुन का रचना ससार, पृ॰ 172। नागार्जुन ने 'भस्माकुर' को 'अत्यन्त सुन्दर' स्वयं ही कहा है। देखिये—'भस्मांकुर' के प्रारभ में शिवकुमार मिश्र का परिचयात्मक लेख, पृ॰ 18

8. आलोचना 56-57 मे मनोहर श्याम जोशी से बातचीत, पृष्ठ 8

9. एक व्यक्ति : एक युग निराला, पृष्ठ 35

है, आस्तिक हैं या नास्तिक, आध्यात्मिक है या भौतिकवादी। वैसे तो प्रत्येक कृती लेखक किसी न किसी स्तर पर संघर्ष करता है और प्रत्येक रचना संघष से ही पैदा होती है लेकिन नागार्जुन ने व्यक्ति और रचनाकार के रूप मे जो सघर्ष किया है, वह कम प्रेरक नही है। आत्मकथा तो उन्होंने नहीं लिखी है लकिन उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र आत्मकथात्मक संकेत आये है। 'रवि ठाकुर' कविता में वह कहते हैं—

पैदा हुआ था मैं—
दीन-हीन-अपठित किसी कृषक-कुल में
आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से
कवि ! मैं रूपक हूं दबी हुई दूब का
हरा हुआ नही कि चरने को दौडते !!
जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष मे !!
मुझको भी मिली है प्रतिभा की प्रसादी
मुझसे भी शोभित है प्रकृति का अंचल
पर न हुआ मान कभी ![10]

इन पंक्तियों मे जहां आर्थिक विपन्नता की ओर सकेत स्पष्ट है, वहीं दूसरी ओर एक अन्तः संघर्ष की अभिव्यक्ति भी है—प्रतिभाशाली होते हुए भी सम्मान न पा सकने की पीड़ा का संघर्ष ! इस दुहरे संघर्ष को झेलते हुए भी नागार्जुन ने भारतेन्दु का स्मरण करते हुए लिखा था -

लो आज तुम्हारी याद मे लेता हूं मैं यह सपथ।
अपने को बेचूंगा नही चाहे दुख झेलूं अकथ॥

नागार्जुन ने अपनी इस शपथ को निभाया है, निभा रहे हैं। ऐसा व्यक्ति आजकल के माहौल में सिरफिरा कहलाएगा लेकिन समाज में ऐसे सिरफिरों की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। इस रूप में वह वंदनीय हैं। रचनाकार की अस्मिता का ऐसा जयघोष और कहां सुनाई देगा ?

नागार्जुन की प्रतिभा कई रूपों में प्रस्फुटित हुई है—कवि, उपन्यासकार,

---

10. युगधारा, पृष्ठ 13
अन्यत्र भी एक कविता में उन्होंने रूस की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

बुझने न पाती
प्रतिभा की बाती
स्नेह के अभाव में
उपेक्षा के दराव में।
धन्य वह संसार

—पुरानी जूतियों का कोरस, पृ० 28

कहानीकार, संपादक, अनुवादक, स्तंभ लेखक इत्यादि। लेकिन ख्याति उनकी कवि और उपन्यासकार के रूप मे ही है। हिन्दी के नागार्जुन मैथिली के यात्री है। संस्कृत मे भी उन्होंने कविताए लिखी है। लगभग आधी शताब्दी से उनकी काव्य-यात्रा चल रही है। उनके काव्य के बारे मे कोई राय बनाना अभी भी मुझे उचित नही लगता। कविताएं इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओ मे लगातार छपती रही है। हमे शोभाकान्त का ऋणी होना चाहिये कि पत्र-पत्रिकाओं से ढूंढकर कविताओं को उन्होंने संकलित किया है, कर रहे है। जो सकलन उन्होने किये है, वे वर्ष-क्रम से नही है। रचनाओं के साथ प्रकाशन-वर्ष डालकर उन्होंने अच्छा किया है क्योंकि सारी कविताएं एकत्र होने पर उन्हे वर्ष-क्रम से संकलित किया जा सकेगा। अब तक प्रकाशित कविताओं की सूची वर्ष-क्रम से मैं अंत मे दे रहा हूं।

नागार्जुन ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को, जनकवि सिरमौर मानते हुए लिखा है—

> हे जनकवि सिरमौर सहज भाखा लिखवइया
> तुम्हें नही पहचान सकेंगे बाबू भइया
> तुम सी जिन्दादिली कहा से वे लावेगे
> कहां तुम्हारी सूझबूझ वे सब पावेंगे
> उनकी तो बस एक रट: भाषा संस्कृतनिष्ठ हो![11]

कुछ आलोचकों ने तो नागार्जुन को जनकवि कहा ही है, स्वयं नागार्जुन ने दावा किया है कि "भारतेन्दु के बाद हिन्दी कविता को जनता के बीच खड़ी करने की कोशिश मैंने की।'[12] दो अलग कविताओं मे उन्होंने अपने लिए 'जनयुग का यह रिक्त हस्त कवि'[13] शब्दावली का प्रयोग किया है और 'जनकवि हूं मैं' कहकर आत्मबोध को वाणी दी है। जनसामान्य या आम जनता तक पहुंचने की उन्होंने भरपूर कोशिश की है—जनता की भाषा के द्वारा, नुक्कड़ सभाओं के द्वारा। आम जनता से उनका तात्पर्य "बौद्धिक स्तर पर दर्जा चार तक पढी हुई जनता से है। आर्थिक स्तर पर जो दोनों जून की रोटी खा लेती हो।"[14] आजहिन्दी के किसी कवि द्वारा स्वयं को 'जनकवि' कहना नितान्त हास्यास्पद लगता है; जनकवि बनने की, जन सामान्य से जुड़ने की इच्छा प्रशंसनीय अवश्य है। कविता जन सामान्य तक पहुंचती कहां है? हिन्दी में एक हजार प्रतियों का संस्करण भी कई वर्षों में बिकता है। एक इन्टरव्यू में नागार्जुन ने बतलाया कि 'भस्मांकुर' चौदह जगह लगी हुई है। चौदह जगह किसी किताब का लग जाना किसी कवि को जनकवि नहीं बना देता।

11. पुरानी जूतियों का कोरस, पृष्ठ 13
12. नागार्जुन का रचना-ससार, पृष्ठ 175
13. 'भारत माता' (युगधारा, पृष्ठ 71) और 'महाकवि निराला' (हजार हजार बाहों वाली, पृष्ठ 25) कविताएं दृष्टव्य।
14. नागार्जुन का रचना-संसार, पृष्ठ 173

नागार्जुन इतने भोले बाबा नही है कि यह न जानते हो कि कोर्स में लगना कवि या कविता का नहीं, प्रकाशक का कमाल है। नागार्जुन के ही एक प्रकाशक का बयान है कि "यहां (विश्वविद्यालय स्तर पर) भी पुस्तकों का चुनाव पुस्तक के गुण-दोष के आधार पर नही होता। चुनाव करने वाले, ऐसा लगता है, पुस्तक का अर्थ शास्त्र प्रकाशक से अधिक जानने लगे है। पुस्तक बिके या न बिके, विद्यार्थियो की संख्या के आधार पर लाभ गिनकर वे अपना हिस्सा पहले ही ले लेते है। .... लगभग सभी विश्वविद्यालयों मे यही स्थिति है—कुछ मे कम, कुछ मे अधिक। अन्तर केवल घूस की दर मे है।"[15] दो जन की रोटी का भी कठिनाई से जुगाड़ कर पाने वाली जनता नागार्जुन या अन्य किसी भी कवि की पचास-साठ कविताओ के लिए पचीस-तीस रुपये कैसे खर्च करेगी और क्यो ?

जनकवि का अर्थ 'लोकप्रिय कवि' है तो मानना होगा कि नागार्जुन लोकप्रियता मे बहुत पीछे है। शोषितों के प्रति सहानुभूति की अभिव्यक्ति यदि जनकवि की पहचान है तो प्रगतिवादी सभी कवियो ने ऐसा किया है, केवल नागार्जुन ने नही। एक कविता में उन्होने स्वय को 'भारतीय जनकवि'[16] कहा है और 'भारतमाता'[17] कविता मे 'जय जय जय हे भारतमाता' कहकर उसकी बन्दना की है। यह भारतीयता धन्य है ! लेकिन दूसरी ओर 'सोवियत धरणी / इच्छापूर्ति करणी / श्रमिक कृषक दल की / खान जन बल की / संघबद्ध स्वाधीन / लोग जहां वर्गहीन / कहीं किसी कोने में /जहां पैदा होने मे / नहीं डर पिछड़ने का/ पडे पडे सडने का /[18] कहकर जब वह रूस के गुणगान मे व्यस्त दीखते है या चीन मे खिल रहे लाल कमलों के परिमल को यहा सूंघते है तो 'भारतीय जनकवि' की भारतीयता एवं जनकवित्व पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। जनकवि की सही परीक्षा तो समय से होती है। समकालीन प्रशंसा-निंदा के शात होने के बाद समय का निकष सक्रिय होता है। हां, शोषित-पीड़ित जन से जुड़ाव नागार्जुन के कवित्व का एक महत्वपूर्ण पहलू है। उन्होंने लिखा है—

"इतर साधारण जनों से अलहदा होकर रहो मत,
कलाधर या रचयिता होना नही पर्याप्त है
पक्षधर की भूमिका धारण करो .....
विजयिनी जनवाहिनी का पक्षधर होना पडेगा.... —"[19]

नागार्जुन का प्रकृति से भी प्रेम कम नहीं है। यद्यपि संख्या में प्रकृति-परक कविताए' अधिक नहीं हैं पर जो भी हैं, प्रकृति के प्रति कवि का आंतरिक अनुराग

---

15. सामयिक साहित्य (जनवरी 84) में राधाकृष्ण प्रकाशन के अरविंद कुमार का लेख
16. हजार हजार बांहों वाली, पृष्ठ 40
17. युगधारा, पृष्ठ 70
18. पुरानी जूतियो का कोरस, पृष्ठ 28
19. युगधारा, पृष्ठ 74

व्यक्त करती है। नागार्जुन के लिए केवल जनता ही हजार हजार बाहों वाली नही है, प्रकृति भी सहस्र-बाहु है। प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि "प्रकृति उनके लिए अपने अधूरे सपनो का नीड कभी नही रही। वहा पलायन कर इस धरती के दुख-दर्द को भूल जाने की बात उन्होने कभी मन मे नही ठानी। इसीलिए चाहे प्राकृतिक दृश्य हो या प्राकृतिक विषयो पर मानवीकरण का आरोपण हो, सर्वत्र वे अपने आस पास के पूरे जीव और जगत की विसगतियो और विद्रूप को भूल नही पाये है।"[20] इस कथन से लगता है कि नागार्जुन का प्रकृति-चित्रण भी 'जनवादी' है। नागार्जुन की प्रकृति कविताओ मे आकर्षण है, कल्पनाएं भी ललित है और ये कविताएं मनमोहक बन पड़ी है लेकिन नागार्जुन के लिए प्रकृति अधूरे सपनो का नीड नही है या वहा भी सामाजिक विसगतिया उनके साथ है, यह मानना कठिन है। 'भस्मांकुर' मे प्रकृति शृगार की पृष्ठभूमि बनकर आई है। एक उदाहरण देखिये —

"शाखाएं हो उठीं खूब छतनार
रोक न पाई आलिगन की चाह
लतिकाओ ने पकडी सुख की राह
दीर्घ प्रलबित थाम लिए भुजदड
एक एक कर टूट गये पाखड
प्रौढ वनस्पति मान चुके है हार
बेले उनसे लिपट गयीं निर्द्वन्द्व "[21]

पेट की भूख और प्रतिहिंसा को काव्य का स्थायी भाव कहने वाले कवि की यह 'जनवादी दृष्टि' सचमुच चौकाने वाली है। ऐसा तो नही कि बाहर आ रही हो प्रतिहिंसा और भीतर उबल रहा हो काम ! 'भस्मांकुर' की भूमिका में बाबा ने लिखा है कि "काम-दहन वाली कथावस्तु को काव्य का रूप देने का सकल्प नया नहीं था। पिछले सात आठ वर्षों से यह कथानक अपने मन मस्तिष्क के अन्दर एतदर्थ पकता उबलता रहा है।"[22] हजार बाहो वाली शिशिर को इस बीच नागार्जुन ने इस रूप में देखा था—

"हजार बाहों वाली शिशिर विष कन्या
उतरी लेकर सांसों में प्रलय की वन्या
हिमदग्ध होठों के प्राणशोषी चुम्बन
तन मन पर लेप गये ज्वालामय चन्दन
एक एक शिरा में सौ सौ सुइयों की चुभन
अद्भुत यह भुजपाश अद्भुत आलिगन।"[23]

---

20. नागार्जुन (सपादक-माचवे, पृष्ठ 11)
21. भस्माकुर, पृष्ठ 140
22. वही, पृष्ठ 12
23. हजार हजार बाहो वाली, पृष्ठ 111

नागार्जुन ने व्यक्तियो पर बहुत कविताएं लिखी है—सभवत: हिन्दी कवियों में सबसे अधिक। गांधी, नेहरू, लालबहादुर, निराला, राजकमल चौधरी, शैलेन्द्र, सजय गाधी, इन्दिरा गांधी, श्री अरविन्द, स्टालिन, आइजनहावर, मोरारजी देसाई, नदा जी, लेनिन, गोर्की, भारतेन्दु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर इत्यादि—सभी के लिये उन्होंने अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। इनमे निन्दा भी है, स्तुति भी है, गालियां भी है, प्यार दुलार भी है। यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि घटनाओ या व्यक्तियो के बारे मे तात्कालिक प्रतिक्रियाएं चिरजीवी नही होती। 'तात्कालिकता को कुछ आलोचकों ने नागार्जुन की विशेषता कहकर बखान किया है पर यह उनके काव्य की सीमा भी है। तात्कालिकता पत्रकारिता की विशेषता है, दृष्टा कवि युग को देखते हुए भी युग के पार देखने की क्षमता रखता है। नागार्जुन ने तो आलोचना भी तत्काल लिखी है।[24] जिन कविताओ मे नागार्जुन नें मार्मिक अनुभूतियों को स्पर्श किया है, वे ही उनकी अच्छी कविताएं है। तात्कालिक प्रतिक्रियाओं के रूप मे लिखी रचनाएं अखबारों के लिए लिखी गई थी इसलिए समय के बदलते वे भुला दी जायेगी। इस विषय को विस्तार देना यहा आवश्यक नही है।

नागार्जुन व्यंग्य कवि के रूप में पहचाने जाते है। मैं उनके व्यंग्यों के बारे मे कोई टिप्पणी किये बिना दो कथन उद्धृत करना चाहता हूं—

1. "नागार्जुन की यह वर्ग प्रतिहिंसा कविता मे व्यग्यों के रूप में प्रकट हुई है; और बिना हिचक के कहा जा सकता है कि कबीर के बाद हिन्दी मे नागार्जुन से बड़ा दूसरा व्यंग्यकार पैदा नहीं हुआ।"[25] —नामवर सिंह

2. "वे व्यंग्य को त्रासदी और पीड़ा से मोड़कर—एक उदार मानवतावादी और लोकमंचीय नेता की तरह—उसे हास परिहास और फूहड़ता में भटका गये। इसीलिए नागार्जुन के बड़े डरावने व्यंग्य भी दया में परिणत होते है, बड़े भंडाफोडी व्यंग्य भी फूहड़ता में फिचफिचा पड़ते हैं और बड़े विद्रोही व्यंग्य तक हास्य विनोद में फूट छलकते है।"[26] रमेश कुन्तल मेघ

बड़ा गड़बड झाला है पाठक बन्धु! 'कविता के नये प्रतिमान' में बच्चन की कविता 'बुद्ध और नाचघर' का विश्लेषण करते हुए नामवर सिंह ने लिखा था कि "यह सपाट कथन ही व्यंग्य है तो फिर व्यंग्य की परिभाषा बदलनी पड़ेगी।"[27] लगता है कि 'आलोचना' में प्रकाशित अपने उपर्युक्त बिना हिचक के कथन तक

---

24. अपनी आलोचना-पुस्तक 'निराला' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "निराला जी के देहावसान के बाद तत्काल ही लिखित यह पुस्तक बहुत पसन्द की गई थी।"-पृष्ठ 7.
25. आलोचना, (56–57), पृष्ठ 2
26. क्योंकि समय एक शब्द है, पृष्ठ 433
27. कविता के नये प्रतिमान, पृष्ठ 40

उन्होंने व्यंग्य की परिभाषा बदल ली है। बाबा नागार्जुन कहते है—"नामवर ! नामवर के लिये हमको बहुत दया आती है। इतना मेधावी व्यक्ति और एक लाइन नही लिख पाता, एक लाइन !"[28] बाबा रगड-विद्या के आचार्य है। रगड़ाई से कौन नहीं भय खाता ? उनका बयान सिर-माथे।

मैंने बच्चन जी को लिखा था कि 'सम्पर्क' का नागार्जुन अंक निकल रहा है। उन्होंने उत्तर मे लिखा—"प्रसन्नता है 'सम्पर्क' का पहला अंक आप नागार्जुन जी के बारे मे निकाल रहे है। वे अपनी लेखनी से अपने बहुआयामी जीवन को अधिकाधिक उद्‌घाटित कर रहे है—हिंदी कवियों मे शायद ही अन्य कोई उनसे अधिक खुलेपन से लिख रहा हो। मुझे एक शिकायत भी उनसे है। वे अब कला-वांछित सयम-सतुलन को बिल्कुल भूल गये हैं पर मैं कौन हूं उन पर अकुश लगाने वाला ? अपने विकास क्रम मे संभवत: वे स्वयं अपना आत्म-परीक्षण करे। अपने को बदलने की उनमे अद्‌भुत क्षमता है। रूढ़ वे शायद ही कभी हो सके।"[29] अज्ञेय ने एक जगह लिखा है—"नागार्जुन मे प्रतिभा है। जिन कविताओ मे उन्होने रूप-विधान को स्वीकार किया है, वे सुन्दर भी है, प्रभावशाली भी। इससे भी इन्कार नहीं कि वे प्रगतिवादी है। ··· असल मे लोगों को यह ध्यान मे रखना चाहिये कि अगर काव्य को या साहित्य को हथियार की तरह ही बरतना है तो भी आखिर उसकी शक्ति को ही बरतना है न ? और रोचकता, सुन्दरता उसकी एक बड़ी शक्ति है।'"[30] बच्चन जिसे 'कला-वाछित संयम-संतुलन' कहते है और अज्ञेय जिस सौन्दर्य को काव्य की शक्ति बतलाते है, वह क्या है ? असल मे कविता का कलात्मक सौन्दर्य वही तो है और यह कविता का नया प्रतिमान या अति नया प्रतिमान नहीं है। नागार्जुन की 'युगधारा', 'सतरंगे पंखों वाली' तथा 'प्यासी पथराई आखें' की अनेक रचनाएं कलात्मक सौन्दर्य के कारण कईकईबार पढनेपर भी नई लगती है और मन को छूती है। उन रचनाओं में न तो प्रचार है, न नारे, न गालिया। नागार्जुन के काव्य-विकास को उनके संकलनों के प्रकाशन-क्रम से नहीं, रचनाओं के प्रकाशन-वर्ष के क्रम से देखना होगा और तब ज्ञात होगा कि पाचवें दशक में कलात्मक सौन्दर्य को पूरी तरह संभालते हुए वह जैसी कविता लिख रहे थे, वैसी बाद में राजनैतिक जंगल में भटकने के कारण लिख नहीं सके और बिखरते चले गये। यदि उनके अब तक प्रकाशित सम्पूर्ण काव्य के सन्दर्भ में रामविलास शर्मा अब भी यह कहते हैं कि नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौन्दर्य के संतुलन को अद्वितीय ढंग से साधा है तो लगता है कि वह दोस्ती निभा रहे है।[31] रामविलास शर्मा की

28. आलोचना (56-57), पृष्ठ 225
29. मेरे नाम 21 सितम्बर 83 का पत्र।
30. आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ 161
31. नागार्जुन रामविलास, केदार और त्रिलोचन को अपने निकट का मानते हैं। देखिये—नागार्जुन का रचना-संसार, पृष्ठ 172

ही बात को नामवरसिंह अपने शब्दों मे कहते है कि "जनकवि के रू। े नागार्जुन की सबसे बडी उपलब्धि है कविता के कलात्मक सौन्दर्य की बलि चढाये बिना कविता को सर्वजन सुलभ बना देना।"[32] स्पष्ट नही है कि रामविलास शर्मा या नामवरसिंह का 'कलात्मक सौन्दर्य' से क्या तात्पर्य है ? हो सकता है कि कलात्मक सौन्दर्य की भी परिभाषा बदल गई हो !

नागार्जुन की एक कविता से एक अश लेकर मैं इस प्रसग को समाप्त करता हूं—

> "प्लीज, कवि महोदय, अपनी प्रतिभा को
> बहकने मत दो······ तुम्हारे अन्दर
> इस बुढौती मे भी छिपी है असीम—
> सभावनाए
> बरबाद न करो अपने को, प्लीज !"[33]

\+ + + +

नागार्जुन ने लिखा है कि "साहित्यजीवी के लिए मेहनती गद्यकार होना पहली शर्त है। दूसरी शर्त है मौलिकता का दंभ झाडकर सब कुछ लिखने के लिए तैयार रहना।"[34] गद्यकार नागार्जुन का सर्वप्रमुख रूप है उपन्यासकार का। उनके प्रकाशित उपन्यास है—रतिनाथ की चाची, बलचनमा, दुखमोचन, नई पौध, कुंभीपाक, हीरक जयन्ती, पारो, उग्रतारा, वरुण के बेटे, जमनिया का बाबा, इमरतिया, बाबा बटेसरनाथ, अभिनन्दन। पहले कहा जा चुका है कि 'जमनिया का बाबा' और 'इमरतिया' एक ही है, 'हीरक जयन्ती' और 'अभिनन्दन' एक ही हैं—नाम दो हैं। 'कुंभीपाक' भी 'चम्पा' शीर्षक से छपा था। पारो, नई पौध और बलचनमा मूलतः मैथिली में लिखे गये थे। ये रूपान्तरित होकर ही हिन्दी मे आये। पारो का हिन्दी रूपान्तर किन्हीं कुलानन्द मिश्र ने किया और शेष दो का स्वयं नागार्जुन ने। इन मैथिली उपन्यासों का हिन्दी उपन्यासो के रूप में उल्लेख और विवेचन मेरे विचार से तो उचित नही है लेकिन 'बलचनमा' को उपन्यास-सूची से निकाल दें तो बचेगा क्या ? उपन्यासकार के रूप में नागार्जुन की ख्याति का आधार 'बलचनमा' ही तो है। इसी ने आलोचकों का ध्यान नागार्जुन की ओर खींचा और वह उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

यदि कवि नागार्जुन का रचना-काल लगभग आधी शताब्दी में फैला हुआ है तो उपन्यासकार नागार्जुन का रचनाकाल मात्र बीस वर्षों में—'रतिनाथ की चाची' से 'इमरतिया' तक—फैला है। पिछले लगभग पन्द्रह वर्षों मे उनका कोई नया उपन्यास नही छपा है। इस विधा को वह पीछे छोड़ आये है। उनके उपन्यास

32. आलोचना, (56-57), पृष्ठ ?
33. हजार हजार बाहों वाली, पृष्ठ 186
34. अन्नहीनम् क्रियाहीनम्, पृष्ठ 64

को 'उपन्यासिका' या 'लघु उपन्यास' ही कहना चाहिये क्योंकि व्यापक फलक पर उनकी रचना नहीं हुई है। मिथिलांचल की प्रकृति, रीति-रिवाज, पारम्परिक अनुष्ठान और भाषायी मुहावरे उनके उपन्यासों मे यत्र-तत्र देखे जा सकते है। 'रतिनाथ की चाची' के नवीन संस्करण (1977) को ही नागार्जुन ने प्रामाणिक माना है। इससे पूर्व के संस्करणों से अश्लील और अप्रासंगिक अंशों को, फुटनोटों को हटाकर उन्होने मूल पाठ को सहज-सुबोध कर दिया है। रचना के प्रकाशित होने के बाद लेखक द्वारा इस प्रकार का परिवर्तन मुझे वाछनीय नहीं लगता। आलोचना के क्षेत्र मे इससे भ्रम फैलता है। लेखक के विकास-क्रम को समझने में भी इससे कठिनाई होती है। अपने बचपन के कुछ आत्मकथात्मक संकेत नागार्जुन ने इस उपन्यास में दिये है—रतिनाथ के माध्यम से। इस उपन्यास की चर्चा का यह भी एक कारण रहा है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों मे सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध एक वातावरण का निर्माण किया है। विधवाओ की कारुणिक स्थिति, बेमेल विवाह, बाल-विवाह, कृषको का शोषण, वर्ग-वैषम्य, अंधविश्वास, नेताओ के भ्रष्टाचरण आदि का यथार्थ चित्रण नागार्जुन ने अपने उपन्यासो में किया है और अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से इन बुराइयो से जूझने वाले चरित्रों की भी सृष्टि की है जिससे सामाजिक जागरण का लक्ष्य रखने वाले लोग प्रेरणा ले सकें। वर्णनात्मक और आत्मकथात्मक शैली मे लिखित नागार्जुन के उपन्यास अपनी आंचलिकता के कारण उल्लेखनीय हैं लेकिन कहीं-कहीं आचलिकता का मोह उन पर इतना हावी रहा है कि पाठक ऊबने लगता है। प्रकृति के प्रति नागार्जुन का प्रेम उनके उपन्यासों में भी जगह-जगह दीखता है। छोटे कथानको को लेकर भी नागार्जुन उनका स्वाभाविक निर्वाह नहीं कर सके है और अंत तक पहुंचते पहुंचते कथानक सामाजिक उपदेश देकर दम तोडते प्रतीत होते हैं। समाज-सुधार बुरी बात नहीं है, उसे बतौर गाली प्रयोग नहीं किया जा सकता। लेकिन सुधार का उपदेश देना उपन्यास के शिल्प की दुर्बलता बन जाता है। व्यापक जीवन-दृष्टि और विस्तृत परिप्रेक्ष्य लेकर उपन्यास लिखने की क्षमता नागार्जुन में नहीं है, यह तो मै नहीं कहता। वह कोई बृहद उपन्यास लिख रहे हों, यह संभव है।

'अन्नहीनम क्रियाहीनम्' शीर्षक संकलन में उनके स्फुट लेख है। यात्रा-विवरण तो इसमें है ही, राहुल और यशपाल के बारे मे भी दो लेख हैं। 'आईने के सामने' आत्म-विश्लेषण है और एक नये ढंग से लिखा गया है। इन विभिन्न लेखों के आधार पर नागार्जुन को बहुत गंभीर गद्यलेखक नहीं माना जा सकता। निराला के बारे में लिखित पुस्तक नागार्जुन को समीक्षक की प्रतिष्ठा तो नहीं दे सकती पर उसकी रोचकता असंदिग्ध है। निराला के उपन्यासों से लम्बे-लम्बे उद्धरण देकर पुस्तक का कलेवर बढ़ाया गया है। नागार्जुन का दावा है कि "अपनी प्रखरता औ.

बेलौसपन के चलते इस पुस्तक को साहित्य के इतिहास को उजागर करने वाली तो माना ही जाता रहेगा।"

मैंने चाहा था कि 'सम्पर्क' के इस प्रवेशाक में नागार्जुन का एक इन्टरव्यू भी रहे। मैंने लिखा कि बाबा जब दिल्ली में हों तो घेरने का इरादा है। कदाचित् 'घेरना' शब्द उन्हें प्रिय न लगा—बाबा कभी घिरे है भला ? एक लेखक मित्रको इन्टरव्यू के लिये भेजा तो साफ मना हो गई। 'आलोचना' के लिए मनोहर श्याम जोशी ने बाबा का इन्टरव्यू लिया था। उन्होंने लिखा है—"डबल इन्टरव्यू के लिए बाबा बहुत घेर घारकर श्रीमती शीला संधू के घर लाये गये जहां वह तीन दिन रहे और बाकायदा शिफ्टों मे इन्टरव्यू देते रहे।" तीन दिन, तीन रात ! जनवादी बाबा की जय !!

\+ \+ \+ \+

जिन लेखको ने अपने लेख भेजकर मुझे उपकृत किया है, उनके प्रति मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूं। मैंने लेखकों के नाम के साथ आचार्य, श्री, डाक्टर आदि नही लिखा है, इसका मतलब यह नहीं कि मेरे मन में इनके प्रति आदरभाव नहीं है। यह 'सम्पर्क' की नीति के कारण हुआ है अन्यथा सभी पूज्य हैं, आदरणीय है। मैं मान्य प्रभाकर माचवे का विशेष ऋणी हूं जिन्होंने मुखपृष्ठ के लिए बाबा का रेखांकन भेजा।

'सम्पर्क' को आपका स्नेह मिलेगा, इस कामना के साथ—

21 फरवरी 1984
सहारनपुर.

सुरेश चन्द्र त्यागी

नागार्जुन

फोटो : कमलकांत बुधकर

(अराजकवादी) नागार्जुन के प्रति

—प्रभाकर माचवे

बहत्तर बरस में साठ यायावरी में बीते
कांधे पर झोला लिये इसी तरह जीते
कल की कुछ फिक्र नहीं, घुमक्कड़ भाई
यही जिन्दगी क्यों तुम्हें भला भाई ?

क्षण-क्षण परिवर्ती यह जगत् कहा बुद्ध ने
शांति शांति खोजने को पीत चीवर पहना
तिब्बत गये, सिंहल गये कहाँ कहाँ भटके
सारनाथ, सांची और बोध गया—
कहीं नहीं अटके
भीतर और बाहर था वही एक दहना
सिखलाया शांति-अर्थ क्या तुम्हें युद्ध ने

'जनयुद्ध', जार और हिटलर और मुसोलिनी
जनता की ताकत के आगे टिकी नहीं थाह्मिनी
रक्ताक्त क्रांतियाँ अन्त में कहाँ गई
स्तालिन और माओ की मूर्तियाँ कैसे ढहीं
इतिहास निर्मम है
यह सब कुछ माना
फिर भी कहीं भीतर रमा वही गाँव-गाजा

विद्यापति, कालिदास, बाउल और नचारी
आखिर में देश में
इतने विविध वेश में
आये इतने नेता, लेकिन आखिर क्या बचा री ?
हर कोई पूँजी की बीन पर ही नचा री !
बहुत बड़ी सजा तुमने अपने को दे डाली
पंडित थे, अपभ्रंश, पाली की पोथियों से जूझते
जूझे थे स्वतन्त्रता में, जेल गये इतनी बार

ताम्र-पत्र लेकर मौन पेंशन ही खाते
बैठे रहते घर पर नाती-पोते दुलराते
मगर भीतर जो आत्मा के एक कहीं कीड़ा
कुतर कुतर कहता था, यह सब है फानी
'अकबर' का व्यंग-रंग, माइकोवस्की और नजरूल
'नाग' हर शब्द मे, साग्निक थी वाणी
क्या इन सब आदर्शों की कोरी शब्दक्रीड़ा ?
क्या इनमें कुछ भी बचे हुए कहीं मानी ?
केवल 'अर्थ' नाचता पिशाच जैसे 'स्वाहा'······
तांडव है, ध्वंस है, विनाश प्रलय आहा !
·········

"बाद मुद्दत के तकरीर भी की तुमने तो वह
जिसके मतलब नही, मानी नही, मफहूम[1] नहीं।
तिरछी चितवन मे खुदा जाने वह देखे मुझे कब
मौत का वक्त किसी शख्स को मालूम नहीं।
मेरा अहवाल जो यारों ने कहा कुछ उनसे
हंस के फरमाया कि होगा मुझे मालूम नहीं ।।
दम निकलता है हमारा, खबर उनको नही कुछ
जान जाती है हमारी, उन्हें मालूम नहीं।"
·········

तुमने इस ढोंग को चीर कर उघारा है
पाखण्ड खंड-खंड, उलटी यह धारा है
यांत्रिक सब नारा है, यहाँ कहाँ चारा है ?
तुम्हारी ही पंक्तियाँ :

"बेचेंगे हम सेवाग्राम
सस्ता है गांधी का नाम
रघुपति राघव राजाराम
लोगे मोल, लोगे मोल ![2]

सारे स्थान सूने हैं 'पत्रहीन नग्न गाछ'
सांच को ही यहाँ आंच
'कंकाले कंकाल' हँसते हैं नाच नाच
बैठे है अपराधी स्वयं यहाँ करने जाँच
एक साथ लिखते हो 'कल्पना के पुत्र भगवान'

---

1. समझने योग्य। (यह आठ पंक्तियाँ अकबर इलाहाबादी की हैं)
2. हजार हजार बांहों वाली, पृ० 144

और, 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने'
तुम नही वैद्यनाथ मिश्र मैथिल ब्राह्मण
तुम नही बौद्ध, नही कम्यूनिस्ट, मार्क्सवादी,
नही तुम राजनैतिक शब्दों के व्यंगकार
नहीं तुम ओंकार, टंकार, झंकार
तुम 'सर्व नकारवादी' (निहिलिस्ट)
"तुमसे क्या झगड़ा है
हमने तो रगड़ा है
इनको भी, उनको भी, उनको भी!"[3]
अनार्किस्ट
आर्टिस्ट
हमने तुम्हें देखा है कैसे कैसे रूप मे
वर्षा मे, धूप में, रूप में, अरूप मे, पोखर में, कूप में,
नदी में, गड्ढे में, सागर में, खेत में, पुआल में, सूप मे
न सावन हरे, न भादों से डरे
खड़े है अपने ज्यों-के-त्यों
'निस्संग'
चट्टान जैसे असंपृक्त, अभंग
यह भी है एक ढंग
माना नहीं किसी को भी
गांधी को न मार्क्स को, न शंकर को, बुद्ध को,
न शान्ति को न युद्ध को, न शुद्ध या अशुद्ध को,
न युवा को, न वृद्ध को, न मूर्ख को, प्रबुद्ध को,
न दीन या समृद्ध को, न सौम्य को, न क्रुद्ध को
यही तो थे वे पुराने माध्यमिक, शून्यवादी मित्र
उनका ही यह नया बीसवीं सदी का एन्लार्ज्ड चित्र!
'निहंग' हिन्दी साहित्य के
इतने दिनों इतना सब लिख-लिख कर और मंच पर सुनाकर
क्या पाया, मित्रवर?
'बलचनमा', 'दुख मोचन', 'हीरक जयन्ती', 'इमरतिया'
'रतिनाथ की चाची'—इतना सब रचा,
समाज को डांटा और डपटा,
कलम के चाबुक और हंटर चलाये

---

3. वही, पृ० 189

क्या पाया—जमा बाकी, हिसाब में ?
'शून्य'—वादी
जनवादी, क्या भारतीय जनता ही शून्य है ?
या हमारी साहित्य व्यवस्था में न्यून है ?
मैं नहीं करूंगा तुम्हारी आलोचना
तुमने तो अमृत दिया, स्वयं फांकते रहे चना
नागार्जुन सच-सच बतलाओ
'बलचनमा' रोया था या तुम रोये थे ?
इस भीड़भाड़ में कहाँ तुम खोये थे ?
'सिंदूर तिलकित भाल' और 'बादल को घिरते देखा है' और
'बहुत दिनों के बाद' और
कितनी-कितनी कविताएँ आज याद आती हैं
इसीलिये पद्यरूप लिखी यह पाती है ।
औरों के 'बाबा' हो, लाल भाइयों के लिए
लाल भवानी पूजक, तांत्रिकों के लिए तांत्रिक
तुम सौतांत्रिक
हमारे लिए तो आप वही हो जो हमारे दो बरस के
बच्चे असंग के लिये घोड़ा-घोड़ा बनते थे
और वह पुकारता था तुतलाते शब्दों में—'नागाज्जुन'
पत्नी के लिये तुम 'आम' लाये धूप में
याद है, प्रयाग में,
मुझे अब भी याद है सारे पैसे बंगाली, मराठी, गुरुमुखी
अखबार ढेर सारे खरीदकर लाते थे
फिर जेब खाली की खाली ।
तुम प्यारे, सबसे पहले हो प्यारे आदमी
सारी राजनैतिक मान्यताएँ हैं बस 'इसी'
आज ही बम्बई से मदनलाल जैन ने
पोस्टकार्ड भेजा है, जिसमें लिखा है
"जिनके तबेले बीच कई दिन का जिक्र है
हरगिज न कुछ इराकी और अरबी का शुमार
अब देखता हूं मैं कि जमाने के फेर से
मोची से जूतियां वो गढ़ाते हैं क्यों उधार ?"
साहित्य की दौलत लुटाने वाले रहें भूखे
कहीं पर हम निश्चित ही चूके !

—:o:—

मेरे बाबूजी

—शोभाकान्त

'यात्री' नामक एक मैथिली रचनाकार मेरे बाबूजी श्री बैद्यनाथ मिश्र के भीतर बहुत बाद में पैदा होता है। वह तो अपने बाल्यकाल से ही यात्री रहे है। इनकी माता (उमा देवी) उस समय स्वर्गीय हुईं, जब बाबू छह वर्ष के रहे होंगे। इनके पिता (गोकुल मिश्र) अपने एकमात्र मातृहीन पुत्र को कंधे पर बैठाकर अपने सम्बन्धियों के यहाँ, इस गांव—उस गांव आया-जाया करते थे। मेरे बाबा यानी बाबू जी के पिता जी मस्त-बेफिक्र किस्म के जीव थे। घर में कोई था नहीं, कोई बंधन नहीं, अत: अधिक समय अपने रिश्तेदारों के यहां गुजारना उन्हें अच्छा लगता था। अकेले छह-सात वर्षीय पुत्र को तरौनी में किसके सहारे छोड़ते तो 'ठक्कन मिसर' (बाबूजी का बाल्यकाल का पुकारू नाम। गांव के हम उम्र अब भी उन्हे इसी नाम से पुकारते हैं।) को भी साथ लिए हुए घूमते। मेरे बाबूजी अपने बाल्यकाल में पिता की लाचारी के कारण घूमते और अब घूमना उनका पर्याय या अनिवार्यता है। घुमक्कड़ी का अणु जो बाल्यकाल में ही शरीर के अन्दर प्रवेश पा गया, वह रचना-धर्म की तरह ही विकसित और पुष्ट होता गया।

मुझे नहीं याद है कि बाबूजी तीन-चार मास लगातार किसी भी नगर में स्थिर होकर रहे हों। अब तो होता यह है कि किसी भी नगर में दस-पन्द्रह दिन गुजरे तो वहां से उचाट सा हो जाता है। दिमाग में घुमक्कड़ी के कीड़े तेजी से कुलबुलाने लगते हैं। पांव में खुजलाहट होने लगती है। फिर तो बाबूजी बिस्तर पर का बिखरा अपना सामान थैला और डोलची में सहेजने लगते हैं और किसी भी नगर का टिकट मंगवा लेते हैं। यात्रा के लिए कतई आवश्यक नही कि कोई पूर्व नियोजित कार्यक्रम हो ही। किसी भी परिचित के यहाँ कभी भी जाया-आया जा सकता है। इस विशाल देश में बाबूजी को चाहने वालों की संख्या का अनुमान मैं नहीं लगा पा रहा हूं।

आज से लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व एक बार बाबूजी ने कहा था—"सम्पूर्ण परिवार के साथ ढाई-तीन वर्ष भी कहीं अपने को जमा लूं तो सब कुछ व्यवस्थित हो जाएगा" "पर यहाँ तो श्रीमान् यात्रीजी के चूतड़ में कबाच्छ लगी है!" तब से, मैंने स्वयं भी बहुत कोशिश की, अपने और उनके अनेक मित्रों से कहलवाया। कई तरह के स्वास्थ्यप्रद और उपयोगी तर्क रखे पर कोई अन्तर

नहीं पड़ा। हर एक की बात सुनने पर बहुत हल्के से मुस्कराते रहे और मन ही मन अगली यात्रा के रूट तय करते रहे। उनकी यात्रा पूर्ववत् जारी रही। 1979 में मैं उनके साथ यहाँ-वहाँ जाने लगा क्योकि कई अति घनिष्ठ परिचितो ने कहा कि ज्यादा उम्र मे बाबूजी का अकेले यात्रा करना कष्टप्रद होता है। लगभग सात-आठ महीने तक साथ रहने के बाद 'एकला चलो रे' में बाधक लगने लगा मैं।

कभी-कभी सोचता हूँ कि बाबूजी की घुमक्कडी ने और भले कुछ किया हो या नहीं पर हम सब भाइयो को सही ढंग से जीने की राह को अवश्य ही अवरुद्ध किया है। यदि किसी को शुरू से ही अपना 'हेड क्वार्टर' बनाकर बाबूजी रखते और समूचा परिवार वहां व्यवस्थित रहता तो निश्चित ही हम छह भाई-बहनो को युगीन-शिक्षा मिली होती, ढंग से जीने की ट्रेनिंग मिलती। आज के इस युग मे हमें इस बात के लिए मलाल नही होता कि हमारी दोनो बहनो मे से किसी ने भी मिडिल तक की पढ़ाई पूरी नहीं की या हम चार भाइयो ने पूरी विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त नही की।

इस पारिवारिक बनजारापन या अस्थिरता के लिए मैं बाबूजी से कम दोषी मां को नही मानता। मेरी मां ने कभी भी बाबूजी के घुमन्तू जीवन में दखल नहीं दिया। यदि मा चाहती तो किसी नगर में रहकर हम लोगों को नागरीय जीवन के अनुरूप बना सकती थी। तब सभवत: बाबूजी भी वहां स्थिर रहते। उनके स्थिर रहने से 'गद्य-लेखन' या 'खण्ड काव्य रचना' अधिक होती। यह दोनों ही विधाएँ बाबूजी के लेखन की लाभदायक स्रोत हैं परिवार के लिए। मा ने कभी साथ रहने की अपनी इच्छा जाहिर नहीं की और बाबूजी ने कभी उन्हे बाध्य नहीं किया कि वे गांव छोड़कर किसी नगर में रहे। बाबूजी सात-आठ वर्षों के सधुक्कड़ी जीवन से 'सद् गृहस्थ' हुए थे। यह सोचकर रह गए होंगे कि इस 'बेचारी' को बहुत सताया है, अब जहाँ प्रसन्नता से रहे वहीं रहे। उस समय दोनों में से किसी को भी इसका अन्दाज ही नही रहा होगा कि यह अस्थिरता या पारिवारिक बनजारापन आगे कितना भयावह और अव्यावहारिक हो जाएगा परिवार के लिए।

बाबूजी को तो अपनी किशोरावस्था में अपने पिता के रंग-ढंग देखकर यह अन्दाज हो गया था कि अपने गांव तरौनी में महादरिद्र की स्थिति हमेशा बनी रहेगी क्योंकि पिता को जमीन बेचने का चस्का लग गया था। जमीन बेचकर कई प्रकार की गलत-सलत आदतें पाल रखी थीं। जीवन के अन्तिम समय में गोकुल मिश्र अपने उत्तराधिकारी के लिए मात्र तीन कट्टा उपजाऊ भूमि और प्राय: उतनी ही वास-भूमि छोड़ गये, वह भी सूद-भरना लगाकर। बाबूजी और मा ने उसे बाद में छुड़ाया। मां को इस भूमि-सम्पत्ति का बड़ा ही मोह है। उसे सतत यह भय रहता है कि इसको गोतिया लोग कहीं हड़प न लें। वह शुरू में ही भांप चुकी थी कि गोतियों की नजर इस पर लगी है। यह भूमि-सम्पत्ति मां की बड़ी निधि [illegible]

के कारण ही अब तक सुरक्षित है। इस भूमि-सम्पत्ति मे इंच भर की भी बढ़ोत्तरी बाबू जी ने नही की है। तरौनी में 'नागार्जुन-परिवार' के पास अभी भी मात्र तीन कट्ठा खेत और उतनी ही वास भूमि है।

बाबूजी अपने पिता की छह सन्तानों में एक ही शेष बचे रहे। गोकुल मिश्र और उमा देवी को लगातार चार सन्तानें हुई और असमय ही वे सब चल बसीं। सन्तान न जीने के कारण गोकुल मिश्र अति निराशपूर्ण जीवन मे रह रहे थे। निराशा के क्षणों में ईश्वर में आम लोगों की धारणा पनपती है और अशिक्षित ब्राह्मण गोकुल मिश्र तो ईश्वर के प्रति आस्थावान थे ही। इन दिनों अपने आराध्य देव शंकर भगवान की पूजा ज्यादा ही करने लगे। बैद्यनाथ धाम (देवघर) जाकर बाबा बैद्यनाथ की यथाशक्ति उपासना की। वहाँ से लौटने के बाद घर मे पूजा-पाठ में भी समय लगाने लगे। फिर जो पांचवी सन्तान हुई तो मन मे यह आशंका भी पनपी कि चार सन्तानों की तरह यह भी कुछ समय में ठग कर चल बसेगा। अत: इसे 'ठक्कन' कहा जाने लगा। काफी दिनों के बाद इस ठक्कन का नामकरण हुआ और बाबा बैद्यनाथ की कृपा प्रसाद मानकर इस बालक का नाम बैद्यनाथ मिश्र रखा गया। बैद्यनाथ के बाद एक पुत्र घर में और पैदा हुआ पर इस पुत्र को जन्मदात्री पाल नही सकी और उसे छोड़कर खुद ही चल बसी। फिर यह छठा बालक भी चल बसा। गोकुल मिश्र के एक मात्र पुत्र 'ठक्कन मिसर' ही बचे रहे। यही ठक्कन मिसर उर्फ बैद्यनाथ मिश्र आगे यात्री-नागार्जुन नामक रचनाकार होते है और हम छह भाई-बहनों के बाबूजी।

'लघु सिद्धान्त कौमुदी' और 'अमर कोश' के सहारे शिक्षा आरम्भ करने वाले बाबू जी ने पंडिताऊ ढंग से किशोरावस्था में प्रवेश किया। पढ़ने की प्रबल लालसा, पर घर की परिस्थिति बिलकुल दूसरी थी। उस जमाने मे मिथिलांचल के धनी अपने यहाँ निर्धन मेधावी छात्रों को प्रश्रय दिया करते थे। इस उम्र मे बालक बैद्यनाथ ने मिथिलांचल के कई गांवों को देख लिया। बाद में विधिवत् संस्कृत की पढ़ाई बनारस जाकर शुरू की। समस्या पूर्ति शैली में छन्दों का ताना-बाना बुनने लगे थे काफी पूर्व अपने ग्रामीण पंडित अनिरुद्ध मिश्र की कृपा से। मिश्र जी ने पता नहीं कैसे यह समझ लिया था कि यह 'टूगर बालक' कभी रचनाकार होगा।

बनारस में संस्कृत के अध्ययन के साथ ही शब्दों और छन्दों से ज्यादा मित्रता हो गयी। संस्कृत के साथ मैथिली में भी रचना रचने लगे। अखबार का चस्का भी लग गया था। देश-विदेश में हो रहे सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के सम्बन्ध में जानकारी की लालसा बढ़ने लगी। पडिताऊपन में परिवर्तन आने लगा। सनातन ब्राह्मण पंथी पर आर्य समाज का प्रभाव पड़ने लगा। आर्य समाजी संस्कार की तरफ अग्रसर होते हुए बौद्ध-दर्शन की ओर झुके। फिर तो विश्व-दर्शन और पर्यटन की लालसा से बनारस की पढ़ाई छोड़ यात्री अपनी लम्बी यात्रा पर निकल पड़े।

उन दिनों राजनीति में सुभाष उनके प्रिय थे। बौद्ध के रूप में राहुल को अग्रज माना।

बनारस से निकलकर कलकत्ता और फिर दक्षिण भारत घूमते हुए लंका के विख्यात 'विद्यालंकार-परिवेण' में आकर बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। राहुल और नागार्जुन 'गुरु भाई' हैं। लंका की उस विख्यात बौद्ध-शिक्षण संस्था में रहते हुए मात्र बौद्ध-दर्शन का अध्ययन ही नहीं हुआ, बल्कि विश्व राजनीति की ओर रुचि जगी और भारत में चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन को ओर सजग नजर से देखते रहे। यहाँ के कुछ लोगो से पत्राचार लगातार चलता रहा। कुछ ऐसे भी मित्र थे जो उन्हें अपनी भूमि पर लौट आने की सलाह पत्रो में दिया करते थे।

अचानक1938 के मध्य में बाबूजी लंका से वापस लौट आये। उस समय यदि वे चाहते तो निश्चित रूप से विश्व के किसी शिक्षण संस्थान में प्रवेश पाकर अध्ययन-अध्यापन में लग सकते थे। बौद्ध हो ही गए थे। संस्कृत, हिन्दी, पालि, सिंहली आदि भाषाओं मे महारत हो ही गई थी। काम चलाऊ अंग्रेजी की जानकारी प्राप्त कर ली थी। विश्व विख्यात 'विद्यालंकार-परिवेण' से संबद्ध थे ही। पिता से सम्बन्ध टूट ही चुका था। विवाहिता को छोड़ रखा था। बाल-बच्चे हुए ही नहीं थे तब तक। परिवार में ऐसा कोई था नहीं जिससे मोह रखते। कोई भी दायित्व नही था। फिर कौन सा कारण रहा होगा कि बाबूजी लंका से सीधे बिहार वापस आ गये। वह भी घर नहीं। मुझे स्पष्ट लगता है कि बनारस से लेकर 'विद्यालंकार-परिवेण' तक की यात्रा उनके लिये जीवन-दिशा तय करने का काल रहा होगा। अध्ययन-अनुभव और पर्यटन के सहारे उन्होंने तय किया होगा कि जन-सामान्य से अलग हट कर व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। जन-सामान्य के सुख-दुःख में ही व्यक्तित्व का निर्माण संभव है। उससे अलग हट कर जीवन का विकास असंभव है। समाज के विकास पर संस्कृति और व्यक्ति का विकास निर्भर रहता है। सजग मनुष्य राजनीति और समाज नीति के परिवर्तन में किसी न किसी रूप से अवश्य ही हिस्सा लेगा। 'विभूति' (मैथिली मासिक) के 1937 के दिसम्बर अंक में 'जन्म भूमि' शीर्षक बाबू जी की एक कविता है। उसकी चार पंक्तियां यहाँ मैं उद्धृत कर रहा हूं।

'जीवनक उद्देश्य की, पथ कोन,
[illegible] निश्चित, कुल मेल विलम्ब !
[illegible] कल्याणमय, तें हेतु—
[illegible] !'

स्पष्ट है कि जीवन-उद्देश्य मिल गया। देर थोड़ी अवश्य हुई। एक स्पष्ट दिशा-निर्धारण कर लिया गया। जो लक्ष्य चुना गया, वही कल्याणकारी है तो

लौटकर सीधे बिहार में चल रहे किसान आन्दोलन में शामिल हो गए। पहली गिरफ्तारी अमवारी (छपरा) के किसान-सत्याग्रह के सिलसिले में हुई। इस सत्याग्रह में जिन चार लोगों को छह-छह माह की सजा मिली, राहुल और नागार्जुन भी उनमें थे। फिर चम्पारण के किसान आंदोलन में भाग लिया। 'जमनिया के बाबा' में जो संन्यासी मठ की भीतरी कारतूतों का भण्डाफोड करता है, वह सन्यासी क्या बाबूजी स्वयं नहीं हैं ?

"प्रतिष्ठा तथा सम्मान के पीछे वह कभी नही दौड़ा। बड़े से बड़े संकटों की परवाह नहीं की। केवल स्वप्नस्थ रहकर ही अनागत की अगवानी करना उसे असह्य रहा। रतजगा करके उसने अपने सपनों को रूप दिया और आकार प्रदान किया, फिर उनमें प्राण-प्रतिष्ठा की। बहुधा ऐसा अवसर भी आया है जबकि अपना प्रिय औजार रखकर वह उठा और स्वाधीनता-कामी सैनिकों की अगली क़तार में वह खड़ा हुआ। एकाधिक बार उसका शरीर क्षत-विक्षत हुआ।" —ये पंक्तियां बाबूजी की प्रशस्ति में कहीं से नही ली गयी है बल्कि 'राहुल जी—उनका साहित्य और व्यक्तित्व' शीर्षक बाबूजी के निबन्ध से है, जो 'हंस' की दिसम्बर 1947 की फाइल मे है। इन पंक्तियो को पढ़कर राहुल के साथ ही बाबूजी का सम्पूर्ण जीवन आंखों के सामने आ जाता है। 1947 में बाबूजी ने राहुल पर लिखते हुए यह नही सोचा होगा कि आगे ये पंक्तियां उन पर कितनी सटीक बैठेंगी। एक संघर्षरत जीवन ही संघर्ष-शील जीवन को समझ पाता है। वर्ण्य पात्र के आंतरिक तादात्म्य के बिना सही सृजन शायद नहीं हो पाता है।

जीवन में बाबू जी ने मात्र कलम या रचना को ही हथियार नहीं बनाया। खुद जन-संघर्षों में हिस्सा लिया है। "सत्ता प्रतिष्ठान की दुर्नीतियों के विरोध में एक जनयुद्ध चल रहा है, जिसमें मेरी हिस्सेदारी सिर्फ वाणी की ही नहीं, कर्म की ही, इसीलिए मैं आज अनशन पर हूं, कल जेल भी जा सकता हूं।"—यह वाक्य 1974 के अप्रैल में जे० पी० आन्दोलन मे शामिल होने के दिन प्रतीक अनशन के तुरन्त बाद का है। इस आन्दोलन में खुलकर जिन रचनाकारों ने भाग लिया था, बाबू जी उनमें प्रमुख थे। इस आन्दोलन के सिलसिले में आपात स्थिति से पूर्व ही उनको गिरफ्तार कर लिया गया था और काफी समय तक जेल जीवन बिताना पड़ा था।

किसानों-मजदूरों पर अत्याचार, नागरिकों-छात्रों पर प्रहार, देश-विदेश की कोई घटना, जिससे शांति-प्रगति के लिए संघर्षरत मानव-समाज आहत हो, बाबूजी की मानसिक बेचैनी और उद्विग्नता बढ़ा जाती है। जब तक उस घटना पर अपना आक्रोश व्यक्त नहीं करते, तब तक उनमें छटपटाहट बनी रहती है। यदि राजनीतिक पुरुष किसी भी छोटी-बड़ी घटना पर अपना मत प्रकट कर सकता है तो रचनाकार अपनी रचना के द्वारा अपना विचार क्यों नही रख सकता है ? बाबूजी के काव्य-

संसार का अधिकांश भाग शांति-कामी समाज पर हो रहे अत्याचार के खिलाफ आक्रोश का है। इसे मात्र व्यंग्य कहने से काम नही चलेगा।

मैं जन्मजात रोगी रहा हूँ। जब से होश हुआ है, अपने को बीमार और अपंग ही पाया है। बहुत समय पूर्व, शायद हाई-स्कूल का छात्र था मैं। फल टॉनिक के प्रति झुकाव था। उन्ही दिनों बाबूजी ने मुझसे एक बार कहा था—"कभी भी अपनी तुलना ऊपरी वर्ग से मत करो···नीचे देखो तब समझ मे आएगा कि जीवन क्या है। तुमसे ऊपर वालों की संख्या सीमित है और नीचे वालों की गिनती नही कर पाओगे···ऊपर देखने से असंतोष बढेगा···नीचे देखने से जीने के लिए राह खोजने मे मदद मिलेगी···तुम्हे तो किसी तरह दोनों समय रूखा-सूखा खाना मिलता है, अपने आस-पास देखो कितने ऐसे लोग हैं जिन्हे दो-दो दिनो तक अन्न देखने तक को नही मिलता है। उनकी क्या दशा रहती है, वे कैसे जीते है···" और सच मानिए, इन वाक्यों के सहारे अब भी मैं जी रहा हू। अब भी यह वाक्य-समूह कानों मे गूंजता रहता है। मेरे लिये ये वाक्य जीवन-औषधि है। लगता है कि कानों को यह मन्त्र-वाक्य न मिलता तो मेरे जैसे अपंग के लिए शायद जीना मुश्किल था।

दुबला-पतला शरीर···कोटरो में धंसी-धंसी सी आखें·· सूखी लकड़ी जैसे हाथ-पैर···अत्यन्त साधारण वेश-भूषा··बाबूजी का रहन-सहन इतना सरल और सादा है कि कभी भी यह नहीं लगता कि एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का सान्निध्य हो। अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा का ध्यान उन्होंने शायद ही कभी रखा हो। किसी वस्तु-विशेष के प्रति ललक या लालसा रही हो, ऐसा कहाँ याद आता है? साहित्यकार को छपास या अपना सम्मान करवाने में सुख मिलता है—ऐसा सुनता आया हूं। पर बाबूजी रचनाएं छपवाने के मामले में कभी तनिक भी उत्सुक नहीं रहे। कहीं भी कोई इन पर गोष्ठी या कुछ करना-करवाना चाहता है तो पहले खुद ही इसका विरोध करते हैं।

दाढ़ी-बाल के मामले में लापरवाह। कपड़ो के बारे में बेफिक्र। जो जैसा है, ठीक है। अब तो खैर दाढ़ी रखने लगे हैं, लेकिन मुझे नहीं याद है कि नियमित हजामत कभी करवाई हो। बाल छोटे रहे हों या बड़े, बेतरतीब ही रहे हैं। मुझे उनके पास कभी आइना कंघी नहीं मिला है। पता नहीं, कभी उन्होंने आइने के सामने सिर में कंघा लगाया है या नहीं! मैंने तो नहीं देखा है। कभी लुंगी-कुर्त्ता पहने ही सारे नगर में घूमते नजर आएंगे तो कभी धुला-धुलाया पाजामा-कुर्त्ता, मोजा-जूता सब कुछ रहेगा सही और दुरुस्त हालत में। अब तो गले में लिपटा एक पतला अंगोछा भी रहता है। इस अंगोछे के कई फायदे हैं उनके लिए। गर्मी में धूप से बचने के लिए सिर पर रख लिया, जाड़े में सिर से लेकर गले तक में लपेटे रखा, हाथ-मुंह पोंछ लिया, कहीं भी बिछाकर बैठ गये—ये सब अंगोछे

के गुण हैं उनके लिए। खादी ही पहनावा है। जाड़े में कोट-पैंट भी चलता है। पैंट नहीं तो कम मोहरी वाला अलीगढ़ी पाजामा। जाड़ो में दो-दो पाजामे, दो-तीन कुर्त्ते, एक-दो स्वेटर, कोट मफलर, कनटोप—पूरे आठ-दस किलो वजन रहता होगा शरीर पर। खादी पहनने के कारण आयरन की जरूरत नहीं पडती है। कपड़ा साफ होना चाहिये। कहते हैं—"फटा कपड़ा पहनने से कुछ बनता बिगड़ता नही है, गन्दा मत पहनो।"

दुबले-पतले शरीर को दमा ने और ही तोड़ दिया है। दमा से इनका परिचय काफी पुराना है। यों अनियमितता के कारण या अत्यधिक घूमने से जगह-जगह के पानी-हवा के कारण सर्दी जुकाम रहा हो, पर दमा का पहला हमला 1948 में हुआ। उस समय इसको दूर करने के लिए भले ही विधिवत् चिकित्सा करवाई हो, पर दमा तो दम के साथ ही शरीर से अलग होता है। अर्थात् यह जीवन-साथी ही हो जाता है। दमा और बाबूजी मे एक दोस्ताना रिश्ता है। दमा इनको इतना ही सतायेगा, जितना झेल लें आसानी से। बाबूजी ने भी मेरी याददाश्त में दमा को दूर करने के लिए वैसा कुछ नहीं किया कि लम्बे समय तक वह दूर हो। दो-ढाई मास पर दमा अवश्य ही पास आकर दो-चार दिन एक प्रिय मित्र की तरह हर क्षण साथ रहेगा और स्वय ही चला जायगा। यों दमा बाबूजी के पास वह अस्त्र है, जिसका प्रयोग करके किसी भी जरूरी कार्य-क्रम को आगे खिसका लेंगे या ड्रॉप कर देंगे। सुनने में आता है कि दमा वंशगत रोग है। सम्भवतः इनकी मां को था। कुछ अंशों में घर में सभी को है।

दमा का इलाज कभी जमकर कराया नहीं। डाक्टरो द्वारा जांच की लम्बी प्रक्रिया और नीले-पीले मिक्सचर तथा केप्सूल्स से चिढ़ है। डाक्टरी यानी ऐलोपैथिक चिकित्सा से विरक्ति का कारण सम्भवतः मेरी लम्बी बीमारी और डाक्टरों द्वारा मुझे विकलांग बना देना ही हो। दम ज्यादा फूलने पर 'आजमापेक्स' की टिकिया लेंगे, वह भी बहुत ज्यादा कहने सुनने पर। उबला पानी और अमरूद दमा में इनके लिए लाभप्रद होता है। यों बाबू जी ने आहार के सहारे ही दमा को शान्त रखा है। जब भी दमा का आक्रमण शुरू होता है, रात का भोजन छोड़ देते हैं। शाम मे अंधेरा होने से पूर्व ही उबली हुई सब्जी लेंगे। परवल, लौकी, भिंडी, तरोई, पालक आदि प्रिय सब्जी हैं।

बाबूजी कहा करते हैं—"बुढ़ापे में स्वास्थ्य ज्यादा अच्छा नहीं होना चाहिए। यदि अधिक उम्र में स्वास्थ्य अच्छा रहेगा तो व्यक्ति परिवार और समाज को परेशान करेगा।" पूर्ण स्वस्थ रहना भी नहीं चाहते। दमा ठीक हुआ या थोड़ा कम हुआ तो पुनः वही सब करेंगे जो इसके लिये ठीक नही है। थोड़ा अस्वस्थ रहने में अब बाबूजी को बड़ा ही सुख मिलता है और एकमात्र मित्र रोग दमा है जिसे आसानी से ये बुलाया करते हैं। दमा मित्र की तरह आएगा और उस मैत्री का

निर्वाह बाबूजी भी करेंगे। यह मैत्री आज की तो है नहीं। दोनों एक दूसरे को पहचानते हैं। एक दूसरे को स्नेह से दुलराते हैं।

अति साधारण वेशभूषा, मानों किसी कंजूस सेठ के यहाँ आजीवन मुनीम-गिरी की हो और अब वहाँ से बाध्यतापूर्वक हटना पड़ा हो। बड़े-बड़े बेतरतीब बाल और दाढ़ी। जैसा तैसा पहनावा और कन्धे से लटकता थैला। भीड़ में भी वह व्यक्ति अपनी अलग पहचान बना लेता है, अपनी वेश-भूषा के कारण। इसी वेश-भूषा और मात्र कंधे से लटकते थैले को लेकर स्थानीय नगर-दर्शन से लेकर विश्व-भ्रमण तक कर सकते हैं। इस थैले मे इतना सब कुछ रहता है कि कहीं से कहीं का भी प्रोग्राम बनाया जा सकता है। इस थैले मे आखिर क्या-क्या रहता है? एक टार्च, एक पाकेट ट्रांजिस्टर, एक अंगोछा, एक पाजामा, दो-एक डायरीनुमा कापी, दस-पाँच पत्र-पत्रिकायें, कुछ एक पत्र जिनका पत्रोत्तर जाना है, पाँच-सात आजमा-सेक्स की गोली, 'इनो' की शीशी...बस इससे ज्यादा किसी यात्री को और क्या चाहिये? कहीं भी हों यह थैला उनके कंधे से निश्चित रूप से लटकता मिलेगा। चाहे काफी हाउस हो, चाहे किसी मित्र की बैठक, चाहे बड़े कवि सम्मेलन का मंच, चाहे युवकों की गोष्ठी का नगर भ्रमण।

अखिल भारतीय व्यक्तित्व होने के बावजूद बाबूजी 'टिपिकल मैथिल' हैं। शत-प्रतिशत शुद्ध मैथिली ब्राह्मण होना तो मुश्किल है उनके लिए। पर अध्ययन और खान-पान के मामले तो शुद्ध 'टिपिकल मैथिल' हैं। मैथिल पंडितों की अध्ययन-शीलता अपनी खास चीज है। इस उम्र में भी बाबूजी जितना कुछ पढ़ते हैं, बहुत ही कम लोग उतना पढ़ते हैं। संस्कृत साहित्य के क्लासिकल ग्रन्थों का अध्ययन उनकी नियमित दिनचर्या में है। साथ युगीन साहित्य अधुनातन ग्रन्थों का पारायण भी उसी रुचि से करते हैं। जो लोग मंत्र कविता इनसे सुन चुके हैं, वे इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं। 'भस्मांकुर', 'बादल को घिरते देखा है', 'कालिदास सच-सच बतलाना' आदि को पढ़कर ही इस तथ्य को जाना जा सकता है कि संस्कृत पर इस व्यक्ति का कैसा अधिकार है।

यों खान-पान के मामले में अपने को संयमित रखा है। मिर्च-मसाले से परहेज है। बिल्कुल सादा भोजन पसन्द करते हैं। लेकिन भोजन को लेकर फिर 'मैथिलत्व' हावी हो जाता है। अजवाइन से बघारी हुई 'पटुआ साग' का झोल यदि मिल जाय तो दो-तीन कटोरा पी लेंगे। दम फूल रहा हो, पर चावल और मछली बनी हो तो लोभ संवरण नहीं कर पाते। आम के बेहद चहेता। पन्द्रह-बीस रुपये किलो तक भी आम खोजकर खरीदेंगे। अचार और चटनी के प्रेमी। शुद्ध मैथिल भोजन दही चूड़ा, बड़ी भात, ओल की सब्जी, तिलकोड़ के पत्ते का

पकौड़ा, अड़िकंचन की सब्जी, भादा-अदौड़ी आदि को दिन में एकाधिक बार अवश्य याद करते हैं।

पटना आने पर मैथिली भाषा-भाषी चाहते हैं कि यात्री जी मैथिली रचनाएँ सुनाएँ। यदि इसके लिए किसी भी तरह का कोई आयोजन किया जाता है तो यात्री जी कहा करते हैं—"पहले मैथिलत्व भीतर प्रवेश हो तब न कुछ कलम से निकले।" यानी पटुआ साग, मछली, तिलकौड़ आदि किसी परिवार में सुबह-शाम खाएँ, तब जाकर मैथिली रचनाएँ लिखने और सुनाने के मूड में यात्री जी होंगे।

खाने-पीने के मामले में वहम के भी शिकार हुआ करते हैं। सब्जी या दाल में मिर्च का टुकड़ा दिख जाए तो गला जलने लगता है। यदि साथ खाने वाले ने कह दिया कि बघार में तेल कच्चा है तो आपको सारा खाना बेस्वाद लगने लगेगा। खाते समय हरी मिर्च की मांग अवश्य ही करेंगे, भले ही उसे एक बार भी जीभ तक न ले जाएँ। चटनी और हरी मिर्च को 'अन्न-ठुकेलन' कहते हैं। उम्र बढ़ने के साथ-साथ ही अन्न की कम मात्रा लेते हैं। मौसमी फल भी आहार की तरह प्रयोग करते हैं। खीरा, ककडी, असरूद, आम, सेब काफी प्रिय फल हैं।

इधर पांच-सात वर्षों से 'इनो' की आदत लगी है। दिन भर में दो-एक बार ग्लास भर पानी में एक चम्मच 'इनो' अवश्य लेंगे। नशे के नाम पर आदत कुछ भी नहीं है। सामने पान जर्दा आ जाए तो वह भी ले लेते हैं। मली हुई तम्बाकू-चूना भी होठों के नीचे दबा लेंगे। 'नस' भी नाक में सुडक लेंगे। पर आदत कुछ भी नहीं। हां, यदि आप पान जर्दा के या तम्बाकू या नस के आदी हैं तो आपको सामने पाकर अवश्य ही उस वस्तु की इच्छा जाहिर कर देंगे। चाय न मिले तब भी ठीक है। दिन भर में चार-छह कप सामने आ जाए तो उसे भी गले के नीचे डाल लेंगे। नींबू वाली चाय ज्यादा पसन्द है। शराब से परहेज रखते हैं। परन्तु यदि जमात में दौर चल रहा हो तो दो-तीन चम्मच शराब में गिलास दो ग्लास पानी मिलाकर तब तक चुस्की लेते रहेंगे जब तक जमात जमी रहेगी। सौंफ-लौंग हमेशा साथ रखते हैं। भोजन नाश्ता-चाय के बाद अपनी जेब से प्लास्टिक की एक छोटी डिबिया निकालेंगे और अपनी दाहिनी हथेली पर लौंग या सौंफ आपके सामने करेंगे। इस प्रसंग में एक घटना। पिछले वर्ष कश्मीर जा रहे थे। साथ में श्याम कौल अपने माता-पिता के साथ चल रही थीं। रास्ते में चाय आदि के लिए बस रुकी। बाबूजी की अजीबो-गरीब वेश-भूषा और व्यक्तित्व से आकर्षित होकर बस ड्राइवर ने कौल परिवार से इनके सम्बन्ध में जानकारी ली। इन लोगों ने बाबा के विलक्षण व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे काफी कुछ कहा। ड्राइवर प्रभावित हो ही गया। चाय आदि के बाद बाबूजी ने लौंग निकालकर हथेली सबके सामने फैला दी। बस ड्राइवर ने इस विलक्षण 'बाबा' के प्रसाद की आठ-दस लौंग उठाकर एक साथ ही चबा ली। फिर तो उसके गले मे जो जलन हुई, वह कल्पना करने योग्य ही है।

इस घटना से बाबूजी कई दिनों तक अपने 'बाबापन' से स्वयं ही क्षुब्ध थे। सिगरेट अब नहीं छूते। पहले कभी-कभी ले लिया करते थे। धुआं से दम फूलने का डर रहता है पर घर में किसी पर 'धूम्रपान निषेध' लागू नहीं है। मैट्रिक के बाद कालेज में जब मैंने प्रवेश लिया था तो बाबूजी ने स्वयं ही सिगरेट जलाना सिखाया था मुझे। कहा था—"सत्संग में पीना पड़ सकता है !" खान-पान के मामले में किसी भी तरह का हस्तक्षेप नहीं करते।

इधर वर्षों से सोते समय कान से सटाकर रेडियो सुनने की आदत लगी है। कोई भी स्टेशन काफी धीमी आवाज में बजता रहेगा और बाबूजी नींद में होंगे। जिस कमरे में बाबूजी सो रहे हों, यदि उस कमरे में रात गुजारने का मौका मिले तो रात के अंधेरे में रेडियो की आवाज या मीटर बदलने की कुरकुराहट अवश्य ही सुनाई देगी। करवट बदलने या नींद की झोंक कम होने पर उंगलियां रेडियो का मीटर बदलने वाली स्विच से खेलने लगती हैं। किसी भी स्टेशन का, किसी भी भाषा या किसी भी तरह का प्रोग्राम क्यों न हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अधिक उम्र होने पर दिमाग भी शरीर की तरह शीघ्र ही थकने लगता है तो व्यक्ति चुपचाप चिन्तन में लीन होने लगता है। इस तरह चिन्तन में लीन होना उसे आराम ही पहुंचाता है। उस स्थिति में संगीत या किसी भी तरह की सुनियोजित ध्वनि की धीमी स्वर लहरी काफी राहत देती है।

उम्र बढ़ने के कारण रात में करीब दस-साढ़े दस बजे तक बिस्तर पर अवश्य ही चले जाते हैं। नींद न आए तब भी आंखें बन्द कर लेटे रहेंगे। रात के करीब दो-तीन बजे के बीच नींद खुलती है। उस समय से लेकर सुबह के पांच-छह बजे तक के समय का उपयोग कविता लिखने में ही करते हैं। इधर वर्षों से कविता- लिखने का समय यही रहा है उनके लिए। उनकी अधिकांश कविताओं का प्रथम श्रोता हूं मैं और वह भी सबेरे-सबेरे सोकर उठते ही। जब भी साथ रहना होता है तो सबेरे सोकर उठते ही एक या दो या आधी ही कविता सुनने को मिले—यह 'शुभ प्रभात' के लिए प्रेरक नहीं तो और क्या होगा, कम से कम मेरे लिए। रात में कम सोने के कारण दिन के एक और चार के बीच निश्चित रूप से विश्राम करते हैं। कैसा भी समय हो या कितना भी महत्वपूर्ण काम हो, इस विश्राम में विघ्न नहीं पड़ता है। यों यदि रात में ज्यादा जग गये तो सबेरे नाश्ता आदि के बाद नौ-दस के बीच भी एकाध झपकी ले लेंगे।

मां के साथ-साथ परिवार के अन्य सदस्य भी बाबूजी की घुमक्कड़ी और फक्कड़पनी से खुश नहीं रहते हैं। हम सभी भाई-बहन तो इसी माहौल में जन्मे और पलकर बड़े हुए हैं। अपने यहां मध्यवर्ग की क्या स्थिति है, उससे सभी भली-

भांति परिचित हैं। पढ़ा-लिखा निम्न मध्यवर्गीय परिवार यदि स्वाभिमानी हुआ तो कल्पनीय ही है उसकी स्थिति ! एक करैला, दूजा नीम चढ़ा !

"मैं दरिद्र हूं
पुश्त-पुश्त की यह दरिद्रता
कटहल के छिलके-जैसी जीभ से
मेरा लहू चाटती आई।"

—(जयति जयति सर्वमंगला, 'हंस' 52)

एक खाते-पीते सुखी सम्पन्न खेतीहर गृहस्थ परिवार से आई हुई मेरी मां को किसी भी प्रकार की सुविधा प्राप्त नही हुई इस परिवार मे। यहाँ तो हमेशा 'लूट लाओ कूट खाओ' वाली स्थिति बनी रहती है। बचपन के उन दिनो को याद करके अब भी मैं सिहर उठता हूं। घर मे अन्न का दाना नही, पैसा नहीं। गांव घर में कौन कितना उधार पैंच देता ! माँ सभी तरफ निराश होकर कोंहरा या साग उबाल कर खिलाकर स्नेह से सुलाती थी और अपनी बेबसी पर रो-रो पड़ती ! छह-छह मास तक गांव में बाबूजी पैसा नही भेज पाते थे। मां ने ऋण-कर्ज करके आधा पेट खिलाकर हम लोगों को पाला है। कर्ज-पैंच से मां जीवन भर उलझी रही हैं। हम भाई-बहनों के पालन-पोषण के अलावा गोतियों से वासभूमि की रक्षा मां के लिए चुनौती रही। मां ने साहसपूर्ण ढंग से दोनों उत्तरदायित्वों को उठाया। इसमें सफल रही। अपना भर मां ने कभी भी हम लोगों को यह नहीं झेलने दिया कि गरीबी क्या है ! जब तक उसके पास पैसे रहते, घर में दाना रहता, हमें किसी भी वस्तु के लिए कहना नहीं पडता। मां खुद भी खाने-खिलाने में शौकीन हैं।

मां अपनी आर्थिक परेशानियों से ऊबकर हमेशा बाबूजी से झगडने के मूड में होती हैं। अन्नकष्ट, वस्त्रकष्ट, आवासकष्ट—सभी कुछ झेला है मां के साथ हम सबने ! मां को इस बात के लिए हमेशा नाराजगी रहती है कि बेटियों की शादी, पुत्रों के जनेऊ-विवाह में जितना कुछ होना चाहिए उसका दशांश भी नहीं हो पाया। गांव में एक मकान तक नहीं बन पाया, यहाँ तक कि जो खपरैल घर हैं, उसकी समय पर मरम्मत नहीं हो पाती। पड़ोसियों से लड़कर गांव की जमीन का सीमा-सरहद कायम नहीं हो पाया। समय पर रिश्तेदारियों में आना-जाना नहीं हो पाता है, अर्थकष्ट के कारण। जाने कितनी शिकायतें है बाबूजी से मां को।

ऋण-पैंच ज्यादा करने से खर्च बेढगा और ज्यादा पड़ता है। नगद रकम संचयन की प्रवृत्ति न बाबूजी में है और न मां में। दोनों खुले हाथ से खर्च करने में माहिर हैं। इसकी आदत प्राय: खर्च में सबको लगी है। हम भाइयों में एकाध को छोड़कर बाकी सभी पैसे के दुश्मन ही हैं। बाबू का खर्च तो जग-जाहिर है। जून 1982 से जून 1983 के मध्य उन्हें दस हजार और पन्द्रह हजार के दो पुरस्कार मिले। खुद मैंने तथा कई अन्य निकटतम लोगों ने राय दी कि इस रकम को रख छोड़ें। मेरी

पत्नी ने कहा कि गांव में एक घर बनवा लें ताकि मां का गुस्सा कुछ कम हो। पर कुछ नहीं हुआ। हम भाइयों को हजार-हजार, पन्द्रह-पन्द्रह सौ दिया और पांच-छह माह में पैसा खत्म और फिर प्रकाशक की टकटकी ! यों दिल्ली का आवासीय खर्च भी काफी कुछ वहन करना पड़ता है बाबूजी को। कहने को तो श्रीकान्त (मेरा तीसरा भाई) वहाँ सर्विस करता है पर आज की इस भीषण मंहगाई में वह वहाँ का पूरा खर्च संभाल नहीं पाता है। फिर घर में दो भाइयों के अलावा किसी की बंधी हुई मासिक आमदनी नहीं होने के कारण खर्च अधिक ही होता है।

एक बार बाबूजी ने अपने एक प्रकाशक से यह तय किया कि दो सौ रुपये प्रतिमाह मां के नाम गांव भेज दिया जाए। लगभग दो-ढ़ाई वर्ष यह सिलसिला चला और अचानक बन्द हो गया। पता चला कि बाबू के ऊपर प्रकाशक की काफी रकम चढ़ आयी है। अतः यह सिलसिला बन्द करना पड़ा। प्रकाशकों के व्यवहार से बाबूजी कभी प्रसन्न नहीं रहे हैं। बार-बार प्रकाशकों से झगड़े हैं, उनसे सम्बन्ध तोड़े हैं—पर यह सब एक कलमजीवी कितने दिन कर पायेगा ? इस देश में लेखक प्रकाशक से कहीं न कहीं समझौता करेगा ही। पूरी व्यवस्था इस प्रकार की हो गई है कि कलाकारनुमा जीव का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है बगैर किसी व्यावसायिक दृष्टि के। यह भी सही है कि समय पर पेमेंट और सभी जगह पुस्तकों का प्रसार वही प्रकाशक करता है जिसने साहित्य और कला को व्यावसायिक स्तर पर लिया है। खैर, प्रकाशक-लेखक सम्बन्ध पर काफी कुछ कहा सुना जा सकता है। बाबूजी का भी प्रकाशकों से सम्बन्ध खट्टा-मिट्ठा, मिट्ठा-खट्टा होता जाता रहता है।

बाबूजी जहां कहीं और जिस किसी भी स्थिति में रहे हैं, परिवार के एक-एक सदस्य के लिए चिन्तित रहे हैं। सामर्थ्यानुसार उसके लिए सोचा है। यह अलग बात है कि इस संक्रमणशील युग में वे परिवार के लिए वह सब नहीं कर पाये जो एक 'सद् गृहस्थ' करता है। अपनी सामर्थ्य और सीमा के भीतर जहां तक हुआ है, इस ढलती उम्र में भी परिवार को जिन्दा रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। मां को शहर में रखने का प्रयास किया है ताकि उन्हें कम कष्ट हो। मां तीन-चार माह किसी तरह नागरीय जीवन काट पाती हैं और अपने ग्रामीण परिवेश में वापस जाने के लिए 'छान तोड़ने' लगती हैं।

जिस प्रकार मां ने बाबूजी के घुमक्कड़ जीवन में दखल नहीं दी या फक्कड़-पनी के लिए [illegible] नहीं, उसी तरह बाबूजी ने भी मां की जीवन-प्रणाली में कभी हस्तक्षेप नहीं किया है। मां तमाम प्रकार के व्रत-त्योहार, पूजा-पाठ करती हैं। बाबूजी जैसा परम्पराभंजक '[illegible]' व्यक्ति कभी मां के इन कामों में बाधक नहीं हुआ। उसे तटस्थ भाव से देखा ही नहीं बल्कि अपनी सीमा के भीतर रहकर इन सब के आयोजन में व्यवस्था की है। इसके पीछे मेरे अनुसार मात्र यह कारण हो सकता है

कि शादी के बाद वर्षों तक मां को अकेलेपन का जो कष्ट भोगना पड़ा है, उसके एवज में यह सब करने की छूट उन्हें मिली है बाबूजी से।

लगभग दस वर्ष पूर्व एक शोधकर्त्ता मित्र ने मुझसे पूछा—"वह कौनसी मजबूरी थी कि नागार्जुन छह-सात वर्षों के प्रवासी जीवन के बाद पुनः अपनी अपढ़-ग्रामीण पत्नी के पास वापस जाते हैं। यदि वे चाहते तो उस समय उससे सम्बन्ध तोड़ सकते थे। नाम-यश हो ही चुका था, पत्नी को काफी समय से त्याग रखा था।" इस प्रश्न के उत्तर मे उस समय मैंने जो कुछ कहा था, वह एकदम याद है। अब भी मैं उसी राय पर हूं। मैंने कहा था—"हां, बाबूजी के पास ऊपरी तौर पर कोई मजबूरी नही रही होगी, पर मां की कोई गलती या अपराध तो नहीं था, जिसके कारण सजा उन्हें दी जाती। यदि गलती नही तो दंड किस कारण से? सम्बन्ध विच्छेद के लिए कुछ आधार तो चाहिए न! बाबूजी अपने पिता से नाराज होकर घर से निकले थे। पत्नी से नाराजगी तो थी नही। यह अलग प्रश्न हो सकता है कि पत्नी को भी साथ लेकर घर छोड़ते, पर इसमें उस समय मजबूरियां रही होगी। मैथिल ब्राह्मणों में लड़कियों का पुनर्विवाह, अब भी एक कठिन समस्या है और सन् 35—40 के जमाने मे तो इसे सोचा भी नही जा सकता था। बाबूजी जो संस्कृत के सहारे आगे बढ़कर बौद्ध हुए और साम्यवाद की ओर जा रहे थे, सोचा होगा—पत्नी तो उन्हे दूसरी मिल जाएगी पर जिसके मांग सिन्दूर डालकर दो-तीन वर्ष साथ गुजार (शादी वर्ष 1931, गौना वर्ष 1934) कर बिना कुछ कहे सुने चले आए है, उस महिला का क्या होगा? वह तो आजीवन उनके नाम पर अपनी मांग मे सिन्दूर भरती रहेगी। यह मानवीय व्यवहार और संवेदना का प्रश्न है। बाबूजी ने अपने व्यावहारिक विवेक से ही काम लिया होगा।"

"हृदय में पीडा, दृगो में लिये पानी—
देखते पथ, काट दी सारी जवानी!
मात्र मेरी भावना ही रात-दिन थी!
देवि, तेरी साधना कितनी कठिन थी!
निठुर मैंने तुम्हारी बलि चढा दी—
क्योकि आकांक्षा बहुत अपनी बढ़ा ली!
पर असंभव था व्यथा का भार ढोना
भूल जाना तुम्हें और निश्चित होना!"

(—प्रत्यावर्त्तन, हजार-हजार बाहों वाली, पृष्ठ 97)

यह रचना 'सरस्वती' के नवम्बर 1942 के अंक में छपी है। लिखी गयी होगी निश्चित रूप से दो-तीन वर्ष पूर्व ही। इस रचना को मैं 1980 मे देख पाया पहली बार, जब इनकी खोई-बिखरी रचनाओ को ढूंढने में लगा था। इस रचना को पढ़कर एकाएक वह शोधकर्त्ता मित्र और उनसे बातचीत याद हो आई।

जरूर चाहा होगा कि उन्हें युगीन परिवेश में ढाला जाए। पर औसत ब्राह्मण परिवार की महिलाएँ जिस परिवेश मे जीवन बिताती हैं, मेरी माँ उस परिवेश से अपने को निकाल नही पायी। बाबूजी जैसे परम्परा तोड़क और रूढ़ि भंजक को कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाला अपने परिवार में कहाँ कोई मिला? मुंडन, जनेऊ, शादी, पर्व-त्यौहार आदि के फालतू और अनावश्यक खर्चों से हमारा परिवार उसी तरह परेशान रहता है जिस तरह पचास वर्ष पूर्व का रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार रहता होगा।

हम भाइयों को एक उम्र के बाद मुक्त कर दिया बाबूजी ने। हम लोग कब कहाँ क्या करते हैं, इसकी चिन्ता अब उन्हें नहीं रहती है। पर हम सब इतने सक्षम कहाँ हो पाये कि अपने को भी सम्भालें। बार-बार उन्हें तंग करते है अपने को जीवित रखने के लिये। बाबूजी की लापरवाही और फक्कडपन का उपयोग हमने अपने-अपने ढंग से किया है। हम लोगों पर अभिभावक का कडा अनुशासन कभी नही रहा है। इस अनुशासन के अभाव में पारिवारिक बंधन के सूत्र टूटते गये और पारिवारिक बिखराव और बनजारापन अधिक गहरा गया। कहने को तो हम सब संयुक्त परिवार के अंग हैं, पर स्व-निर्मित इकाईयो मे बँटे है। आज के युग को हम समझने की कोशिश नही करते। बाबूजी ने जिस युग मे जीवन की शुरुआत की और आज के युग में जिसमें हम सब जी रहे है—काफी अन्तर है। हम अब भी इस अन्तर को नजर अन्दाज करते जा रहे है। मेरा तो पक्का विश्वास है कि यदि बाबूजी चाहें और हम सब पर 'एक ही जादू' वाले सूत्र का अन्तिम यानी अनुशासन लायें तो निश्चित रूप से हम सब व्यवस्थित हो लेंगे।

मैथिली में एक कहावत है, जिसका अर्थ होता है कि मूर्ख का लडका मूर्ख हो सकता है, मगर पंडित का लडका पंडित नही। गोकुल मिश्र अपढ ही थे, पर उनका पुत्र आचार्य बैद्यनाथ मिश्र उर्फ यात्री उर्फ नागार्जुन महापंडित के रूप मे विख्यात है। यहाँ कहावत उलट गयी। हमारे बाबूजी महापंडित और हम सब... कबीर की पंक्ति है—बूडा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल!

"दस रोज सोचा, बीस रोज लिखा
महीने की मेहनत तीन सौ लायी!
क्या बुरा सौदा है?

(हजार-हजार बाँहों वाली, पृष्ठ 58)

यह सच है कि लग जाने पर तीस-पैंतीस दिनों में उपन्यास पूरा कर लेते हैं बाबू जी। मुझे जहां तक पता है एकाध उपन्यास को छोड़कर सभी अधिक से अधिक चालीस दिनों में पूरे किये गये हैं। 'दुखमोचन' के बाद जितने उपन्यास लिखे गये हैं, वे सभी बोलकर लिखवाये गये हैं। निराला पर जो पुस्तक है और 'गीत विद्यापति के'—ये कृतियां भी बोलकर ही लिखवायी हैं। इस प्रकार लिखाई के लिये

सुबह के तीन घंटे निश्चित करते हैं। कापी साइज के दस-पन्द्रह पृष्ठ प्रति दिन।

उपन्यास शुरू करने के पूर्व एक कापी में पहले अध्यायों का बंटवारा करेंगे। पात्रों का नामकरण, उनके आपसी सम्बन्ध, उपन्यास में आए क्षेत्र विशेष का भूगोल बनायेंगे। इतना करने के बाद दो-तीन दिन तक कथा-सूत्र को अपने दिमाग में पूर्णतः जमा लेंगे। फिर किसी को रख लेंगे, जो शुद्ध-शुद्ध लिखता हो और जिसकी लिखावट पठनीय हो। खुद बोलेंगे और वह लिखता जायेगा। तीन घंटे की लिखाई के बाद उस दिन का कोटा खत्म। दिन में उन लिखे पृष्ठों को कई बार पढ़ेंगे। आगे के कथा-सूत्र का गुम्फन करेंगे। दिन भर में यदि अपने मन के वेग को दबा नहीं सके तो कुछ पृष्ठ खुद भी लिख लेंगे। उपन्यास खत्म होने के बाद 'री-राइट' या 'रीवाइज' नही किया है कभी। पूरा होने पर पाडुलिपि सीधे प्रकाशक के हवाले। छपी प्रति ही दुबारा देखते हैं। अपनी पुस्तको के प्रूफ भी कभी नही देखते।

कभी-कभी मुझे भी लिखना पड़ा है। लिखने वाला कितनी भी धीमी गति से क्यों न कलम चलाए, पूरा वाक्य लिखने के बाद ही अगला वाक्य बोलते है। यह नहीं कि वाक्य के एक अंश या तीन-चार शब्द बोलकर सोचने लगते हों। पूरा वाक्य एक बार ही बोलेंगे। लिखवाते समय ऐसा नहीं कि अभी जो लिखवाया है, उसे कुछ देर या आगे काटा-पीटा जाए। जो एक बार लिखवा दिया, वह ठीक। इसका अर्थ यही है कि पूरा कथानक, चरित्र, कथोपकथन और वर्ण्य परिवेश—सभी पहले से इस तरह दिमाग मे बैठा रहता है कि अपने आप सही जगह निकल आता है।

उपन्यास लेखन के समय पूरी निश्चितता और तनाव-मुक्ति चाहते हैं। उपन्यास लेखन काल मे अपना प्रिय काम पत्रोत्तर और पत्र-पत्रिकाएं पढ़ना तक छोड़ देते हैं। किसी भी तरह का गभीर अध्ययन उस समय नही करते हैं। पूर्णतः उपन्यास के कथा-सूत्र और पात्रों में तल्लीन रहते है। कहा करते हैं—"पत्र-पत्रिकायें और चिट्ठियां सोच की दिशा के लिये डाइवर्सन या गतिरोधक हैं।" यहाँ तक कि लोगों से मिलना-जुलना भी बन्द कर देते हैं। सृजन कालीन अनुभूति कितनी विलक्षण और रोमाचक होती है यह एक सृजक ही कह सकता है, मैं कल्पना भी नही कर सकता। कथा सूत्र में उलझे, उसके गुम्फन में तल्लीन बाबूजी को रात-रात भर बरामदे में चहलकदमी करते भी देखा है। कपार में तनाव के चिह्न बनते-मिटते देखे है। आंखें फैलती है, चेहरे का रंग बिगडता है। आक्रोश के मारे चेहरा तमतमा उठता है। क्या-क्या नही झेलना पड़ता है एक सृजन शील रचनाकार को। कहा जाता है कि सृजन-पीड़ा और प्रसव-पीड़ा मे बहुत कम अन्तर है।

इधर वर्षों से गद्य नाम को भी नही लिखा है बाबू जी ने। दो उपन्यास अधूरे पड़े हैं। प्रत्येक वर्ष यह निर्णय लेते हैं कि गर्मी शुरू होते ही वाचस्पति के पास पहाड़ पर जाऊगा और अक्टूबर तक उधर ही रहकर दोनों उपन्यास पूरे

कुछ समय के लिये वाचस्पति के यहां जाते भी हैं। पर कुछ गंभीर रचना कर्म में नहीं लग पाते हैं। बाबूजी के अनुसार पूरी निश्चितता नहीं मिल पाती उन्हें। हम लोग उन्हें परिवार की ओर से किसी भी तरह 'डिस्टर्ब' नहीं करने का पूरा आश्वासन देते हैं परन्तु बाबूजी स्वयं ही अपने अति संवेदन-शील मस्तिष्क के कारण निश्चित नही हो पाते। जिन-जिन समस्याओं और पारिवारिक मसलों पर उन्हें सोचने को बाध्य नहीं होना चाहिये उन सब में भी अपने को उलझा कर अपने को एकाग्र चित्त नहीं कर पाते। अत्यधिक घूमना, जरूरत से ज्यादा पत्राचार, समसामयिक घटना-प्रधान पत्र-पत्रिकाओं का गहन अध्ययन-निश्चित रूप से संवेदन-शील मस्तिष्क को और ज्यादा चंचल बनाये रहता है। इसके कारण कहीं भी अधिक समय तक वे एकाग्र नहीं हो पाते। कविताओं का सृजन तो हो जाता है, पर गद्य-लेखन नही हो पाता। यह भी सही है कि आर्थिक निश्चितता इन्हें प्राप्त नहीं है परन्तु यह तो उनके साथ हमेशा रहा है। इनके जैसे रचनाकार के लिये गद्य कृति मे इतना लम्बा 'गैप' निश्चित रूप से चिन्तनीय विषय है। उन्हें खुद ही इस पर सोचना चाहिये।

कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि प्रकाशकों को ललचाने मे उन्हें आन्तरिक सुख मिलता है क्या? उपन्यास के पचास पृष्ठ लिखे गये······खण्डकाव्य की दो सौ पंक्तियां उतर आई कापी मे······और प्रकाशकों में सुगबुगाहट हुई। उनकी आवा-जाही शुरू। एग्रीमेंट फार्म तक हस्ताक्षरित हो जाता है और बाबू जी का यात्रीपन जाग उठता है एकाएक। उपन्यास अधूरा ही रह गया और खण्डकाव्य अपूर्ण! एक बार छूट गया तो कब पूरा होगा, कहना मुश्किल है। प्रकाशकों को लगता होगा कि सामने से किसी ने पत्तल खींच लिया। 'सूखे बादलों की परछाइयां' 'अग्नि पुत्र' 'गरीब दास' 'भूमि पुत्री' आदि ऐसी चर्चित कृतियो के नाम है जो बाबू जी के साथ ही पूर्णता पाने के लिये यात्रा कर रहीं हैं। मुझे 1949–50 के 'ज्ञानोदय' के कई अंकों में 'महाभिनिष्क्रमण से पूर्व' नामक खण्ड काव्य का विज्ञापन और उन्हीं अंको में लगभग चार सौ पंक्तियों का अंश मिला। 'युद्ध का अन्त', 'कपिलवस्तु में', 'राम-लक्ष्मण' आदि ऐसे ही काव्य अश है जो निश्चित रूप से खण्ड काव्य के लिये शुरू किये गये होंगे। मेरा निश्चित मत है कि काश, ये सब खण्ड काव्य के रूप में ढल जाते तो बाबूजी के रचनाकार का एक पक्ष और सामने आता। लगता है कि इस तरह एक कथावस्तु उठाकर उस पर थोड़ा-बहुत काम करके उसे छोड़ने की आदत इनकी पुरानी है।

यों प्रकाशकों ने भी इन्हें कम सताया नहीं है। 'गीत गोविन्द' और 'मेघदूत' जैसा महत्वपूर्ण अनुवाद वर्षों तक पुनर्मुद्रण के लिये उन प्रकाशकों के पास पड़ा रहा जो नागार्जुन के उपन्यासों के कई संस्करण छाप चुके हैं। 1980 के पूर्व उनके उपन्यास छापने वाले प्रकाशको ने काव्य संग्रह छापने की चर्चा तक नहीं की।

1979–80 में छोटे प्रकाशकों द्वारा एक साथ कई पुस्तकों का पुनर्मुद्रण हुआ और दो काव्य संग्रह छपकर चर्चित हुए। उसके बाद अब सभी प्रकाशकों ने 'कुछ भी दीजिए' की माग शुरू की है। बाबूजी ने छोटे-बड़े सभी प्रकार के प्रकाशकों को अपना भरपूर सहयोग दिया है। यह प्रकाशक पर निर्भर है कि अपने व्यवहार से कौन कितना अपने-अपने लेखक का उपयोग कर पाता है।

कविता लिखने के लिये किसी भी प्रकार की परिस्थिति बाधक नहीं है। कुछ लम्बी कविताओं को छोड़कर प्रायः अधिक रचनाएँ एक ही सिटिंग मे खत्म करते हैं। जो कविता एक-दो सिटिंग मे पूरी नही हुई, वह काफी समय के बाद ही पूरी हो पायी है। एक रौ मे जो रचना लिखी गयी, वह एक-दो को सुनाने के बाद, उसमें जो कमी रहती वह ठीक हो जाती है। पंक्ति दिमाग में कौंधने के बाद तत्काल ही काम शुरू हो जाता है। पास मे कोई भी कागज हो, उसी पर उस पक्ति को लिखकर आगे के लिये दिमाग के भीतरी परत मे शब्द और बिम्ब मे तालमेल होने लगता है। पत्र-पत्रिकाओं के हाशिए पर, पोस्ट-कार्ड या आये पत्रो के पीछे खाली जगहो पर और छोटी-बड़ी स्लिपो पर मुझे कई कवितायें मिली हैं। 'हरिजन गाथा', 'नेवला', 'अब तो बन्द करो यह चुनाव का प्रहसन' जैसी रचनाओं के लिये उपन्यास की एकाग्रता चाहते है।

पिछले पन्द्रह-सोलह वर्षों में गद्य-लेखन के नाम पर पत्र लेखन ही हुआ है। कभी-कभी कहा करते हैं कि पत्र और पत्रोत्तर काफी 'डिस्टर्ब' करता है—अब इसे बन्द करना पड़ेगा। पर यह बात मैं पिछले दस-बारह वर्षों से सुन रहा हूं। घुमक्कड़ी की तरह पत्र-लेखन भी बढ़ता ही गया है। किसी भी स्थिति में रहें। आठ-दस पत्र रोज लिख ही लेते है। पत्र लिखकर खुद ही लेटरबाक्स के हवाले करना पसन्द करते हैं। इतना ज्यादा पत्र लिखने के कारण ही किसी भी नगर में यह आसानी से पता लग जाता है कि कहाँ और किस स्थिति मे रह रहे हैं। समकालीन लेखकों मे सम्भवतः सबसे ज्यादा पत्र-साहित्य इनका ही होगा।

पत्र लिखने का ढंग भी इनका अपना है। एक पंक्ति से लेकर आठ-दस पृष्ठों तक। पोस्टकार्ड या अन्तर्देशीय या कागज साधारण पन्ना—सभी मे अपना ढग है। सीधे ऊपर से नीचे। फिर बांयें एक दो कालमों में कुछ पक्तियाँ। पोस्टकार्ड के उस तरफ जिस तरफ पता लिखने के लिए जगह के बगल में खाली रहता है, उस पर तीन-चार तरफ से। बीच मे इनका पता होगा। एक-दो वाक्यों का पत्र भी इस तरह के वाक्यों में होगा कि पत्र पाने वाला पूरी तरफ आश्वस्त हो जाए। अपने समकालीनो से ज्यादा युवा पीढी के लोगो से इनका पत्र-व्यवहार हुआ करता है। पत्र काफी तन्मय होकर लिखा करते हैं। इनके थैले मे पता लिखे दस-बीस पोस्टकार्ड-अन्तर्देशीय हमेशा मिलेंगे। कवि कर्म की तरह ही पत्र-लेखन में स्थान और परिस्थिति बाधक नहीं है। पिछले तीस वर्षों से नियमित कामों मे पत्र लेखन सबसे महत्वपूर्ण काम रहा है।

पत्रों से डायरी और रिपोर्टिंग—दोनों का काम लेते हैं। यदि भविष्य में पत्रों को वर्ष-क्रम से जमा किया जायेगा तो निश्चित ही इनकी काफी गतिविधियों और जहाँ-जहाँ घूमते हैं, उसका परिचय प्राप्त हो जाएगा। इनके जैसे घुमक्कड़ व्यक्तित्व को सही ढग से जानने मे इनका पत्र साहित्य ही सहायक होगा।

पत्र-पत्रिकाओं का पारायण भी इनका महत्वपूर्ण काम रहा है। दैनिक से लेकर अनियत-कालीन—सभी प्रकार की पत्र पत्रिकाएँ पढ़ते है आप। हिन्दी, अंग्रेजी और बंगला दैनिक आपके लिए अनिवार्य है। दिल्ली मे बंगला-दैनिक के लिए कनॉट प्लेस जाना पड़ता है। पटना में खुद ही प्रायः प्रतिदिन स्टेशन के चौराहे पर जाकर बंगला दैनिक खरीदा करते है। हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, मराठी आदि भाषाओं के समकालीन राजनैतिक और साहित्यिक पत्रों से आपका थैला भारी रहता है। 'फार इस्ट इकनॉमिक रिव्यू' जैसा कीमती साप्ताहिक भी खरीदते है। बगला के सभी शारदीय और बैसाखी अक अवश्य ही आपको चाहिएँ। 'लोकलहर' से लेकर 'पांचजन्य' तक सभी प्रकार के साप्ताहिक पढ़ते हैं। कभी-कभी 'माया', 'मनोहर कहानिया' भी इनके पास दिख जाती है। एक बार बतलाया था—"माया-मनोहर कहानिया इसलिए ले लेता हूँ कि यात्रा मे बगल या सामने बैठा व्यक्ति उसी में चिपटा रहता है, तो तग नही करता अपनी अनाप-शनाप बातों से। फिर खुद अपने मन लायक साहित्य का यात्रा मे अध्ययन होता रहता है।"

इतनी ज्यादा युगीन पत्र-पत्रिकाएँ पढने के कारण देश-विदेश मे घटित हर छोटी-बडी घटना की जानकारी रहती है। साहित्य कर्मी के लिये हर प्रकार की विचारधारा, संस्कृति और राजनीति का ज्ञान आवश्यक है। सम-सामयिक घटनाओं की जानकारी, जन सम्पर्क, परिस्थितियों का ज्ञान तथा युगीन राजनीति का ज्ञान जितना स्पष्ट होगा, साहित्य उतना ही प्रखर और लोकमुखी होगा। बाबू जी प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना का अध्ययन विभिन्न सूत्रों से करते हैं। परिस्थितियो को परखने का ढंग भी इनका अपना है। ऐसा नही कि एक पूर्व नियोजित दृष्टि से घटना या परिस्थिति को देखते हों। इनकी दृष्टि जनमुखी दृष्टि होगी—इतना तो तय है। जनमुखी दृष्टि के लिए जन सम्पर्क और जन जुड़ाव तो आवश्यक है ही, साथ ही मिट्टी की पहचान भी जरूरी है और बाबू जी के पास ये तीनों गुण हैं, यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

नये लोगों की रचनाएं बहुत ही मन से पढ़ा करते हैं। मात्र पढ़कर ही नहीं रह जाते, बल्कि उसकी चर्चा यहां वहां करते भी हैं। पढ़कर तुरन्त प्रसन्नता जाहिर करने के लिए पत्र लिख देंगे रचनाकार को। नये लोगो को प्रायः गद्य लिखने के लिए प्रेरित किया करते हैं। गद्य लिखने का अर्थ होता है कि लेखन से कुछ प्राप्त करना। किसी भी युवा रचनाकार से साहित्य की मौलिक समस्याओं पर घंटों बात करेंगे। युवा वर्ग अपनी रचनाओं पर सुझाव तथा शंका समाधान बाबूजी से

हमेशा पाता रहता है। युवा वर्ग से इतना ज्यादा लगाव है कि जिस सम्मेलन में, आप पहुंच जाते हैं; सम्मेलन का सारा माहौल आपके ही इर्द-गिर्द केंद्रित हो जाता है। युवा रचनाकार, युवा चित्रकार और युवा छायाकार—सभी बाबा को घेरे रहते है। आप भी उनके साथ इस तरह रम जाते है कि यह लगता ही नही कि एक सत्तर वर्षीय वृद्ध साथ मे है।

एक बार सम्बन्ध होने पर इतना ज्यादा अपनापन देते है कि सम्बन्ध गहरा होता जाता है। परिचित परिवार मे बिल्कुल ही घुल मिल कर एक पारिवारिक सदस्य की तरह हो जाते है। बच्चो से बच्चो की तरह बातें करना, महिलाओं से उनकी घर-गृहस्थी की पूछताछ, बूढो से उनके अनुरूप बाते, युवको से युवाकांक्षित गर्म जोशी से विभिन्न समस्याओं पर चर्चा। इन सबके कारण किसी परिवार में एक बाहरी प्राणी तो लगते हो नही। अपने घर के रीचा-कुन्नू, हापुड़ के टिंकू-चिंकू और जहरी खाल के बेटू समान रूप से बाबा को दिन भर मे कई बार याद करते हैं। बाबा की दाढ़ी, बाबा या चश्मा या कलम उनके लिए खिलौना है। इनके कई पाकेट रेडियो इन बच्चों से घायल हुए होंगे।

परिचित परिवारों की महिलाओ से बाबू जी अपने परिवार की तरह घुल-मिल जाते हैं। अपने परिवार में बेटी और पुत्र-वधू मे आप ने किसी भी तरह से भेद-भाव नहीं किया है। उर्मिला या मजु ने उनसे जितना दुलार-स्नेह पाया है, उससे कम रेखा या ललिता या सरिता ने नही पाया है। पुत्र-वधुएँ उसी प्रकार उनके सामने उठ बैठ, रूखा-पी सकती हैं' जिस तरह मेरी दोनो बहिनें। यही स्थिति मैंने उन परिवारों में भी देखी जहाँ वे अधिक समय जाकर टिका करते है। जिन परिवारों में उनका प्रवेश हे, वहा की महिलाएँ उनके पसन्द की वस्तु बनाकर रखती है। आप भी चौके में बैठकर घंटों उनके सुख-दुख की बातें करेंगे। अचार-चटनी से लेकर कपड़े तक की चर्चा। बच्चों से लेकर सास-बहू सम्बन्धी बातें करेंगे। उर्मिला हो या रेखा, सीता अग्रवाल हो या उषा किरण, प्रेम हो या शकुन—सभी अपनी मन की बातें इन से करती हैं।

बाबूजी ने अपनी माँ से दुलार-प्यार पाया नहीं। यदि पाया भी है तो वह नाम-मात्र, जो याद प्रायः नही ही होगा। अपनी माँ की धुंधली छाया मन के किसी कोने में धुंध की तरह ही होगी। वह धुंधमय छाया मां की प्रताड़न वाली ही है। माँ कैसी होती है, यह वह देखकर सुनकर ही कल्पना करते है। बचपन से मा–बहन–भाभी के स्नेह से वंचित मन अब भी उस स्नेह के लिये लालायित है। बचपन का स्नेह रहित मन वही सुख पाने के लिये महिलाओं में घुलता-मिलता है। परिचित परिवारों में महिलाओ से अत्यधिक स्नेह रखने के पीछे मेरे जानते यह एक मुख्य कारण है। इस तरह के सम्पर्क ऐसे व्यक्ति के लिये टॉनिक का काम देते है। अपने को ताजा करने के लिये ऐसा स्नेह रहित व्यक्ति चाहता है कि वह रूठे—उसे

कोई मनाए, जिद्द करे, फरमाईश करे, वह स्नेह दे, अपनी मन पसन्द चीजें लाए---लोग वाह-वाही करें। मैं ऐसा मानता हूं कि बचपन का स्नेह रहित व्यक्ति महिलाओं से ज्यादा और जल्दी घुल मिल कर उनका प्रिय हो जाता है।

बाबू जी जब गुस्सा करते हैं, तब कम से कम मेरे लिये वह क्षण बहुत उलझनो से भरा होता है। उस क्षण वह किसी भी तरह की सफाई सुनना पसन्द नहीं करते। गुस्सा होने पर उनका रूप एक अन्य तरह का रहता है। रौद्र रूप रहता है उस समय। यह भी सही है यह गुस्सा-काल बहुत ही अल्प काल का होता है। मुश्किल से बीस-पचीस मिनट का। उस समय जवाब देना किसी भी स्थिति में ठीक नहीं होता है। चुप रह जाना ही श्रेयस्कर है। बीस-पचीस मिनट तक गुस्सा के मारे वह सब कुछ सुना देंगे जिसकी कल्पना तक नही की होगी सामने वाले ने। काफी समय से मन के भीतरी परत मे बैठी वे सब बातें निकल आती है जिनके बारे मे सामने वाले ने सोच रखा था कि भूल ही गए होंगे। सब कुछ सुनाने के बाद अचानक ही परिवर्तित होंगे और चाय-पीने या पान खाने को साथ चल पड़ेगे। रास्ते मे समझाएगे कि क्यो गुस्सा आया और उस समय आपकी सभी कैफियत सुनने को सहज ही तैयार रहेंगे। आपको लगेगा ही नही कि कुछ मिनटों पहले यह व्यक्ति किस रूप में था। नितान्त अपनापन महसूस होगा उस क्षण।

बाबूजी ने अपने जीवन मे बन्धन नही स्वीकारा है। तात्कालिक मजबूरियों के कारण या अन्य किन्हीं कारणो से कभी-कभी नौकरीनुमा बन्धन या पत्रों में नियमित रूप से कॉलम लिखना अवश्य शुरु किया है। पर जब ही इन कामों के चलते मानसिक बन्धन महसूस किया तो एक ही झटके से अपने को मुक्त कर लिया है। हमेशा आर्थिक दबावो से बेचैन और पारिवारिक भार से परेशान रहने पर भी इस तरह नियमित आय-स्रोत वाले अनुबन्ध को एकाएक कैसे और क्यों तोड़ देते हैं? यह प्रश्न मेरे लिए समझना अब कठिन तो नही ही रहा है। इस तरह के कामों के समय एक ऐसा क्षण आता होगा कि वे जो कुछ कहना या करना चाहते होंगे, उसमें बाधक तत्व सामने आया होगा। इनकी 'कलम' को पचाना तो सबके लिए सहज नहीं है न! नागार्जुन तो 'यात्री' हैं। इन छोटे-छोटे अनुबन्धों की क्या चिन्ता! यात्री अपनी अगली यात्रा पर चल पड़ते होंगे। इस पड़ाव तक का अनुभव अगले पड़ाव तक काम आयेगा। इनका व्यक्तिगत अनुभव ही इतना विस्तार लिए हुए है कि स्वयं ही इन अनुभवों को समेटने का समय नहीं निकाल पाते। मेरा इशारा संस्मरण या आत्मकथा लिखने की ओर है। आत्मकथा या संस्मरण लिखने की बात चलने पर बहुत ही आसानी से उसे टाल देते हैं। मुझे लगता है यह अनुभव-क्षेत्र इतना स्वाद भरा है कि उसमें से तिक्त और कसैलापन को हटाना इनको, स्वयं ही पसन्द नहीं पड़ रहा होगा। आखिर 'मधुकरा' तो यात्री का जीवन है ही नहीं।

"कहो कि कैसे झूठ बोलना सीखू और सिखलाऊं ?
कहो कि अच्छा ही अच्छा सब कुछ कैसे दिखलाऊं ?
कहो कि कैसे सरकण्डे से स्वर्ण किरण लिख लाऊं ?
तुम्ही बताओ मीत कि मैं कैसे अमृत बरसाऊं ?"

बाबूजी का साहित्यिक महत्व परिवार मे भी बहुत बाद मे समझा गया। इससे यह हुआ कि काफी कुछ खो गया या नष्ट हो गया। फिर इनकी घुमक्कड़ी के कारण भी 'नोटबुक' कब कहां छूट जाती, यह कहना भी मुश्किल है। मैं पिछले चार-पांच वर्षों से इनका बिखरा साहित्य खोजकर पुस्तकाकार करने मे लगा हूं। पर अभी भी लगता है कि यह काम काफी बाकी है। कभी भी रचनाओं की कापी करके रखी नही। छपी रचनाओं के कटिंग्स रखे नहीं। पुराने पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों के रख-रखाव की परम्परा ठीक ढंग से इस देश मे रही ही नही है। फिर बाबूजी तो दैनिक से लेकर वार्षिक सभी तरह के पत्रों मे छपे हैं। अब उन्हें काफी कुछ याद भी नही है। समय भी काफी लम्बा है। 1930 से लिख रहे हैं। यह 1983 है। 53 वर्षों के लेखकीय जीवन को याद रखना सहज तो है नही। हर विधा मे लिखने वालों के साथ तो और भी मुश्किल है। कहानी-कविता निबन्ध-उपन्यास-खण्ड काव्य-वाल साहित्य-कॉलम···क्या नही लिखा है बाबूजी ने!

बिहार मे अब कम ही रहना होता है। बिहार की आबोहवा यों भी उनके लिये स्वास्थ्यप्रद नही है। जब भी अपने प्रान्त बिहार आते हैं तो स्वस्थ आते हैं। दस-पन्द्रह दिन रहने पर निश्चित रूप में बीमार हो ही जाएगे। शारीरिक कष्ट के साथ ही बिहार में अर्थ कष्ट भी उनको रहता है। बाहर से ही रकम उगाह कर बिहार में खर्च करना है। यहाँ आमदनी का कोई सूत्र नही है। खुला हाथ होने से दस-पन्द्रह दिनों के बाद ही जेब खाली हो जाती हैं। फिर तो बाबूजी पूरब-पश्चिम कहीं चल देंगे, कम से कम छह माह के लिए और मजेदार बात यह है कि बिहार की सीमा पार करते ही स्वास्थ्य ठीक हो जाएगा। खर्च के लायक पैसे भी प्राप्त हो जाते हैं।

बिहार में प्रसन्न मन से नही रह पाते हैं। बिहार का दमघोटूं वातावरण उनके संवेदनशील चंचल मस्तिष्क के लिए बिल्कुल प्रतिकूल पडता है। साहित्य में अखिल भारतीय व्यक्तित्व होने के कारण वर्तमान समय में लेखन-कर्म में लोगों पर ज्यादा प्रभाव है। इस बात से यहाँ उन लोगो को जो आसन-मार बिहार के महन्तनुमा लोग हैं, नागवार लगता है। वैसे लोग चाहते हैं कि नागार्जुन जी बिहार से बाहर ही रहें। बिहार का साहित्यिक-सांस्कृतिक माहौल भी कुछ ऐसा है कि सृजनात्मक लोगों का दम ही घुटने लगता है। यहां तो होता यह है कि बाहर जब प्रान्तीय रचनाकार की चर्चा जोरों से शुरू होती है, तब यहाँ उसके बारे में खोजबीन होती है।

इधर कई वर्षों से बाबूजी का दिल्ली ज्यादा रहना होता है। इसके अन्य कारणो में एक प्रमुख कारण यह भी है कि प्रकाशन व्यवसाय का मुख्य केन्द्र दिल्ली हो गया है। प्रकाशको से जब तक सीधा सम्पर्क नही होगा, तब तक आज के समय में साहित्य से कुछ भी 'अर्थ' प्राप्त करना कठिन है। यों महानगरों में दिल्ली से उन्हें नफरत है। दिल्ली की अपेक्षा कलकत्ता ज्यादा पसन्द है। साल-दो साल में दो-तीन माह कलकत्ता अवश्य ही रहेंगे। गाव जाना अब कम हो गया है। दो-दो, तीन तीन वर्ष हो जाते है गांव गये। यों गांव के लोग, उनके हम उम्र या हर कोई अपने 'यात्री जी' को खूब याद करते है। बंगट यादव हो या पंडित राधानन्द झा या राम माय—सभी दिन मे एक न एक बार इनको अवश्य ही अपनी अपनी चर्चाओं में घेर लेंगे। गांव कम जाने से अपने पुत्रियो, पुत्रवधुओं, नाती-पोतों से मिले अर्सा हो जाता है। घर के लोग इनसे मिलने दिल्ली-पटना तक आते हैं। बच्चे पत्र-पत्रिकाओं मे तस्वीर से ही अपने दादा नाना से अन्तरंगता स्थापित करते है।

यात्री की जीवन-यात्रा इतनी अद्‌भुत और विविधताओं से भरी है कि इसको देखने-परखने के लिए भी वैसी ही दृष्टि चाहिए जो दृष्टि देश की मिट्टी और लोगों को पहचानने के लिए नागार्जुन के पास है। मेरे लिए तो नागार्जुन, जो कवि कथाकार—भूतपूर्व बौद्ध भिक्षु और कई भापाओ के प्रकाड पंडित हैं, मात्र मेरे 'बाबूजी' हैं।

जीवन-यात्रा-साहित्य यात्रा-दोनो के पडाव का निर्धारण नहीं। हर पड़ाव के लिए स्वतः स्फूर्ति पा जाते हैं। एक बार हँस कर ही सही, अपने सम्बन्ध में एक निर्देश दे डाला—"जब भी बीमार पडू तो किसी नगर के लिए टिकट लेकर ट्रेन में बैठा देना, स्वस्थ हो जाऊंगा।" इंशा अल्ला खां की दो पंक्ति याद आ रही हैं :

> 'भला गर्दिश फलक की चैन देती है किसे इंसा
> गनीमत है कि हमसूरत यहां दो चार बैठे है।

एक जिन्दगी : एक सफर

—विष्णु प्रभाकर

नागार्जुन को जब से देखा है, उन्हे एक चिरयात्री के रूप मे ही पाया है। अपने रहन-सहन के फकीराना अन्दाज के कारण वे 'बाबा' की उपाधि से विभूषित हो चुके हैं। उन्होंने पीड़ित मानवता को स्वर दिया है और उसकी व्यथा और वेदना के जीवंत चित्र उकेरे है इसलिये साहित्य देवता के प्रांगण मे उनका स्थान सुरक्षित है।

चूंकि वे मार्क्सवादी है और आज यह पता लगाना बड़ा कठिन हो गया है कि मार्क्स का कौनसा रूप सत्य है, इसलिये अकसर वे विवादास्पद भी हो उठते है। विवादास्पद होना अपने आप में बड़प्पन की कुंजी है। उसके आस-पास जितनी कड़ुवाहट उपजेगी, उतना ही विवादास्पद व्यक्ति का यश विस्तरित होगा। होता यह है कि हम प्रायः बड़प्पन का अर्थ ही गलत लगाते हैं। बड़प्पन की संज्ञा पाते ही व्यक्ति 'सर्वशुद्ध' मान लिया जाता है लेकिन 'सर्वशुद्ध' जैसी कोई चीज इस संसार मे है नही। स्वर्ण भी तब तक उपयोग मे नहीं आ सकता जब तक खोट की एक निश्चित मात्रा उसके साथ एकाकार नहीं हो जाती। खोट व्यक्ति को लचीला बनाता है। अपनी कमजोरियों से कट कर कोई महान नहीं होता।

यायावर नागार्जुन यदि अपनी डायरी लिखते रहे है और यदि उसे प्रकाशित करवा सके तो वह उनकी सभी रचनाओं से प्राणवान और प्रामाणिक होगी। अनजाने-अनचाहे अटपटे अनुभव अन्तर्मन की सही झांकी दे जाते हैं। बाबा के नाना रूप रोमांस की जितनी झलक मैं पा सका हूँ, उसके आधार पर कह सकता हूं कि उनका अन्तरंग निश्चय ही विस्मयकारक होगा।

बाबा का सम्पूर्ण साहित्य मैंने पढ़ने जैसा नहीं पढ़ा है। अनेक बार उनके मुख से उनकी कविताएं सुनी अवश्य है पर वह पढ़ना नहीं है। न मैं उनकी जीवन गाथा से पूरी तरह परिचित हूं। टुकड़े-टुकड़े उनके मुंह से जो सुन पाया या आइने के सामने जैसी रचनाओं से जो समझ पाया, वह उनको जानने के लिये काफी नहीं है क्योंकि वह एकांगी है। मुझे यह भी याद नहीं कि मैं पहली बार उनसे कब मिला था। इसलिये मैं उन्हें 'काछेर मानुष' या 'आपन जन'

कहने का साहस नहीं कर सकता लेकिन फिर भी मैंने उनके प्रति सदा सहज आकर्षण का अनुभव किया है, उनसे अन्तरंग होना चाहा है।

उनसे मेरी पहली भेंट सम्भवतः स्वाधीनता से पूर्व दिल्ली में हुई थी। उन दिनों मैं राजधानी की सुपरिचित साहित्यिक संस्था 'शनिवार समाज' का संयोजक था। उसमे न केवल स्थानीय कृतिकार अपनी रचनाएं पढ़ते थे बल्कि बाहर से आने वाले अदीबों को भी सादर आमंत्रित किया जाता था। विभिन्न विषयों पर विचार विनिमय कभी-कभी उग्र रूप भी धारण कर लेता था। बाबा को लेकर भी ऐसा ही हुआ। वह स्वयं तो उग्र नहीं हुए पर मेरा संयम अवश्य भंग हो गया था। मेरी उग्रता उनके प्रति नही थी लेकिन वह उसके निमित्त अवश्य बने थे।

जब मुझे पता लगा कि वह राजधानी पधारे हुए है तो मैंने उन्हें एक विशिष्ट अतिथि के रूप मे कविता पाठ के लिए आमंत्रित किया। उस गोष्ठी मे उन्होंने जिन कविताओं का पाठ किया था, उनमे उनकी सुप्रसिद्ध व्यंग रचना 'गान्धी टोपी' भी थी। अन्तरतम को चीर जाने वाले जिस व्यंग के लिए वे प्रख्यात है, 'गांधी टोपी' उसी का प्रतीक है। उसे सुन कर हमारे एक प्राध्यापक मित्र बहुत बिगड़े। क्रुद्ध होने का अधिकार अगर किसी का हो सकता था तो मुझे हो सकता था क्योंकि टोपी मेरे सिर पर थी। उन मित्र का उस टोपी से दूर दराज का भी रिश्ता नहीं था। फिर भी उनके आक्रोश का पार न था। मैंने समझाना चाहा कि बाबा हमारे आमंत्रित विशिष्ट अतिथि हैं। उन्हें, जो वे चाहें, पढ़ने की स्वतंत्रता रहनी ही चाहिये। हम क्यों परेशान हों पर वे मित्र बजिद थे कि ऐसी रचना नहीं पढी जानी चाहिये थी। यह साहित्य ही नहीं है।

इस प्रक्रिया में हम ऐसी स्थिति में पहुंच गये कि मुझे लगा उन मित्र के आक्षेप का केन्द्र कवि इतना नहीं है जितना मैं और मेरा संयोजन। यहीं आकर मेरा संयम जवाब दे गया। मैंने सहसा चीख कर कहा, 'आप कवि का अपमान नहीं कर रहे बल्कि उनके माध्यम से मेरा अपमान भी कर रहे हैं। मैंने उन्हें आमंत्रित किया है। उनके कविता-पाठ का दायित्व मुझ पर है। उनसे मेरा भी मतभेद हो सकता है, है भी पर, उनके मनचाही कविता पढ़ने के अधिकार का मैं किसी भी शर्त पर समर्थन करूंगा। कविता कटु है पर, इसीलिए वह अपठनीय तो नहीं हो जाती।'

फिर क्या हुआ, वह यहां अप्रासंगिक है। प्रासगिक इतना ही है कि मेरा और उनका प्रथम साक्षात्कार विस्फोटक था और इस विस्फोट ने मेरे और उनके बीच के आकर्षण को अतिरिक्त शक्ति दी।

यायावर मैं भी हूं पर उनमें और मुझ में एक अन्तर है। वे यायावरों के आचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के साथ रह चुके हैं। उनकी यायावरी

पूर्व-नियोजित नहीं होती। कोई नहीं जानता, वे कब और कहाँ होंगे जबकि मेरा हर क्षण उजागर रहता है। मैं जीवन में जितना व्यवस्थित रहा हूं, वे उतने ही अव्यवस्थित। व्यवस्था व्यक्ति को दुर्बल करती है जबकि अव्यवस्थित रहने का अपना ही एक रोमांस है। कभी कभी मैंने भी उसका आनन्द लिया है और पाया है कि वह सचमुच शक्ति है विशेषकर स्रजन की शक्ति। मैं जितना प्यार बटोर पाया हूं, बाबा उससे हजार गुना अधिक बटोर चुके हैं। अनायास ही मैं कई बार उनके मेजबानों से टकरा गया हूं। तब मुझे उनसे ईर्ष्या हुई है।

बाबा राजनीति में आकण्ठ डूबे है। आन्दोलन, प्रदर्शन, जेल कुछ नही छूटा उनसे। उसी को लेकर उनका व्यक्तित्व घनघोर रूप से विवादास्पद हो उठा है। न जाने कैसे-कैसे अपवाद उठते रहते हैं उनको लेकर। कोई भी व्यक्तित्व द्वन्द्व रहित नही होता। कहा न कि उसी द्वन्द्व मे से व्यक्ति सृजन की शक्ति पाता है। जो हम मानते है या मानना चाहते है, यह आवश्यक नही कि उसी प्रकार जी भी सकें। यही द्वन्द्व है। जयप्रकाश नारायण जी के आन्दोलन मे बाबा ने सक्रिय भाग लिया। मैं विश्वास नहीं कर पा रहा था। टी हाऊस के बाहर खड़े-खड़े एक दिन पूछ लिया मैंने, 'क्या सचमुच आप इस आन्दोलन मे विश्वास करते हैं ?' बोले सहजभाव से, 'हा, इस सीमा तक तो करता ही हूं कि उन्होने महारानी के सिंहासन को हिला दिया है।'

और वे बिहार गये। पूरी शक्ति के साथ उस आन्दोलन मे भाग लिया। सरकार से पेंशन आदि जो भी मिलता था, उसे त्याग दिया। जेल भी गये। कुछ समय बाद सुना कि वे गम्भीर रूप से बीमार है। पूर्ण स्वस्थ तो वे कभी रहे नहीं। दमा उनका चिरसंगी है। तब मेरे मन में आया था कि बिहार जाकर जेल में मिलूं उनसे कि तभी सुना वे छूट गये है और उन्होंने एक वक्तव्य दिया है कि 'मैं गलती से वेश्या की गली में भटक गया था।' चाहा कि फिर एक लम्बी बहस करूं पर उतना समय मिला ही नही और वे अपवादों से घिरते गये। उत्तर प्रदेश के सम्मान को प्रधान मन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथों से स्वीकार करके उन्होंने उन अपवादो को और सघन हो जाने दिया। पुरस्कार स्वीकार करना महत्वपूर्ण है। किसके हाथों से वह लिया जाता है, यह कोई अर्थ नहीं रखता। पुरस्कार उसके देने वाले से अलग कहा है ? राज्य के सम्मान को कोई भी व्यक्ति दे, वह रहेगा राज्य का ही।

लेकिन इन सारे प्रवादों-अपवादों के बीच बाबा उसी सहज गति से अपने गन्तव्य की ओर बढते रहते है। वह बढना ही उनकी सफलता का रहस्य है। यूं तो अनेक बार काफी हाउसों मे गप्पें हांकी है। सभा-सम्मेलनो मे भी साथ हुआ है पर इतना लम्बा साथ कभी नही रहा कि दिन दो दिन बातें हो सकतीं 'बलचनमा' की, 'वरुण के बेटे' की, 'रतिनाथ की चाची' की और कालिदास

से बाबा बताना चाहते है कि स्रजक कब सही अर्थों में स्रजक बनता है। एक दिन न जाने किस सन्दर्भ में मैंने उनसे यह बात कही तो उन्होंने न केवल सारी कविता सुना दी बल्कि वहीं बैठ कर उसे लिखा और हस्ताक्षर करके मुझे दे गये। आज भी वह मेरी कापी में चिपकी हुई है। जब भी मन करता है, गुनगुना उठता हूं :—

कालिदास सच सच बतलाना
इन्दुमति के मृत्यु शोक में
अज रोया या तुम रोये थे
कालिदास सच सच बतलाना ··
उन पुष्करावर्त मेघों का
साथी बन कर उठने वाले
कालिदास सच सच बतलाना
पर पीड़ा में पूर पूर हो
थक थक कर औ चूर चूर हो
अमल धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर तुम कब तब सोये थे
रोया यक्ष कि तुम रोये थे
कालिदास सच सच बतलाना···
यह व्यंग्य नही है। अनुभूति की पीड़ा है इसमें।

बाबा की कविता की यही विशेषता है। देखने मे अनघड़, अटपटी और अर्थहीन लगती है पर उसी सहज सरल भाषा में बिम्ब रचना करके वे ऐसे भाव अंकित कर जाते हैं जो, यद्यपि न तो चौंकाते हैं, न उनमें कोई विशेष चमत्कार दिखाई देता है लेकिन अर्थवहन करने में वे अद्‌भुत रूप से सक्षम होते हैं। 'कई दिनों तक' इस कविता में पहली चार पंक्तियों में 'कई दिनों तक' और अन्तिम चार पंक्तियों में 'कई दिनों बाद' वाक्य खण्ड के प्रयोग द्वारा उल्लासहीनता और उल्लासमयता का जो वातावरण प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त प्रभावशाली है :

कई दिनों तक चूल्हा रोया चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उसके पास।
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त॥
दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुआं उठा आंगन के ऊपर कई दिनों के बाद।
चमक उठी घर भर की आखें कई दिनों के बाद॥
कौए ने खुजलाई पांखें कई दिनों के बाद।

साहित्य ही नहीं, निजी जीवन में भी बाबा की शक्ति व्यंग्य में निहित है। वे बातों ही बातो मे गहरी चोट कर जाते है और फिर खिलर-खिलर हंस देते हैं। उस दिन वह मेरे घर पर बैठे हुए थे कि मेरी अल्पवयस्क बेटी और भतीजियाँ बालिगों की फिल्म देखने को आतुर हो उठी। प्रबन्धकों की आँखों मे धूल झोंकने के उद्देश्य से उन्होने साड़ियाँ पहनीं और चल पडीं। बाबा ने देखा, मुस्कराये और उत्फुल्ल स्वर मे बोले, 'ये उदीयमान वृद्धाएं कहा चली?'

बच्चियाँ हंसती हंसती तेजी से जीना उतर गयी। उस दिन की एक और बात मैं नहीं भूल पाता। सर्दियो के दिन थे। हम खा-पीकर ऊपर के कमरे में आराम करने चले गये। जिस समय वे लिहाफ मे लिपटे सो रहे थे, मेरी दृष्टि उन पर गयी। देखता रह गया—सहज सरलता, निरीहता और निश्चिन्तता के मिले-जुले भाव थे उनके चेहरे पर जैसे दिन भर के परिश्रम के (खेलकूद शरारत के) बाद बच्चा माँ की गोद मे (शरण मे) सो रहा हो।

क्या सब कुछ के बावजूद यह उनकी आन्तरिक तृप्ति का साक्षी नहीं हो सकता? मनुष्य चरित्र बड़ा जटिल है पर उस जटिलता के पीछे कहीं न कही उसकी निरीहता भी झांकती रहती है। वह निरीहता पराजय से नहीं, बाल सुलभ निश्चिन्तता मे से जन्मती है।

रचनाकार का बाहृय कभी तृप्त नही होता, इसलिये बाबा की यात्राएं भी, भौतिक और वैचारिक दोनो कभी नहीं रुक सकती।

मेरी जिन्दगी एक मुसलसल सफर है
जो मजिल पै पहुंचा तो मजिल बढा दी।

जिस बाबा नागार्जुन को मैं जानता हूँ, वह यही है और सब अपवादों-प्रवादों के बावजूद इस व्यक्तित्व ने मुझे सदा आकर्षित किया है, करता भी रहेगा क्योंकि मैं व्यक्ति को उसकी समग्रता मे ही ग्रहण कर सकता हूँ, अंशों में नहीं।

दूसरा कबीर

—प्रभाकर श्रोत्रिय

कभी यहाँ…कभी वहाँ… बाबा का कोई ठौर ठिकाना नहीं है। अभी पटने में हैं, फलां दिन अलमोड़े में होंगे, हफ्ते भर बाद वाराणसी या कहीं और। खण्डवा में कविता पढ़ रहे हैं, कल भोपाल स्टेशन से गुजरेंगे, चौमासा विदिशा में काटेंगे… कलकत्ते जा रहे हैं गांव की धूल फाक रहे हैं, शहर मे अमरूद खा रहे हैं !…

एक दिन अलस्सुबह बाबा नागार्जुन बुजुर्गवार त्रिलोचन के साथ मेरे घर आ धमके। पहले से कोई खबर न थी। कड़ाके की ठण्ड, अभी आँख ठीक से खुली भी न थी और दो-दो बाबा दरवाजे पर। मैं स्वागत-सत्कार की हलचल में आ गया, तो बोले—'चाकू और प्लेट ला दो।' —क्यों ?' बाबा झोले में अमरूद लाये थे। अमरूद और ठण्ड में सुबह-सुबह ! मुझे परेशान देखा तो बोले—'हां, यह दमे का इलाज है, हमेशा सुबह अमरूद खाना चाहिये, सेहत के लिए।' अपना आतिथ्य अतिथि स्वयं लाये थे, जाहिर है आतिथेय वे थे और मैं अपने ही घर में अतिथि। बाबा की यही बानक है, हर कहीं।

आजन्म प्रवासी। शायद इसीलिये हर एक का घर उनका अपना है। अपने घर में तो गौने के तीन-चार माह बाद ही निकल पड़े थे; बरसों आश्रमों में, अखबारों के दफ्तरों में, विहारों में भटकते रहे, किसान आन्दोलन के साथ हो गये तो जेल की हवा खानी पड़ी। पिता ने सीधे जेल से ही उन्हें गिरफ्तार किया और घर लाये, लेकिन कितने दिन रुकते ! फिर बहाने से बाहर। सत्तर की उम्र पार कर लेने पर भी बाबा यायावरी से नहीं थके, आज भी उनमें बच्चों जैसी चंचलता है, जवानों जैसी आग है, ये बूढ़े कब होंगे ! यात्री शायद कभी बूढ़ा नहीं होता, लोग ठहर जाते हैं तो जवानी में ही बूढे हो जाते हैं।

यह कैसी खोज है ? कौन सी बेचैनी है आखिर ? राहुल जी भी इसी तरह बेचैन रहे जिन्दगी भर। कबीर दास भी। हिन्दी की यह घुमक्कड़ बृहत्त्रयी है। इनमें से कोई सार्थवाह नही। केशवानन्द जी ने जब लंका जाने से रोकना चाहा तो नागार्जुन ने इस तरह कहा कि और कुछ जानूंगा तो लोगों का, देश का और भला कर सकूंगा।

'स्व' की खोज में नहीं भटक रहे हैं बाबा, उन्हें लोक-मंगल की तलाश थी। भारत की आत्मा खोजने के लिये गांधी जब निकले थे तो लोगों ने उनका मजाक उड़ाया था, कबीर का भी उड़ाया होगा, नागार्जुन को तो आज भी कुछ लोग गम्भीरता से नहीं लेते। मगर जिसके भीतर एक अदम्य आग जलती रहती है, वह कहां परवाह करता है उपहासों की ?

पिछले चालीस सालों में हिन्दुस्तान की जो राजनीति रही, समाज की, गरीब आदमी की जो हालत रही, जितनी तरह के अपघात आदमी के साथ हुए और दुनिया के नक्शे पर भी जो ऊधमें मचाई गई – वे सब या उनमें से अनेक नागार्जुन की कविताओं और उपन्यासों में एक चित्रशाला की तरह देखी जा सकती हैं—चित्रों के मुर्दाखाने की तरह नही, साक्षात्कार की चेतना से सम्पन्न दस्तावेजों की तरह। इनमें नागार्जुन की तकलीफ, घृणा, क्रोध, उत्तेजना और बदलाव की तीव्र आकांक्षा एक अग्नि-पिंड की तरह दहक रही है।

क्षण भंगुर कविता मे समय कैसे व्यंग्य करता और नारे लगाता है ? क्लासिक्स क्या होता है ? सामयिकता रचना में कैसे कालजयी होती है ? भाव और शब्द-सम्पदा के वास्तविक स्रोत कहां-कहां होते हैं ? संवेदन, संपृक्ति, अतीत, वर्तमान, राग, विद्रोह, प्रकृति, गांव, शहर, जनता और व्यक्ति रचना में कैसे सार्थक हस्ती हो जाते हैं ? आधुनिकता किस बला का नाम है ? कवि और कविता का व्यक्तित्व किन सक्रियताओं के चलते अभिन्न होता है ? —यह सब नदी की तरह बहती, उफनती, कूल-किनारों को सरसब्ज करती नागार्जुन की कविता बेहतर बता सकती है।

नागार्जुन व्यक्ति नहीं है, एक समूचा जन-चरित्र हैं। किताबी लोग दबी जुबान से—और कई बार खुले तौर पर भी—नागार्जुन की धुरी हीनता पर आसान टिप्पणी कर देते हैं और वे लोग जो उनकी विसगतियों या मार्गांतरणों को कुछ अपवाद सी पंक्तियों की टोह लेते, छिपाने की कोशिश करते हुए समझते हैं कि इन तमाम विचलनों से इंकार करते हुए कवि का पक्ष मजबूत कर रहे हैं, वे भी नागार्जुन के गलत मूल्यांकन के जिम्मेदार हैं—और ज्यादातर वे ही। क्योंकि हितैषियों को गलत कैसे कहा जा सकता है ? जबकि नागार्जुन इसीलिये नागार्जुन हैं कि वे जनता के विवेक का ही नहीं उसके आवेशों का भी, उसकी खूबियों का ही नहीं, कमजोरियों का भी, शाश्वत का ही नहीं तत्काल का भी, शोषण का ही नहीं राग और सौंदर्य का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। कई बार वे उन अभिजात्यों की प्रशंसा और आदर भी करते है जिन्होंने जीवन के ऊंचे मानक कायम किये हैं और कला, सौंदर्य तथा विचारो को समृद्धि दी है। वरना मेघदूत, गीत गोविंद, विद्यापत्ति, गांधी, महावीर और गौतम बुद्ध मे उनकी आस्था क्यों होती ? कथित नासमझियों का भी जनता के लिये मूल्य है क्योंकि वह पोथी पढ़कर नहीं खुद चलकर सीखती है। जनता

से सम्पृक्त कवि जो हर कदम पर उसके साथ है, उन लोगों की तुलना में उसे अधिक आश्वस्त करता है (और सिखाता भी है) जो ऊँचे-ऊँचे सिंहासन पर बैठकर उसे उपदेश देते है और पग-पग पर आत्महीनता से ग्रस्त बनाते हैं। नागार्जुन—हर तरह की चौखट से इन्कार का नाम है। इसलिये उन्हें किसी खेमे में बांधने की जरूरत नही है। वे दरअसल बौद्ध नहीं हैं, करुणा द्रवित मनुष्य हैं; वे कम्युनिस्ट नहीं हैं, प्रगतिशील हैं; वे ज्ञान और संस्कृति के सार्थवाह नही हैं, लोकाकांक्षा के सहचर हैं। शायद इसीलिये नागार्जुन का कर्म-क्षेत्र और काव्य-क्षेत्र परिपाटीजनित दृष्टि के लिये अनेक तरह के बेमेलों, विरोधों और करणीय-अकरणीयों का घालमेल है।

पहले भी एक ऐसा कवि और आदमी हुआ था—कबीर। सारे धार्मिक पाखंडों और आडम्बरों की भर्त्सना करने वाले कबीर, वर्णकट्टर रामानन्द के शिष्य होने को क्यों व्याकुल हुए ? और सीढियों के अन्धेरे में सर पर पैर रखने से क्यों कृतकृत्य हुए ? धर्माचारो की खिल्ली उड़ाते हुए क्यों परम आध्यात्मिक हुए ? शब्द और पोथी को बेकार मानते हुए भी औपनिषदिक वेदांत के मध्यकालीन प्रवक्ता प्रतीत हुए ? कहीं तो लगता है कि वे नास्तिक चार्वाकों के तद्युगीन संस्करण हैं और कहीं लगता है कि वे नचिकेता और ऐतरेय के संस्करण हैं। फक्कड़ कबीर की भाषा, चिन्ता और कहन में बहुत सा बेमेल मिला हुआ है। क्योंकि वे बहुश्रुत थे, सन्त और लोक-समागम करते थे, 'आखिन' की देखी कहते थे। नागार्जुन भी बहु-पठित हैं, लोक-जीवन से सीधे जुड़े हुए हैं। दोनों लोक साक्षात्कार को सिद्धान्तों से गलत नहीं करते। सिद्धांतों और जुड़ावों से मिलने वाले लाभों की वजह से सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। भय या लोभ में पड़कर घाघ लोगों की तरह, दोनों ने सयानापन नहीं दिखाया। इसीलिये अवसर पंडितों की समझ से यह बात बाहर है कि आखिर नागार्जुन का 'स्टैंड' क्या है ? जैसे कि उन्हीं की भाति वे भी 'खड़े' हों। विजय बहादुर को, लिखे एक पत्र में कवि ने अपनी वास्तविक शक्ति का रहस्य प्रकट किया है जो उन्हें संघर्षशील जनता के विपुल बहुलांश से मिलती है। इसलिये जहाँ जो भी उन्हें इसके लिए उत्तरदायी दिखाई देता है वे बिना किसी समीकरण के उस पर टूट पडते हैं, फिर वह चाहे जो दल, व्यक्ति या देश हो। जिसने मां पर अत्याचार करते अपने बाप तक को न बख्शा हो, वह किसी और को जनता पर अत्याचार करने के लिये क्यों बख्शेगा ?

लेकिन हर कोई दलबदलू या भ्रांत व्यक्ति नागार्जुन नहीं हो सकता। क्योंकि बाबा के किसी बदलाव या अटकाव में समझौता या लाभ की स्थिति कभी नहीं रही। उल्टे हर बार उन्हें ऐसा करने पर खतरे ही उठाने पड़े। वे आलोचकों, दलीय लोगों और सत्ता सामन्तों की आँख में हमेशा खटके हैं। उन्हें पराधीनता के दौर में भी जेल में रहना पड़ा और स्वाधीनता के दौर में भी। उन्होंने तीसरी, चौथी और कई आजादियों की घोषणा की है, लगता है हर आजादी की पराधीनता में वे कैदी ही बने रहेगे। क्योंकि लोक की स्वतन्त्रता का संघर्ष अनन्त होता है। इसलिए

ऐसे लेखक की त्रासदी का भी कोई अन्त नही हो सकता । आपातकाल के दौर में एक बार एक विख्यात वामपंथी आलोचक ने त्रिलोचन से कहा था कि नागार्जुन गुमराह हो गये हैं, तो त्रिलोचन ने सव्यंग्य कहा कि 'हां, क्योंकि राह तो सिर्फ कुर्सी की ओर ले जाती है ।' लोक चेतना के पक्षधर प्रगतिशील भिक्खु नागार्जुन, लाभान्वेषी राहगीरो को तो गुमराह ही लगेंगे ।

मैं बाबा की तमाम बिसंगतियों और मार्गांतरणों से इन्कार नही करता और न उनका औचित्य दिखाना चाहता हूं । लेकिन मैं उन्हे भारतीय जनता के उत्पीडन, आकाक्षा और समकालीन मनोवृत्ति का सच्चा प्रतिबिम्ब मानता हूं और उनकी सम्पूर्ण अलोचना और आक्रमणो या पक्षधरताओं को ऐसे किसी समझौते की खाल मानने से इकार करता हू जो दोमुंहेपन की जिन्दा मिसालें है । क्योकि बाबा की रचनाओं तक पहुंचने की पहली शर्त ही यह है कि सिद्धातों और संगतियों को जनता क सन्दर्भ मे निर्वसन पहचानें । मेरी आलोचक बुद्धि कई बार कहती है कि तुक जोड़ने वाली, सपाट, चलतू और सामयिक कविताओ को गम्भीरता से लेने की क्या जरूरत है ? लेकिन मेरा लोकान्वेषण कहता है कि—है । क्योकि यह कवि सिर्फ यही नहीं चाहता कि वह जनता के बारे मे लिखे, बल्कि वह अपने कवित्व की कीमत देकर भी ऐसी कविता करना चाहता है, जो उस जनता तक पहुंचे जिसके बारे में वह लिख रहा है, इसलिये उसका मुख्य सघर्ष यह रहा है कि वह ऐसे मुद्दे तलाशे ताकि उसकी कविता साधारण, अपढ़, कष्ट भोगती जनता की कबिता बन सके । नागार्जुन जैसे विद्वान् और काव्यमर्मज्ञ प्रतिभाशाली कवि के लिये यह कितना कष्टसाध्य काम होता होगा—इसे सिर्फ वे ही जान सकते हैं । साधारण तुक्कड़ कवि के लिये जो चीज सहज प्रतिभाहीनता का आत्म-प्रदर्शन भर होता है, वही एक मर्मज्ञ कवि के लिए कितनी सांसत की बात होनी है ? इस नाते लोक भापा में लिखने वाले तुलसी का संघर्ष कबीर से बड़ा था क्योंकि वे सस्कृत के पंडित भी थे और अवधी में लिखकर गंवार माने जाने का उन्हें पूरा खतरा था जबकि पण्डितों के बीच पुजने वाली भाषा उनके लिये हाथ में रखा आवला थी । इसलिये तुलसी या नागार्जुन जैसे कवि के मूल्यांकन की कसौटी उनकी सहज और सपाट अभिव्यक्ति नहीं होगी, वरन् सहजता के पीछे छिपे कठोर संघर्ष के बहाने अभिप्राय की उत्कटता और उस उत्कटता से उत्पन्न रचना का ऐसा मर्म होगा जो सहजता को भी गहराई बनाता है ।

नागार्जुन ने कविता का साम्राज्य अक्षुण्ण रखकर जनता से ऊपर उठने की मांग नहीं की, बल्कि वे खुद ज्ञान की सहजता सहित जनभूमि पर उतरे हैं । उन्हें यह चिन्ता नही रही कि उनकी कविता का क्या बनता है, वे चिंतित थे कि उससे जनता का क्या बनता है । इसलिये नागार्जुन के सम्पूर्ण व्यक्तित्व, प्रयोजन और संघर्ष को देखते हुए उनके काव्य का मूल्यांकन भिन्न स्तर पर करना होगा, भले इसके लिये काव्य प्रतिमानों की बलि ही क्यों न देनी पड़े । जाहिर है कि कविता के

मूल्यों की ऐसी बलि प्रतिभाहीन, सतही, अज्ञ और तुक्कड़ कवियों के लिये नहीं दी जा सकती।

हर समझदार पाठक जानता है कि वे नागार्जुन ही हैं, जिन्होंने 'नीम की दो टहनियां', 'अकाल और उसके बाद', 'बहुत दिनों के बाद', 'बादल को घिरते देखा है', 'चंदना', वे और तुम' जैसी कविताए भी लिखी हैं जो कविता पारखियों के लिये भरपूर कवित्व का कारण हैं। नागार्जुन की तुक भी कोई तुक नहीं है और व्यंग्य कोई मसखरापन नहीं है। इनमें एक तल्खी, सम्प्रेषण की एक प्रक्रिया, और खिलवाड़ों का विद्रूपीकरण है। नागार्जुन जानते हैं कि किस कविता को तुरन्त फसल काटनी है और कैसे काटनी है और किस कविता को ऊंचे पेड़ की शक्ल में खड़ा होकर फल देना है ? यहां तक कि उन्होंने कई कविताएं जन-प्रसार के लिये पोस्टर और पर्चों की शक्ल में छपवाकर लोगों में वितरित की हैं। उन्होंने रेलों और बसों में अपनी छोटी-छोटी किताबें बेची हैं। जिनके भीतर यह आग न हो, यह समझ न हो, ऐसी उदग्र प्रतिभा न हो और ऐसी विज्ञता न हो, वे कृपाकर यह न समझें कि नागार्जुन हो गये हैं ! और उनकी कविताओं का मूल्यांकन नागार्जुन की तरह होना चाहिये। एक जीवित और समकालीन कवि का पूरा चरित्र हमारे सामने होता है, और वह भविष्य में भी मूल्यांकन का आधार होता है। जन कवि को भले लोग अपने समय में ठीक से आंक न पायें, लेकिन उनका दस्तावेजी व्यक्तित्व और जन-प्रभाव आगामी समयों को बताता है कि वे साक्षात्कारी कवि थे, उन्होंने समय को अपनी आंखों से जांचा और भोगा था। जनता के आघातों, त्रासों और शोषण के कारणों को पहचाना था इसलिए वे अपने युग के प्रासंगिक कवि थे।

नागार्जुन की अनेक राजनीतिक और सामयिक कविताएं हालांकि अक्सर सतही और सपाट हैं। वे उस हद तक इतिहास बनकर रह जायेंगी, लेकिन समाज के तत्कालीन उद्वेलन के लिये वे जरूरी कविताएं हैं जिनकी सार्थकता वहीं खत्म हो जाने में है जहां वे अपना जनोद्देश्य पूरा कर लेती हैं और जनता की चेतना को जाग्रत करती हैं। इस दृष्टि से नागार्जुन सर्वहारा जनता के प्रतीक और जीवंत कवि-साथी हैं। इस जनता के लिये दिशा और बेहतरी की अनवरत खोज में एक त्वरा और दुनियादारी से बेखबरी (यानी अपने आप से बेखबरी) नागार्जुन की कविता और व्यक्तित्व का सार है।

लेकिन, नागार्जुन केवल उन्हीं रचनाओं के लेखक नहीं हैं जिन्हें लेकर उनके कवि-व्यक्तित्व का एक माहौल बनाया गया है। उन पर ज्यादातर बहिर्मुख आलोचना हुई है और किसी गहरी आभ्यंतरिक दृष्टि से उन्हें पहचानने की कोशिश न के बराबर की गई है जबकि वे गहन संवेदना और व्यापक आयामों के कवि भी हैं। प्रेम, वियोग, प्रकृति, सौंदर्य और अनेक कोमल-कठोर प्रसंगों, भावों और उदासताओं से नागार्जुन का काव्य और रचना-जगत सराबोर है। हालांकि उनकी समस्त रचना-दृष्टि, लोकोन्मुख रही है। वे मन या सर्जना की चाहे जिस ऊंचाई पर हों, चाहे जहां से उन्होंने विषय-वस्तु उठाई हो, उनका सहज संवेदित लोक-मन

उसमें सक्रिय रहता है। जैसे 'चंदना' कविता उस नारी से सम्बन्धित है जिसका उद्धार महावीर ने किया था, लेकिन इसका सम्बन्ध उसके जैन श्राविका बनने से या जैन धर्म से या महावीर का व्यक्तित्व उभारने से नही; एक दासी पुत्री के तीव्र उत्पीड़न और उस उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने की मानवीय संवेदना से है। पिछले दिनों उन्होंने जेल में अपने प्रिय सहचर 'नेवले' पर बहुत लम्बी और अच्छी कविता लिखी। उसमें भी कोमल और संवेदित मनोकामना है (और विचित्र हार्दिकता है)। जेल के साथियों के साथ अपने आप प्रेम में गिरफ्तार हो गये। इस प्राणी की साहचर्य भावना से उन्होने अनेक वृहत्तर सवालों का अनायास स्पर्श किया है जो शायद जेल की त्रासदी, संस्मरणों या जनता के लिये संघर्ष करने वालों को जेल में डाल देने के विरोध मे लिखी तेज तर्रार कविताओं से भी प्रकट नहीं की जा सकती थी।

'मोतिया ओ : ओ : ओ : मोतिया ! मोतिया !! / हां इसी तरह बड़ों की बात मानते है—/ इन्सान तो क्या हैवान तक निगाहें झुकाकर / करीब सरक आते हैं : हां इसी तरह बिल्कुल इसी तरह—/ कम से कम घण्टाभर तो अभी आराम कर ले इस बूढ़े बन्दर की गोद में।'

नागार्जुन ने आत्म भर्त्सना के बहाने अपनी पत्नी के प्रति जिस मार्मिक प्रेम की व्यंजना की है उसमे भी एक स्त्री की सम्पूर्ण गरिमा और कर्तव्यनिष्ठा का ही स्तवन है। प्रकृति को लेकर उन्होंने अक्सर वर्षा पर कवितायें की है क्योंकि बरसात ग्रामीण जनता की जीवन-आशा है। शायद इसीलिये कालिदास का मेघदूत उनके मन में बेहद रमा हुआ है। वह एक प्रेयसी से विछोह की यातना ही नहीं, जन-जीवन का व्यापक सर्वेक्षण और उसकी अंतरंगता का काव्य भी है। खेती-किसानी से जुड़े कवि का मेघ से जुड़ना भी स्वाभाविक है और वियोगी कवि का मेघदूत से भी। सांस्कृतिक मूल्यों की उदार समावेशिता ने नागार्जुन जैसे घुमक्कड़ से काल की यात्रा भी कराई है और वे उसकी अनुकूलता और प्रतिकूलता का दूसरों के मुकाबले ज्यादा सार्थक इस्तेमाल कर सके हैं—मसलन 'मन्त्र कविता' में आहुति मन्त्रों का इस्तेमाल या 'कालीमाई' कविता में काली के मिथक में नवीन अर्थ-योजना के माध्यम से शोषण और क्रूरता का जीवन्त खाका खींचने वाली कवितायें। नागार्जुन इसके सच्चे अधिकारी भी हैं। इसी मौके पर याद आती है उनकी कविता 'प्रतिबद्ध हूं'। इसमें जैसे नागार्जुन ने अपने व्यक्तित्व और सृजन की सारी सीमाओं और विस्तार को खोलकर रख दिया है। वे कहते हैं—

'प्रतिबद्ध हूं, जी हां प्रतिबद्ध हूं—/ बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त / —संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ···/ अविवेकी भीड़ की "भेड़ियाधसान के खिलाफ···/ अंध-बधिर'··· 'व्यक्तियों' को सही राह बतलानेके लिये···। अपने आपको भी व्यामोह से बारम्बार उबारने के खातिर··· प्रतिबद्ध हूं, जी हां शत प्रतिशत प्रतिबद्ध हूं /'

\+ + + + +

'सम्बद्ध हूं, जी हा सम्बद्ध हूं—सचर-अचर सृष्टि से....।'......

+ + + + +

'आबद्ध हूं, जी हा आबद्ध हूं—स्वजन परिजन के प्यार की डोर में....।'...

•• 'तीसरी चौथी पीढियो की दतुरित शिशु सुलभ हास मे ... लाख-लाख मुखड़ों के तरुण हुलास मे'•••इसी कविता में नागार्जुन ने कहा है कि मै राग, द्वेष, क्रोध, घृणा, हर्ष, शोक, उमंग, निश्चय-अनिश्चय, संशय, भ्रम, क्रम-व्यतिक्रम, निष्ठा-अनिष्ठा, आस्था-अनास्था, संकल्प-विकल्प, जीवन-मृत्यु, उत्थान-पतन, प्रकाश-तिमिर, दंभ अणु-महान काल-महाकाल, शून्य-महाव्याप्ति, अथ–इति, अस्ति-नास्ति, रूप-रस-गंध-स्पर्श शब्द, गति-अगति, प्रगति-दुर्गति, यश-कलक सबसे सम्बद्ध हूं।'

यह कविता स्वयं में नागर्जुन के व्यापक आयामों की ओर इशारा करती है। यह सब उनकी अपनी स्वीकारोक्तिया या औपचारिक बयान नही है, उनके व्यक्तित्व और रचना का भी सत्य है।

एक बड़ा कवि न तो पालतू रह सकता है, न किसी सीमा मे आबद्ध रह सकता है। वह सारी प्रतिबद्धता, आबद्धता या संबद्धता को अपने लिये चुनता है और उनके जरिये लोक, समय और मानवीय कर्त्तव्य से जुड़ता है। इन्हीं के सहारे वह इनका अतिक्रमण भी करता है। कबीर ने भी यही किया और नागार्जुन ने भी। सब कुछ भोगते हुए और सबसे बंध कर भी उनसे बाहर आ खड़े होने का साहस दोनों मे है। अपने घोर कठमुल्ला युग में धर्म और पाखण्ड के ठेकेदारों ने, समाज और राजनीति के सरमायेदारों ने कबीर को नहीं चाहा, लेकिन जनता उनसे प्यार करती रही, क्योंकि वह भी भोगने को अतिक्रमित करना चाहती थी। नागार्जुन के साथ भी यही होता रहा है। शास्त्र-वास्त्र और भाषा-वाषा का पाण्डित्य दोनों को रास नहीं आया। कबीर का कोई धर्म, कोई जाति नहीं थी और नागार्जुन की भी। पिता का दिया हुआ नाम तक उन्होंने त्याग दिया—अनाम 'यात्री' की तरह वे लिखते रहे। बौद्ध विहार में जो नाम उन्होंने चुना तो वह भी एक खोजी का था। कविता की शाश्वतता दोनों की चिन्ता का विषय नहीं रही। तब भी क्या कबीर और नागार्जुन की बेध कर हमारी आत्मा को आज भी बेधते नही हैं? एक आग नहीं जलाते हैं? जो चीजें जनता को उलझाती थीं, भीरु बनाती थीं, सत्य के मार्ग में अवरोध पैदा करती थीं, उन्हें हिम्मत के साथ कबीर ने भी कहा और नागार्जुन भी कहते चले आ रहे हैं। लोक-चिंता के अलावा कबीर का एक ज्ञान और राग-मार्ग भी था, नागार्जुन की कविता का भी एक राग पक्ष है, लेकिन दोनों का राग और ज्ञान आत्मभोगी न होकर लोक को ही एक उदात्त भूमिका देने का मार्ग है। दोनों के भीतर महा करुणा है, जो आत्म वंचना से नहीं, आत्म-पीड़न की पराकाष्ठा से उत्पन्न होती है।

नागार्जुनः सोच और संवेदना

—राणाप्रताप सिंह

गर्मी का मौसम। शाम का वक्त और विधायक क्लब का एरिया। दिन भर की धूप और धूल से ऐसे ही मन उखडा-उखड़ा रहता है। शाम होते ही कमरे से बाहर निकलने की इच्छा उफान मारने लगती है। उस दिन शायद 'काफी हाउस' बंद था। इसलिये बाबा ने कहा—"चलो, आज स्टेशन की ओर घूम आयें। कुछ बंगला पत्र-पत्रिकाएं भी खरीदनी हैं।"

मैने कहा—"चलिये।" और तैयार होकर साथ हो लिया। उस दिन उनका 'दमा' भी काबू मे था और मूड भी गुलाबी था। इसीलिये उन्होंने रिक्शा लेने से मना कर दिया और कहा—"चलो, आज पैदल ही मार्च किया जाय।"

हम दोनों बातचीत करते हुए आगे बढ़े। एक दम सहज मूड था उनका। अचानक उन्होंने कहा—"जानते हो राणा! हमको तीन बड़ी सुविधाएं मिली है।"

मैं चौंका! सुविधाएं! और आपको?

उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"पहले सुनो तो......"

मुझे लगा आज बाबा बहुत सहज मूड मे हैं। जरूर कोई रहस्य की बातें बतायेंगे जो मैं नहीं जानता। फिर मैं मन ही मन उनकी सुविधाओं पर गौर करने लगा। देखें, आखिर किस सुविधा की बात बताते है!

उन्होंने कहा—"पहली बात तो यह है कि हमारे पिता श्री मूर्ख थे। दूसरी बात, चूंकि पिता को हमारी चाची से प्रेम था, इसलिये वे 'गार्जियन शिप' से मुक्त थे। तीसरी बात, चाची बड़ी चालाक थी। उसने पिता को सिखा-पढ़ाकर काफी जर-जमीन बेचवा दिया था। ये तीन सुविधाएं सौभाग्य से मुझे प्राप्त हुई थीं।"

मैंने पूछा—"मगर इससे आपको फायदा क्या हुआ?"

"पहली सुविधा यह कि मैं क्या लिखता-पढ़ता हूं, इससे पिता को कोई मतलब नहीं था। कितना कागज बर्बाद करता हूं, लीपता-पोतता हूं, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं था। मैं आठवें वर्ग से ही लिखने लग गया था, दूसरे, चाची की प्रताड़ना के चलते मैं काफी पहले ही पारिवारिक मोह-माया से मुक्त हो गया

था। तीसरी बात यह कि अपनी प्रेमिका के कारण पिताश्री मुझे अपने से दूर रखना चाहते थे। इसीलिये वे मेरी पढ़ाई में कोई रुचि नहीं लेते थे। सोचते थे, ब्राह्मण का लड़का है, थोड़ा-बहुत पढ़ लिख लेगा तो पोथी-पतरा बांचकर खा-पी लेगा। ये तीनों सुविधाएं मेरे लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध हुईं।"

मैं उनकी पूरी बात सुनकर दंग था !

आज जब उन सुविधाओं के बारे में सोचता हूं तो दिमाग पर हथौड़ा ठन्-ठन् करके बजने लगता है। अक्सर लोग कहते है—"सुविधा प्रतिभा को खा जाती है। फलां को देखो, 'आकाशवाणी' में जाकर सड़ गया। फला को देखो, टाइम्स ऑफ इण्डिया में जाकर नष्ट हो गया। फलां को देखो, विश्वविद्यालय में जाकर कितना दीमक बन गया। बाहर था तो कितना अच्छा लिखता था। सचमुच सुविधा प्रतिभा को खा जाती है। यहाँ तक कि आदमी बाद में सिर्फ मिट्टी का लोंदा भर रह जाता है।

विश्वविद्यालय से निकलते ही मैंने आकाशवाणी में उद्घोषक के लिए आवेदन किया था। जब गंगेश गुञ्जन को इस बात की जानकारी हुई तो उन्होंने दो टूक कहा—"इतना जल्दी अपने को बर्बाद करने पर तुले हो ? अभी थोड़ा संघर्ष करो। रेडियो में ही आना है तो बाद में आना।" गुंजन की यह बात आज भी रह-रह कर दिमाग में 'हांट' करती है।

इस संदर्भ में बाबा ने भागलपुर की एक गोष्ठी मे कहा था—"साहित्य कर्म सबसे कठिन कर्म है। मैंने तो साहित्य को ओढ़ना और बिछौना बना लिया है। उठना-बैठना, सोना, लिखना-पढ़ना सब साहित्य के भीतर ही होता है। हमने अपने को साधा भी बहुत है। लेकिन आजकल नौजवानों की हालत बहुत अच्छी नहीं है। आज भागलपुर में दस नौजवान लिखने-पढ़ने वाले मिल जायेंगे। लेकिन चार वर्ष बाद आकर पता कीजिये कि फलां नौजवान कहां है तो पता चलेगा कि वह तो फलां जगह 'फारेस्ट आफीसर' हो गया है। यह तो हाल है साहित्य का। साहित्य की धारा बहुत तेज होती है न ? बराबर दोनों किनारों को काटती रहती है। ऐसी स्थिति में अपने आपको बचा पाना बड़ा मुश्किल होता है।"

ऊपर की तीन सुविधाएं और अपने को साधने की बात—दोनों को मिलाकर देखिये, अर्थ—अनुषंग खुलकर अपने-आप बाहर चले आएंगे। नागार्जुन ने हमेशा अपने-आपको नष्ट किया है—साहित्य-साधना के नाम पर अपने और अपने परिवार के लोगों की बलि चढ़ा दी है। इस बात से आप कतई इनकार नहीं कर सकते। इस बात की ताईद उनकी पत्नी अपराजिता देवी भी करेंगी और उनके लड़के भी। वैसे उनका जीवन खुली किताब तो है ही।

जन-कवि की कठिन साहित्य-साधना बहुत प्रारंभ से ही शुरू हो गयी थी। हालांकि काव्य-शिक्षा उन्होंने संस्कृत के माध्यम से ग्रहण की थी। उन्हीं

की बातचीत से जानकारी मिली, संस्कृत के काव्य-गुरु श्री अनिरुद्ध मिश्र एक महीने तक लगातार उन पर मेहनत करते रहे। समस्या लिखकर देते और उनसे पूर्ति करवाते। इस तरह महीने भर में ही वे चल निकले। मतलब यह कि सस्कृत में काव्य-रचना करने लगे।

इसी बीच किसी ने पूछ लिया—"बाबा, हिन्दी मे आपके काव्य-गुरु कौन है ?"

"हिन्दी में मैंने किसी को काव्य-गुरु नही माना। लेकिन मन ही मन निराला को काव्य-गुरु अवश्य मानते रहे। उनके पहले कबीर को काव्य-गुरु मानते हैं।"

जन-कवि की कठिन साहित्य-साधना की प्रक्रिया तो जरा देखिये। काव्य-शिक्षा संस्कृत के माध्यम से, लोकप्रियता हिन्दी कविता के क्षेत्र में और जनवादी मन की बनावट मैथिली की सोंधी गंध के साथ। ज्ञात हो, सर्वप्रथम उन्होंने मैथिली की दो पोथी (काव्य संकलन) बनारस जाकर छपवायी थी और उसे 'ट्रेनों' में गा-गाकर बेचते थे। इस बात को मैं उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना मानता हूं। इसी जनवादी-मन के कारण तो वे घर-परिवार, जर-जमीन की मोह-माया को त्यागकर 'बौद्ध-भिक्षु' बन सके और सहजानंद सरस्वती के आह्वान पर किसान-आंदोलन में जाकर मार भी खायी, जेल भी गये। इन घटनाओं की उनके व्यक्तित्व-निर्माण और रचना-प्रक्रिया में निश्चय ही अहम भूमिका रही है।

एक जन-कवि की सोच और संवेदना जनता की सोच और संवेदना से अलग नहीं होती। नागार्जुन इस बात का उदाहरण हैं। मुझे लगता है, यही कारण है कि कुछ कठोर आलोचक कहते रहे हैं कि नागार्जुन में वैचारिक दृढ़ता नहीं है। वे ढुलमुल कवि हैं। निश्चय ही जनता की सोच और संवेदना का कवि बंधे-बंधाये सिद्धांतों के पृष्ठ पोषक आलोचकों को 'ढुल मुल' दिखेगा। जब तक देश में कोई मजबूत, अनुशासित और क्रांतिकारी पार्टी नहीं है, तब तक जनता भी अनुशासित और क्रांतिकारी नहीं दिखेगी। फिर जनता का कवि किस प्रकार अनुशासित और क्रांतिकारी दिखेगा ? यह अंतर्विरोध सिर्फ कवि के विचारों का अंतर्विरोध नहीं है, बल्कि जनता और 'प्रगतिशील' पार्टियों के भीतर का अंतर्विरोध है। वैसे जन-कवि का 'स्टैंड' तो बहुत साफ है। स्वतंत्रता संग्राम के बीच भी नागार्जुन 'किसान-आंदोलन' के साथ थे, '74 के 'जन-उभार' में भी वे जनता के संग-साथ थे और आज भी 'कृषि-क्रांति' के समर्थन में लिखते हैं—

"खेतों में बंदूकें उगती टके सेर तो बम बिकता है।
क्रांति पास है, क्रांति दूर है, बुद्धू तुझको क्या दिखता है ?"

इतना ही नहीं, जिस कविता को उन्होंने अपनी सबसे प्रिय कविता कहा है, उसका भी जायजा लिया जा सकता है—

"उस भुक्खड़ के हाथों में बंदूक कहां से आई
एस० डी० ओ० की गुड़िया बीबी सपने में घिघिआई
नौकर जागे, बच्चे जागे आया आई पास—
एस० डी० ओ० साहब बाहर थे, घर मे बीमार पडी थी सास
नौकर ने कहा, नाहक ही डर गई हुजूर
अकाल वाला थाना तो पडता है बड़ी दूर।"

इस कविता के सबन्ध मे खुद उनकी राय है कि—कोई मुझ से अपनी संपूर्ण कविताओं में से सबसे प्रिय कविता चुनने को कहे तो मैं इसी कविता को चुनूंगा। क्योंकि इन छह पक्तियो मे जितना विस्तार और कोण समाया है, अन्यत्र मेरी ही कविताओ में नहीं आ पाया है। 'भुक्खड़ के हाथों मे बदूक', 'एस० डी० ओ० की गुड़िया बीबी', 'सपने में घिघियाना' 'एस० डी० ओ० का बाहर रहना' 'घर मे बीमार पड़ी थी सास' और अन्त मे नौकर के द्वारा कहा जाना 'अकाल वाला थाना तो पड़ता है बड़ी दूर'—इन छोटे-छोटे वाक्यों में पूरा विस्तार समाया हुआ है और एक साथ कई-कई अर्थों का द्योतक है।

अब, इसे जरा और गौर से समझें—बगल के थाने मे अकाल पड़ा है। लोग भूख से त्राहि-त्राहि करके मर रहे है। चारो ओर आतक छाया हुआ है। हर तबके के लोगो के मस्तिष्क मे अलग-अलग ढंग की प्रतिक्रिया होती है। एस. डी. ओ. साहब की गुड़िया बीवी अत्याधुनिका अपटूडेट बीवी रात मे सपने मे देखती है कि जिस इलाके में अकाल पडा है, उसी क्षेत्र का एक भुक्खड़ आदमी हाथों में बन्दूक ताने उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा है, यह देखकर वह चिल्लाने लगती है, मगर वह सोई हुई है, इसलिये उसकी आवाज घिघियाहट में बदल जाती है। सपने की अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और कलात्मक प्रस्तुति। उस घिघियाहट को सुनकर नौकर, बच्चे, आया सभी जग गये। इससे आप सहज ही अन्दाज लगा सकते हैं उसके डर और भय की चरमावस्था का। अफसर लोग अधिकांशतः दौरे पर ही रहते है और उनके यहाँ उनकी सास महाराजिन हुआ करती हैं। इस पंक्ति में व्यंग्य की अद्‌भुत तीक्ष्णता है। अन्त में किसी को कुछ नहीं सूझता तो नौकर ही समझाता है—'नाहक ही डर गयीं हुजूर, अकाल वाला थाना तो पड़ता है बड़ी दूर।' इस अन्तिम पंक्ति का मनोविज्ञान भी द्रष्टव्य है। अब, सोचिये, नौकर ने उसके डर का कारण तुरन्त समझ लिया। क्यों? कैसे हुआ यह सब? इसका भी विश्लेषण उन्हीं के शब्दों मे। निश्चय ही अकाल वाले थाने में भुक्खड़ लोग बन्दूक उठाने लगे होंगे, जिसकी सूचना दूसरे थाने तक पहुंच गई होगी। सम्भवतः इसी कारण एस. डी. ओ. साहब का बाहर जाना भी हुआ होगा और इधर उनकी गुड़िया-सी फूहड़ बीबी के मन की शंका, डर और भय। यही भय उसके मन में सपने का सृजन करता है और वह सोचती है, 'इस भुक्खड़ के हाथों में बन्दूक कहां

सेआई ?' मगर इस डर की बात को नौकर कैसे तुरन्त ताड़ गया ? यह एक सवाल है। मगर वर्गीय दृष्टिकोण से जरा विश्लेषण करें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। नौकर जानता है, एस०डी०ओ० साहब बाहर गये है, सम्भवत: अकाल वाले क्षेत्र मे उपद्रव हुआ हो, उसी क्षेत्र मे। पत्नी भी इस बात को जानती है। तभी तो उसके मन का डर उसके ऊपर खौफ बनकर छा जाता है। लेकिन नौकर की सोच और समझदारी देखिये, तुरन्त कहता है—'आप नाहक ही डर गई है हुजूर, अकाल वाला थाना तो पड़ता है बहुत दूर।'

'खेतों मे बन्दूकें उगतीं' अथवा 'इस भुक्खड़ के हाथो मे बन्दूक कहाँ से आई ?' पक्तियो के द्वारा क्या 'कृषि-क्रांति' का समर्थन नहीं किया गया है ? दूसरी पक्ति 'आ तेरे को सैर कराऊं घर मे घुसकर क्या लिखता है, के द्वारा क्या मार्क्सवाद के इस सोच को हल नही किया है कि—"साहित्य व कला के क्षेत्र मे काम करने वाले हमारे कार्य-कर्त्ताओ को अपना यह काम पूरा कर लेना चाहिये और अपना दृष्टिकोण बदल लेना चाहिये, उन्हें मजदूरो, किसानों व सैनिको के बीच और व्यावहारिक संघर्षों के बीच जाने की प्रक्रिया तथा मार्क्सवाद और समाज का अध्ययन करने की प्रक्रिया के जरिये कदम ब कदम अपने पाँव मजदूरों, किसानों और सैनिकों के पक्ष मे जमा लेने चाहिये, सर्वहारा वर्ग के पक्ष मे जमा लेने चाहियें। केवल इसी तरह हम एक ऐसे कला-साहित्य का सृजन कर सकते हैं जो सचमुच मजदूरों, किसानों और सैनिकों के लिये हो और सचमुच सर्वहारा वर्ग का कला साहित्य हो।"

इतना ही नहीं, बुद्धिजीवियों की भूमिका पर उन्होंने कहा था—"सुनो राणा! परसबिगहा और पिपरा काड पर बुद्धिजीवियों की एक बैठक होनी चाहिये। राजधानी की नाक के नीचे ऐसी अमानवीय घटनायें घट गयीं और पटना के बुद्धिजीवी चुप हैं। सभी बुद्धिजीवियों को किसी दिन सार्वजनिक स्थल पर बुलाओ।"

मैंने कहा—"सवाल है, इस बैठक को बुलायेगा कौन ? 'प्रगतिशील लेखक संघ' बुलाता है तो सभी लोग नहीं जुटेंगे। 'नव-जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा' बुलाता है तब भी सभी लोग नही जुट पायेंगे। आखिर बुलाया कैसे जाये ?"

उन्होंने जरा गुस्से में छूटते ही कहा—"आखिर विभिन्न खेमों में बटकर हो क्या रहा है ?"

एक ओर 'कृषि–क्रांति' का समर्थन करते हुए 'खेतों मे बन्दूकें उगाना और दूसरी ओर बुद्धिजीवियो के आपस में बंटे हुए होने पर क्षोभ व्यक्त करना, उनके स्पष्ट मार्क्सवादी सोच का परिणाम है। नहीं तो 'प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है' जैसी कविता को अपने सम्पूर्ण साहित्य का 'मेनिफेस्टो' नहीं बताते। प्रसंग इस प्रकार है : बाबा बनारस गये हुए थे। मैं और शोभाकांत साथ-साथ विधायक

क्लब में रह रहे थे। हम दोनों उन दिनों साहित्य मे भिड़े थे। शोभाकांत बाबा की रचनाएं छांटने और फेयर करने में लगे थे और मैं लू शुन की रचनाओं का अनुवाद कर रहा था। रात दो-दो बजे तक हम लोग काम करते। एक दिन शोभाकांत ने बिना शीर्षक की एक छोटी कविता दिखलाई और पूछा—"देखो तो कविता अधूरी है या पूरी ?"

मैंने कविता को पढ़कर चकित होते हुए कहा—"कविता, न पूरी है न अधूरी, बल्कि अद्‌भुत है।" और तत्काल मैंने उसे अपनी डायरी में नोट किया। शीर्षक दिया—'प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है।'

जब बाबा तीसरे दिन बनारस से लौटे तो मैं उन्हें 'सरप्राईज' देना चाहता था इसीलिये मैंने उनसे कहा—"मैं आपको एक अद्‌भुत कविता सुना रहा हूं, राय दीजिये कैसी है ?"

मैं एक ही सास में डायरी से पूरी कविता पढ़ गया। जब मैंने कहा— 'महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन' बाबा हंस पड़े। उन्हें याद नहीं रहा था, कब ऐसी कविता लिखी थी और कहां खो गई थी ! पूरी कविता सुनने के बाद उनका पहला वाक्य था—"यह तो नागार्जुन साहित्य का 'मेनिफेस्टो' है।"

उस 'मेनिफेस्टो' को मैं पूरा ही उद्‌धृत कर रहा हूं—

"नफरत की अपनी भट्ठी मे
तुम्हें गलाने की कोशिश ही
मेरे अन्दर बार-बार ताकत भरती है
प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है अपने ऋषि का
वियतकांग के तरुण गुरिल्ले जो करते थे
मेरी प्रिया वही करती है.........
नव दुर्वासा, शबर पुत्र मैं, शबर पितामह
सभी रसों को गला-गलाकर
अभिनव द्रव तैयार करूंगा
महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन—
अष्टधातु के चूरे की छाई में फूंक भरूंगा
देखोगे, सौ बार मरूंगा
देखोगे, सौ बार जियूंगा
हिंसा मुझसे थर्रायेगी
मैं तो उसका खून पियूंगा
प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है अपने कवि का
जन-जन में जो ऊर्जा भर दे
मैं उद्‌गाता हूं उस रवि का।"

जनवादी कवियों के खिलाफ हमेशा से, कलावादी खेमे की ओर से भाषा, शिल्प और संवेदना को लेकर सवाल उठाये जाते रहे हैं और उन पर 'प्रचार साहित्य' का लेबुल चिपकाया जाता रहा है। चूंकि विषय-वस्तु पर वे खुलकर आक्षेप नहीं कर सकते इसलिये भाषा, शिल्प और संवेदना, सौंदर्यशास्त्र की बात करते हैं। 'प्रतिहिंसा ही स्थाई भाव है', नागार्जुन के अनुसार ही समस्त नागार्जुन साहित्य का 'मेनिफेस्टो' है मगर क्या मजाल जो आप भाषा, शिल्प, संवेदना और सौंदर्य के किसी भी पहलू को लेकर इस कविता पर उंगली उठा सकें। तो यह होता है जनवादी कवि की रचनात्मकता और कविता का जनवादी सौन्दर्य।

शिल्प, भाषा, संवेदना और प्रचार को लेकर उनके विचार स्पष्ट हैं : पटना में एक बार हम लोगों के बीच कविता सुना रहे थे—'खेतों मे बन्दूकें उगतीं।' उसके बाद बात चल निकली कविता के शिल्प पर। उन्होंने स्पष्ट कहा—"शिल्प की कोई समस्या नही होती। नयी बात खुद नये शिल्प में ढलकर आती है। ओरिजनल बातें 'ओरिजनल शिल्प' मे ढलकर आयेंगी ही।" मतलब यह कि एक जनकवि के लिये शिल्प की समस्या कोई बहुत बड़ी समस्या नहीं होती। शिल्प पुराना हो अथवा नया—कोई फर्क नही पड़ता। विषयवस्तु अगर फिट बैठ रहा है तो अर्थ-अनुषंग विभिन्न रंगों मे अपने आप खिल उठेगा! यथा—

"जली ठूंठ की डाल पर गई कोकिला कूक।
बाल न बांका कर सकी शासन की बन्दूक॥

मगर भाषा के सम्बन्ध में हमेशा उनको सजग देखा है। कौन शब्द चलेगा और कौन नहीं चलेगा, इसका हमेशा उन्हें ध्यान रहता है। मैं अपनी कहानी 'नन्हे मुन्नों की फौज' उन्हें सुना रहा था। प्रारम्भ में ही एक शब्द आता है 'खैनी'। उन्होंने तत्काल कहा—"'खैनी' की जगह 'सुरती' शब्द डाल दो, ज्यादा व्यापक हो जायेगा। अधिक लोग समझ सकेंगे और 'चुटकियाना' शब्द की जगह 'मलना' डाल दो तो अधिक व्यापक हो जायेगा। भाषा ज्यादा सम्प्रेषणीय होनी चाहिये। सम्प्रेषणीयता के अभाव में भाषा निर्जीव हो जाती है।" सम्भवतः सम्प्रेषणीयता को ही ध्यान मेंरखकर उन्होंने लिखा था—

"क्या हुआ आपको ?
क्या हुआ आपको ?
सत्ता की मस्ती में
भूल गयी बाप को ?
इन्दु जी, इन्दु जी क्या हुआ आपको ?"

बाबा की यह 'मारक नुक्कड़ कविता' थी। आपात काल में जन-जन की जबान पे यह कविता चढ़ गई थी। छोटे-छोटे बच्चे तक कहते थे—'इन्दु जी, इन्दु जी, क्या हुआ आपको ? क्या हुआ आपको ? सत्ता की मस्ती में भूल गयीं

बाप को ?' तो यह थी भाषा की सम्प्रेषणीयता जिसके चलते कविता जीवित हो उठी थी और जन-जन के हित मे काम आ रही थी।

इसी प्रकार प्रचार और साहित्य को लेकर उनका दृष्टिकोण अत्यन्त साफ है। नन्दकिशोर नन्दन एक बार बाबा से मिलने आये थे। मैं और शोभाकांत भोजन करने के लिये बाहर निकले हुए थे। जब लौटकर आये तो देखा, बाबा काफी उत्तेजित हैं। नन्दन जी जाने को तैयार थे। मैंने उन्हें सीढ़ी तक जाकर विदा किया। जब वापिस कमरे में आया तो बाबा ने कहा—"नन्दन अपने को मार्क्सवादी कहता है। प्रचार-साहित्य का विरोध कर रहा था। कह रहा था, प्रचार का साहित्य नहीं लिखना चाहिये।"

मैंने कहा—"कुछ लोग बुर्जुआ-प्रचार के शिकार हो जाते है।"

"हां।" उन्होंने कहा - "साहित्य जब छपता है, तभी प्रचार हो जाता है। संगीत, साहित्य, कला सभी तो प्रचार ही है। यहां तक कि 'ओम्' शब्द भी जब मुंह से निकलता है, प्रचार हो जाता है। प्रचार का विरोध बुर्जुआ साहित्यकार और पत्रिकायें ही करती है। यह उनकी समझ मे नही आता। हम लोग जो बोल रहे हैं, यह भी तो प्रचार ही है। वायुमण्डल में जो कुछ भी आता है, प्रचार हो जाता है, ऐसा मैं मानता हूं।"

"दरअसल, लोगों में हिम्मत नहीं है प्रचार साहित्य को पचाने की।"—मैंने कहा।

"हां, सच्चाई कहने में सालों की गांड फटती है।" बाबा ने उत्तेजित होते हुए कहा।

आलोचना-कर्म और आलोचकों के दायित्व पर भी एक बार बात निकल गई थी। उस दिन मैं और बाबा—दो ही कमरे में थे। बाबा पत्र लिख रहे थे और मैं 'पश्यंती' में विजय बहादुर सिंह का लेख पढ़ रहा था। एक बात मुझे बड़ी अच्छी लगी और मैंने बाबा को बताया—विजयबहादुर सिंह ने 'पश्यंती' वाले लेख में एक बडी अच्छी बात कही है। उन्होंने लिखा है, "आलोचक रचना और पाठक के बीच पुल का काम करता है। रचना को पाठक तक पहुंचाना आलोचकों का काम है, उसे होना भी चाहिये।"

इस पर बाबा की प्रतिक्रिया थी—"लेखक गुफा में भी रहे तो आलोचक पाठक को बताये कि तुम्हारा लेखक यहां रहता है। इस गुफा में छिपा बैठा है। नहीं ?"

दूसरी ओर उनकी संवेदना भी देखने लायक है। मैं उनके साथ भगवान पुस्तकालय में ठहरा था। सुबह साढ़े पांच बजे उठा तो देखा, बाबा बाहर कुर्सी पर बैठे हुए हैं। उन्होंने मुझे देखते ही कहा—"आज तो गजब हो गया! भोर में

घटे भर जर्मन रेडियो सुनता रहा। मजा आ गया! बहुत दिनों बाद आज लगा। मैं भी काफी दिनो से टोह मे था।"

पुन: उन्होने बताया—"आज एक बंगला कविता को फेयर किया है।"

मैंने कहा—"सुनाइये।"

वे दौड़कर कविता ले आये। इसी बीच में पंजियार साहब भी आ गये। उन्होंने भी श्रोता की भूमिका निभाई।

बाबा ने कविता सुनाने के पहले बताया—"एक बार मै टोस्ट और आमलेट का नाश्ता कर रहा था। प्लेट में एक अजंता की नारी मूर्ति की छवि थी। जब मैं छुरी से आमलेट काटने लगा, मूर्ति अचानक दिखी, आमलेट की ओट से। मेरा हाथ अचानक रुक गया। मैं क्षण भर के लिये सहम गया। लगा, मैं उसके कोमल अंगो पर छुरी चला रहा हूं। मैंने तत्काल छुरी चलाना बन्द कर दिया। उस रोज पूरे दिन मैं आन्दोलित रहा। किसी चीज में मन नहीं लगा। इसी विषय पर यह कविता है।" और उन्होंने संवेदना की प्रखर धार वाली बंगला कविता सुनाई।

कविता पाठ के बाद उन्होने एक और घटना का जिक्र किया। बताया, "एक बार किसी के घर एक तौलिया देखा था। उस तौलिये पर हंसिया और हथौड़ा बना था। अब, बताइये, व्यावसायिकता की हद हो गई न? किसी 'प्रोग्रेसिव' सेठ ने ऐसा किया होगा। उसी तौलिया से नाक पोंछना, गाड़ पोंछना।"

मैंने कहा—"यही व्यावसायिकता न आज नसरीन की आंखें ले रही हैं और रामबाबू के पेट मे कैंची छोड़ रही है।"

"अभी-अभी एक और समाचार देखा है। किसी डाक्टर ने एक मरीज के पेट में रुमाल छोड़ दिया।" उन्होंने बताया।

मैंने कहा—"प्रेमचन्द ने जिस महाजनी सभ्यता को 1936 में ही दिखलाया था, वह आज फल-फूल रही है।"

"ठीक ही कहते हो। आज महाजनी सभ्यता सबके सिर पर चढ़कर नाच रही है।" उन्होंने कहा।

इस महाजनी सभ्यता के दुर्गुणों से जनकवि प्रभावित नहीं होते, बल्कि दुखित होते हैं। उस दुख को वे किसी न किसी तरह बांटना भी चाहते हैं और बांटते भी हैं। इस सभ्यता से पीड़ित लोगों की वे खोज-खबर भी लेते हैं और पुत्र-पुत्रियां भी बनाते हैं। हमारे एक मित्र हैं नन्दकुमार मिश्र, शांतिनिकेतन से शिल्प और कला में स्नातक। उन्होंने एक बार 'पाटलीपुत्रा' होटल में 'एकल शिल्प प्रदर्शनी' का आयोजन किया था। उस समय बाबा कहीं बाहर थे। जब वे पटना आये तो मैंने नन्दकुमार के सम्बन्ध में उन्हें बतलाया। तुरन्त मेरे साथ चलने को तैयार हो गये वे। जहां वह ठहरा था, सम्भवत: सनातन सरदार के यहां, बाबा ने वहां

जाकर उसके शिल्प को देखा और बहुत सराहा भी। बल्कि उसे अपना 'प्रेम-पुत्र' ही मान लिया।

इस घटना के ठीक तीन-चार दिन बाद नंदकुमार एक दिन 'काफी हाउस' में मिला। उसका पाजामा और कुरता बेतरह फटा हुआ था। लेकिन उसके चेहरे पर झेंप और चिंता के बजाय मुस्कुराहट थी। एक ओरिजनल कलाकार की मुस्कराहट। मगर बाबा ने तुरन्त इस बात को नोट किया। दूसरे दिन मुझसे बिना बताये, नंदकुमार को लेकर स्टेशन पहुंचे और सिला-सिलाया कुर्ता-पाजामा उसे खरीदवाया। यह बात बाबा ने आज तक मुझसे नहीं कही है। मगर नंदकुमार ने मुझसे इस बात को बताया और उनपर लिखी एक अत्यन्त भावुक कविता भी सुनायी—'प्रेम-पुत्र'। कवि की इस व्यावहारिक संवेदना को आप क्या कहेंगे ? मैं खुद उनकी घनीभूत संवेदना का ऋणी हूँ। इसीलिए उनकी संवेदना पर भी प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

एक और घटना है, उन्हीं के द्वारा कही हुई। एक बार कलकत्ता में, संभवत: कालेज स्ट्रीट में घूम रहे थे। उन्होंने एक पगली को अखबार का एक टुकड़ा पढ़ते हुए देखा। उनकी रुचि बढ़ी। उन्होने एक पूरा अखबार उसे पढ़ने को दे दिया। पगली ने अखबार तो ले लिया, लेकिन उसका मन देखिये, बाबा को एक थप्पड़ मारा। पता नहीं क्या सोचकर बाबा ने एक रुपये का नोट निकाला और पगली के हाथ में धर दिया। इस बार पगली उनसे लिपट गयी। खूब जोर से चिमटा लिया उन्हें। जब लोगों ने पगली की इस हरकत को देखा, तो कहा—"बाबा, जान छुड़ाकर भागिये आप। पागल है। अभी आपको दांत काटना शुरू कर देगी। आप पर पर नाले से निकाल-निकालकर कीचड़ उछालना शुरू कर देगी।" बाबा किसी प्रकार पिंड छुड़ाकर भागे।

मैं आज तक समझ नहीं पाया, यह उनके मन की कैसी संवेदना थी ? क्या कवि की निरी भावुकता ही थी सिर्फ या और कुछ ? समझ में नहीं आता इसे क्या कहा जाये ? मगर इतना अवश्य है कि निराला की तरह दिव्य और और 'जाइन्ट' न होते हुए भी निराला की झलक एक बार अवश्य दिखला जाते हैं। वह दिव्य चेहरा, वह भव्य शरीर, ग्रीक मूर्तियों की तरह देवत्व से समन्वित [illegible] नागार्जुन के पास नहीं है, मगर मझोले कद, छोटी-छोटी आंखें और दमा से पीड़ित शरीर ही क्यों निराला की याद बार-बार दिला जाते हैं ? आखिर क्यों ?

अंत में भाषा, शिल्प और संवेदना से ऊपर विचारधारा और राजनीति की बात। कला और साहित्य के साथ राजनीति का अभिन्न संबंध है। इसलिए यह भी देख लेना उचित होगा कि राजनीति के संबंध में जन-कवि का दृष्टिकोण क्या है ?

बातचीत असम की समस्या पर हो रही थी। उनका मन असम जाने को

लनक रहा था। उन्होंने कहा—"असम की समस्या कोई छोटी समस्या नहीं है। नरक बना रखा था असमियों की जिन्दगी को। अब, वही नरक फूट पड़ा है।"

मैंने कहा—"जब तक मूल समस्या को नहीं पकड़ा जाता, असम की समस्या का निदान नहीं हो सकता।"

"सोशलिस्ट पार्टी ने भी यही कहा है। चुनाव की निरर्थकता को उसने भी 'प्वाइंट आउट' किया है।" उन्होंने बताया।

"हां, चुनाव से अब देश में कुछ भी होने को नहीं। चुनावोन्मुखी पार्टियों में अब कोई दम नहीं रह गया है।" मैंने कहा।

"अब तो मत-पत्र भी बंदूक की नलियों से निकलने लगा है। चुनाव से क्या होगा ? चुनाव से अब किसी भी समस्या का समाधान नहीं होने वाला है।"—बाबा ने कहा।

"लेकिन सभी राजनीतिक पार्टियां तो चुनावोन्मुखी ही हैं।"—मैंने टोका।

"उन लोगों का अब एक मात्र कार्यक्रम चुनाव ही रह गया है। कोई व्यावहारिक कार्यक्रम नहीं है उनके पास। सी० पी० एम०, सी० पी० आई० जैसी पार्टियां भी सड़ गयी हैं। असम आंदोलन वालों से उन लोगों को सीख लेनी चाहिये।"—बाबा ने बड़े आत्म विश्वास के साथ कहा।

अब, इससे अधिक स्पष्ट एक जनकवि की सोच और संवेदना और क्या हो सकती है ? अगर उनकी रचनाओं में फिर भी कोई अंतर्विरोध दीखता है, तो इस अंतर्विरोध की सही समझ और विश्लेषण के लिए समाज के लोगों और पार्टियों के अंतर्विरोध को भी देखना होगा और तुलनात्मक दृष्टि से ही अंतर्विरोध की जांच-परख करनी होगी, तभी हम एक जन-कवि की सही और वैज्ञानिक व्याख्या कर सकते हैं।

अन्धेरी रात में बसन्त की आगमनी

—मधुरेश

नागार्जुन अपने मैथिली नाम 'यात्री' को पूरी तरह सार्थक करते हैं। अन्य कवियों और लेखकों की तरह नागार्जुन को लेकर यह सुविधा हमेशा ही नहीं मिलती कि जब चाहे, उनसे मिल-बैठकर बतियाया जा सके। वह अयाचित और अप्रत्याशित मेघ की तरह बरस पड़ने वाले जीव हैं। अचानक बरस कर अपने मिलन की सोंधी बास वह अरसे तक बनाये रखने की क्षमता रखते हैं। वैसे देखने में यह विरोधाभास जैसा लगता है लेकिन सच्चाई यही है कि घर-संसार की माया से बहुत कुछ मुक्त रहने के बावजूद वह गहरे नेह-छोह वाले व्यक्ति हैं। मिलते ही वह घर-परिवार, मित्रों-सम्बन्धियों की हित-चिन्ता की बात करने लगेंगे और यह नहीं लगने देंगे कि आपसे उनका यह मिलना इतने अरसे के बाद हो रहा है।

नागार्जुन की एक कविता है—'प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव है मेरे कवि का…' यह मात्र संयोग भर नहीं है कि मैंने उन्हें जब भी देखा है, इस प्रतिहिंसा में जलते और उबलते देखा है। एक ओर वह युवा लेखकों और मित्रों को लेकर निजता और अन्तरंगता का एक ऐसा दायरा बनाते हैं जिसमे एक बार धंस जाने के बाद निकलना मुश्किल होता है तो वहीं ओछी, सिद्धान्तहीन और अवसरवादी मनोवृत्ति वाले लोगों को लेकर खुलेआम वह इस प्रतिहिंसा मे सुलगते दिखायी देते हैं। अपनी इस सुलगन को छिपाने का वह कोई ढोंग नहीं करते बल्कि उसकी सार्थकता ही इसमें है कि वह उन लोगों तक सम्प्रेषित हो जो उसके कारण हैं।

नागार्जुन से मेरी पहली भेंट इसी तरह अचानक हुई। वह सचमुच एक बहुत बड़ा मेला था। मेला यानी देशी-विदेशी लेखकों का बहुत बड़ा जमावड़ा 1970 में दिल्ली में हुए अफ्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन के नाम पर। पत्र-पत्रिकाओं में पिछले आठ वर्षों से लिखते रहने के बावजूद साहित्य की दुनिया में मैं एक दम नया था। निजी तौर पर पांच सात लेखकों को ही तब तक जानता था। सम्मेलन में आये प्रतिनिधियों को परिचय-पत्र भरते समय जब मैंने लोगों को प्रमुख प्रकाशित कृतियों के नाम पर लम्बी-चौडी सूची पेश करते हुए देखा तो मैं सचमुच घबरा सा गया था क्योंकि तब तक लिखने को मेरे पास अपनी किसी किताब का नाम नहीं था। अपने बहुत से पढ़ हुए हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों को पहली

बार मैंने इस सम्मेलन मे ही देखा था। इन्हीं मे से एक नागार्जुन थे। इस सम्मेलन में देशी-विदेशी करीब पाँच सौ लेखक मौजूद थे लेकिन उनके ठहराये जाने की कोई समुचित व्यवस्था न किये जाने के कारण लेखकों का एक बड़ा वर्ग नाराज, क्षुब्ध और असन्तुष्ट था। इस स्थिति के विरोध मे दिल्ली के कुछ युवा लेखको ने बाकायदा प्रदर्शन भी किया था। रूस, पौलैंड और कोरिया आदि से आये प्रतिनिधियों को बडे-बड़े होटलों मे टिका दिया गया था और इस बात की कोई संभावना नहीं थी कि आपस मे मिल-बैठकर कोई बातचीत की जा सके। भारतीय प्रतिनिधियों का भी कमोबेश यही हाल था। लोग अपनी-अपनी सुविधा से ठहरे हुए थे। विज्ञान भवन मे, एक ही समय मे, अलग-अलग विषयों पर कई गोष्ठियाँ होती थी जिनमें लोग बंट जाते थे और जो लोग अन्दर गोष्ठियों में नही जाते थे, वे बाहर गलियारों मे खड़े आपस मे हँसते बतियाते रहते थे। भारतीय लेखकों मे अलग-अलग भाषाओं के प्रतिनिधि जब चुने गये तो हिन्दी लेखकों के प्रतिनिधि मण्डल का नेता नागार्जुन को चुना गया। सम्मेलन के प्रमुख आयोजकों सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनन्द से नागार्जुन, कई और लेखकों की तरह ही, बहुत असन्तुष्ट थे। प्रायः ही हम लोग बाहर खड़े होकर छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाते थे और सम्मेलन की नीतियों एवं पद्धति की आलोचना करते रहते थे। भैरव प्रसाद गुप्त, अमृत राय, चन्द्रभूषण तिवारी, मार्कण्डेय, हृषीकेश आदि कितने ही लोग थे। सब लोगों ने तय किया कि अपने इस असन्तोष को सार्वजनिक तौर पर व्यक्त किया जाना चाहिये और चूंकि हमारे हिन्दी प्रतिनिधिमण्डल के नेता नागार्जुन थे, स्वाभाविक रूप से यह जिम्मेदारी उनकी थी कि वह कैसे इस काम को अन्जाम देते हैं। दो दिन से मुल्कराज आनन्द को हम लोग खास तौर से देख रहे थे। उद्घाटन सत्र में वह प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी के आगे-पीछे घूम रहे थे और इस बात के लिये खास तौर से सचेष्ट थे कि खींचे गये फोटो में आसपास कहीं वह भी अवश्य हों। दो-एक बार हम लोगों ने देखा था कि वह चेलिशेव या चंगेज आईतमातोव को सामने से आते देखकर रुक जाते थे, बडी स्निग्ध मुस्कान से मुस्कराते थे और जब आस-पास किसी फोटोग्राफर को देखते थे तो उनके हाथ में हाथ डालकर या कद में लम्बा होने पर भी चेलिशेव के कन्धे पर हाथ रखकर फोटो खिचवाने में वह विशेष दिलचस्पी लेते रहे थे। या फिर कभी वह श्रीमती अरुणा आसफ अली या किसी अन्य महिला के साथ हँसते-बतियाते दिखाई देते थे। हम लोग जब उन्हें लेकर आपस में कोई बात करते तो नागार्जुन हमेशा ही मुल्कराज आनन्द की जगह मूर्खराज आनन्द कहते थे और हम सब लोग जोर से हँस पड़ते थे। एक-दो बार तो मुलकराज आनन्द के हम लोगों के बहुत आस-पास होने पर ही ऐसा हो चुका था। कभी-कभी हमें लगता कि उन्होंने हमारी बातों को सुन लिया है या अपने इस नये सम्बोधन को जान लिया है लेकिन आँखें मिलने पर वह हमेशा ही सकपकाकर निकल जाते थे।

एक दिन पहले ही पूरे सम्मेलन में भाषा-नीति को लेकर भदन्त आनन्द कौसल्यायन बड़े रोषपूर्ण ढंग से अपना असन्तोष व्यक्त कर चुके थे। अंग्रेजी सहित सम्मेलन में पाँच और विदेशी भाषाएं थीं रूसी, जर्मन, फ्रेंच और पोलिश आदि लेकिन उसमे हिन्दी या किसी भारतीय भाषा का कोई दखल नहीं था। लेखकों के भाषण इन्ही में से किसी भाषा में हम सुन सकते थे। चूंकि अधिकतर लोग अंग्रेजी ही समझते थे अतः अंग्रेजी में ही सब सुनते थे। बाहर के विदेशी प्रतिनिधि अपनी अपनी भाषा रूसी और पोलिश में भी सुन या बोल सकते थे। मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र की समस्याओं पर स्तेफान मोराव्स्की का भाषण मैने अंग्रेजी में ही सुना था लेकिन अपनी भाषा मे बोलते हुए वह कैसे लगते है इस जिज्ञासावश बीच बीच में, कभी-कभी मे पोलिश भाषा वाला बटन दबा देता था और तब अंग्रेजी में अनुवाद आते-आते पोलिश शब्द-समूह और ध्वनि पुंज कानों से टकराने लगते थे। लेकिन इस खेल को लम्बे समय तक खीचने का मतलब था मोराव्स्की के महत्वपूर्ण भाषण से वंचित रह जाता। भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने अंग्रेजी में बोलते हुए मुल्कराज आनन्द पर हिन्दी की उपेक्षा का आरोप लगाया और आग्रह किया कि भारत में इस सम्मेलन के होने के कारण यह सुविधा हमें अवश्य मिलनी चाहिये कि हम अपनी भाषा में अपनी बात कह सकें। सैद्धान्तिक रूप में मुल्कराज आनन्द ने उनकी बात स्वीकार की लेकिन व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि अब इस दिशा में कुछ भी कर पाना सम्भव नहीं था।

इन सभी कारणों से सभी लोग मुल्कराज आनन्द की नीतियों और रवैये से क्षुब्ध थे। एक सत्र में जब अलग-अलग भारतीय भाषाओं के प्रतिनिधि-मण्डल के नेताओं के बोलने का अवसर आया तो नागार्जुन मंच पर आकर माइक पकड़कर खड़े हो गये। उनके आने की कोई खास प्रतिक्रिया नहीं हुई क्योंकि पिछले दो दिन की उनकी मनः स्थिति से वहाँ उपस्थित बहुत कम लोग ही परिचित थे—हम आठ-दस निकटवर्ती मित्रों के अतिरिक्त शायद कोई नही। लेखक साथियों को सम्बोधित करके नागार्जुन ने बोलना शुरू किया—'पता नहीं किसने इनका नाम मुल्कराज आनन्द धर दिया है, ये तो मूर्खराज आनन्द हैं।' लगता था कि आवेश और प्रति-हिंसा की कोई सीमा जैसे नहीं है। 'प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव है मेरे कवि का—' शीर्षक कविता उन्होंने इसके कई वर्ष बाद सन् 1979 में लिखी लेकिन वह उनकी उस समय की मनोदशा के लिये भी उतनी ही सटीक है। पिछले दो दिन से जो प्रतिक्रियायें हम सामूहिक ढंग से बनाते रहे थे वे सब उन्होंने उस मंच से कही और दोहराई। उन्होंने आरोप लगाया कि यह लेखकों का सम्मेलन नहीं, राजनीतिक आयोजन है जिसमें किन्हीं खास देशों और उनके कुछ खास सरकारी प्रतिनिधियों को सारी गैर मामूली सुविधाये देकर सामान्य लेखकों से उन्हें काटकर दूर रखने का षड्यन्त्र रचा गया है। उन्होंने कहा कि अगर उनसे कहा गया होता तो वह स्वयं

बिहार के सांसदों से मिलकर सारे लेखकों को एक जगह ठहराये जाने की व्यवस्था करते ताकि लोग आपस में मिल-बैठकर अपनी समस्याओं और संघर्षों पर बात कर सकते और इस इतने बड़े सम्मेलन को पूरी तरह निरर्थक होने से बचाया जा सकता। आवेश के कारण बोलते-बोलते उनके मुंह से फुचकार निकलने लगी थी। जैसे ही नागार्जुन ने बोलना खत्म किया, पूरा सभागार तालियों की गडगडाहट से गूंजने लगा और हम में से प्राय: हर एक को लग रहा था कि जैसे हमारी बात ही कह दी गई है। सम्मेलन इसके बाद भी एक दिन और चला लेकिन फिर हमारे बहुत आस-पास कहीं मुल्कराज आनन्द दिखाई नही पड़े।

इसके बाद छोटे-छोटे पत्रों से, जब तब नागार्जुन की सूचनायें मिलती रहीं। एक जगह जमकर बैठना उनका स्वभाव नही है इसलिये यह सुविधा भी प्राय: नहीं मिल पाती कि चाहने पर आप उन्हे पत्र लिख सकें या विधिवत् और व्यवस्थित ढंग से पत्रों का सिलसिला बना रह सके। अधिक से अधिक आप यही कर सकते हैं कि ऐसा कोई पत्र मिलने पर खुश हो लें और यदि उस पर पता लिखा है और आगे भी नागार्जुन के कुछ दिनों वहीं बने रहने की सम्भावना है तो बदले मे उनके पत्र का जवाब दे दे। वैसे उनके पत्र उत्तर की अपेक्षा प्राय: नहीं रखते, वे अपनी ओर से से सूचनायें देते भर हैं। 'सारिका' मे मैंने 'वरुण के बेटे' पर लिखा तो अपने आप ही उनका पत्र आ गया—इतनी जल्दी कि उस समीक्षा के 'सारिका' में निकल जाने की सूचना भी मुझे उसी पत्र से मिल सकी। फिर जब नामवर जी के आग्रह पर 'आलोचना' के लिए नागार्जुन के उपन्यासों पर किसी बड़े लेख का विचार बना तो उन किताबों की खोजबीन शुरू हुई जो सामान्यत: उपलब्ध नहीं थीं। बहुत कोशिश के बाद भी अन्तत: 'कुम्भीपाक' कहीं नहीं मिला। मित्रों से नागार्जुन का पता-ठिकाना पूछकर मैंने उन्हे ही लिखा कि 'कुंभीपाक' नहीं मिल रहा है। उनका नहीं लेकिन इलाहाबाद से शोभाकान्त का पत्र मिला कि मेरा पत्र नागार्जुन लेते गये हैं·· उनके पास तो उनकी चार किताबें भी नही हैं लेकिन वह किसी से लेकर उसे भिजवायेंगे और फिर एक दिन अचानक ही डाक से 'कुंभीपाक' की प्रति मिली जो नागार्जुन ने कभी अपने किसी मित्र को भेंट की थी। मैकमिलन से जब मेरी पुस्तक 'यशपाल के पत्र' आई तो उस पर सबसे पहली प्रतिक्रिया नागार्जुन की ही मिली। बाद में पता करने पर मालूम हुआ कि पुस्तक प्रकाशक ने उन्हें भिजवाई नहीं थी, किसी युवा मित्र ने खरीदकर उन्हें पढ़ने को दी थी। उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उसकी जो और जैसी प्रशंसा उन्होंने की थी, वह किसी का भी दिमाग खराब कर सकती थी। 'प्रतिमान' के एक अंक में वह प्रकाशित भी हुई थी।

इसके बाद जो अगली भेंट उनसे हुई वह और भी अचानक और किंचित् नाटकीय ढंग से हुई। कलकत्ता से स्वदेश भारती ने बहुत आग्रह के साथ 'रूपाम्बरा' कीं गोष्ठी में बुलाया था। बैजनाथ राय के साथ जब 'रूपाम्बरा'

की गोष्ठी में पहुंचा तो छोटे से हॉल में अधिकतर अपरिचित चेहरे ही दिखाई दिये। माइक के सामने बैठे परमानंद श्रीवास्तव कुछ पढ़ रहे थे। राय साहब ने इस बीच स्वदेश को मेरे बारे में बता दिया था। कई और लोगों ने भी मेरा नाम सुना। इसी बीच पीछे से उठकर, काफी बढ़ी हुई खिचड़ी दाढ़ी और सामान्य से कुछ बड़े वालों वाले एक व्यक्ति ने बड़े अपनेपन से मेरा हाथ पकड़कर मुझे बाहर आने का संकेत किया। मैं उन्हें पहचान पाने की कोशिश कर ही रहा था कि बाहर आने पर किसी ने, शायद बैजनाथ राय ने ही, कहा—'नागार्जुन जी हैं।' आश्चर्य और इतने आकस्मिक ढंग से मिली प्रसन्नता के कारण अपनी हकबकाहट छोड़कर कुछ कह सकूं इसके पहले ही वह बोले—'स्वदेश ने बता दिया था कि तुम आ रहे हो।' और फिर संतोष व्यक्त करने हुए बात पूरी की—'चलो, इस बहाने मिलना हो गया।'

'रूपाम्बरा' की उन गोष्ठियों में नागार्जुन ने छोटे बड़े कई वक्तव्य दिए—हास्य और व्यंग्यभरी अपनी हल्की-फुल्की शैली में जो बात को अकारण गंभीर बनाये बिना अपने मन्तव्य और आशय तक पहुंच पाने की दृष्टि से बड़ी कारगर साबित हुई। इन्हीं में से एक गोष्ठी में उन्होंने अपनी रूस यात्रा के दौरान एक रूसी अध्यापक से हुई अपनी भेंट का रोचक संस्मरण भी सुनाया। उस अध्यापक के लिये यह बात खासी परेशानी का कारण बनी हुई थी कि जो पैसा उसने जोड़ा है, उसे खर्च कैसे करे। वह उसे बेहतर कपड़ों पर खर्च कर सकता था लेकिन अपने सामाजिक स्तर के और व्यक्तियों से अलग तथा बेहतर पहनने में उसे जग हँसाई का डर था। उस पैसे से वह हीरे की अंगूठी खरीद सकता था लेकिन तब उसे बुर्जुआ तौर-तरीके अपना लेने की लानत-मलामत उठानी पड़ती। वह सचमुच नहीं समझ पा रहा था कि उस पैसे का आखिर करे तो क्या करे!

एक गोष्ठी में सुदर्शन चोपड़ा ने, अपने एक वक्तव्य में, बहुत चलते ढंग से कह दिया था कि आज मार्क्सवाद पुराना पड़ गया है। नागार्जुन ने सुदर्शन, रमेश बक्षी और उनके जैसे दूसरे अंधेरे बंद कमरों के दिल्ली सस्करण साहित्यकारों की खासी ले-दे की जो शराब और औरत में गर्क सामाजिक सत्य को नकारने की कोशिश करते हैं। व्यंग्य करते हुए, गोष्ठी में आगे ही बैठे सुदर्शन चोपड़ा और रमेश बक्षी को वह सीधे सम्बोधन करते जाते थे—'सुन रहे हो रमेश?'—या 'क्यों सुदर्शन, है न?' फिर वह कहने लगे—'तुम लोगों को मालूम ही नहीं कि तुम्हारे आस-पास दिल्ली में ही, मजदूरों और झुग्गियों में रहने वाले लोगों की जिन्दगी क्या और कैसी है। चूंकि तुम्हें शराब और मनचाही औरत के साथ सोने की सुविधा है, इसलिये थोड़े से पैसों के लिये मजदूरों का संघर्ष, हड़ताल और तालाबन्दी आदि का तुम्हारे लिए क्या अर्थ हो सकता है?' और फिर हंसकर,

कुछ-कुछ शरारत भरे अन्दाज में रमेश बक्षी को सम्बोधित करते हुए बोले—'क्यों रमेश, है न ?'

सुबह की गोष्ठी के बाद जब भोजन का समय हुआ तो नागार्जुन बांह पकड़कर मुझे एक ओर ले गये और बोले—'चलो किसी होटल में चावल और मछली खायेंगे।' गोष्ठी के संयोजकों ने भोजन की व्यवस्था वहीं कर रखी थीं। लेकिन उसमें मैदा की पूड़ी-लूची थी जिसे गरिष्ठ होने के कारण नागार्जुन खाना नहीं चाहते थे। यूं भी मछली और चावल उनका प्रिय भोजन है। लेकिन हमें बाहर निकलता देखकर स्वदेश दौड़े आये और सारी बात बता देने पर भी उन्होंने वहीं खाने का आग्रह किया। नागार्जुन के लिये उन्होंने अलग से संदेश, दही और कुछ स्लाइस मंगवा दिये। लेकिन वे संदेश नागार्जुन तक पहुंच सकें, इसके पहले ही यार लोग साफ कर गये। एक सज्जन ने, जो पास ही खड़े खा रहे थे, फिर अपनी प्लेट के संदेश उठाकर नागार्जुन की प्लेट में रख दिये। दमा और श्वास के रोगी होने के कारण वह तली हुई गरिष्ठ चीजें खाने से परहेज करते हैं—उतना ही जितना आसानी से निभ जाता है। दोपहर के भोजन के बाद मेरी ही तरह वह भी थोड़ी देर लेटने के आदी है। उसी इमारत में नीचे के कुछ कमरे शायद गोष्ठी के कारण ही खुलवा दिये गये थे अन्यथा वे लम्बे समय से बद लगते थे। उन्हीं मे से एक कमरे मे, जिसमें गर्द-गुबार के साथ ही मार अटरम-सटरम भरा था, एक तखत पर अंगोछा बिछाकर वह लेट गये। वैसे ही एक दूसरे तखत पर हम लोग—मैं और बैजनाथ राय भी हाथ पैर फैलाकर आराम से बैठ गये। छोटा सा ट्राजिस्टर झोले में से निकालकर नागार्जुन बंगला संगीत सुनते रहे और इसी बीच मे शायद एक झपकी भी ले ली।

गोष्ठियों के बीच ही यह तय हो गया था कि कलकत्ता छोड़ने से पहले मैं एक दिन उनसे मिलूंगा क्योंकि उन्होंने बताया था कि वह अभी कई दिन तक यहीं रहेंगे, कुछ काम है। नागरी प्रचारिणी सभा के जिस कमरे में वह टिके हुये थे, उसका पता उन्होने बैजनाथ राय को समझा दिया। अप्रैल के शुरू के दिन थे। दो बसों को बदलकर जब हम लोग वहाँ पहुंचे, धूप और गर्मी के कारण खूब पसीना निकल चुका था। जिस कमरे में वह टिके थे उसके बगल से जीना जाता था और एक ओर एक छोटा सा प्रेस था। ठीका ठीक दोपहरी में बिना पंखे के उस कमरे में अंगोछा बिछाये वह जमीन पर लेटे थे। हिन्दी, अंग्रेजी और बंगला के कुछ अखबार और पत्रिकायें इधर-उधर फैले थे। उन्हीं मे से एक अखबार बिछा कर उन्होंने हम लोगों के बैठने की व्यवस्था कर दी। एक ओर लूसुन और यशपाल की कुछ किताबें भी रखी थीं—'स्वर्गोद्यान : बिना सांप' और 'चक्कर क्लब' कलकत्ता की नेशनल लायब्रेरी से निकलवाई गई थीं क्योंकि कलकत्ता के ही कुछ युवा मित्र 'मणिमय' के यशपाल अंक के लिये उनसे लिखने का आग्रह कर रहे थे।

हम लोगों के बैठ जाने पर और पसीना सूख जाने पर वह बड़ी आत्मीयता

के साथ खैर-खबर न देने की शिकायत करते रहे। उनकी उस आत्मीयता को देखकर यह कहने का भी कोई अर्थ नहीं था कि उन जैसे अनिकेत को खैर-खबर दी भी जाये तो कहाँ और कैसे ! फिर वह बच्चों के बारे में अलग-अलग विस्तार से पूछते रहे—कौन कितना बड़ा है, क्या नाम है और किस क्लास में है ? इसी बीच जब मैंने शोभाकान्त के बारे मे पूछा तो बोले 'उनसे ज्यादा तो मुझे दामाद की चिंता है।' और फिर वह विस्तार से बताते रहे। जैसा कि गाँवों में आमतौर पर होता है छोटी उम्र में ही बेटी का विवाह कर दिया था। दामाद शायद इंटर तक पढ़ा है और आजकल वह उसके लिये किसी छोटी-मोटी नौकरी की तलाश में ही कलकत्ता पड़े है क्योंकि किसी पुराने मित्र ने आश्वासन दे रखा है कि किसी प्रेस में उसे कम्पोजीटर की जगह दिलवा देंगे।

फिर बात यशपाल को लेकर चल पड़ी। मैं लोकभारती, इलाहाबाद के लिये यशपाल पर एक पुस्तक सम्पादित कर रहा था. मैंने कहा—'रामविलास शर्मा और यशपाल के आपसी विवाद और मतभेदों के बारे में कुछ बतायें क्योंकि प्रगतिवादी आन्दोलन से आप बहुत करीब से जुड़े रहे हैं और बहुत सी बातें आपकी जानकारी में होंगी।' बहुत दोटूक ढंग से उन्होंने उत्तर दिया—'यह दो दबंगों की भिड़न्त थी। रामविलास दबंग और धाकड़ थे लेकिन यशपाल भी कम नही थे। रोब में नहीं आये।' पास ही रखे एक कुल्हड़ में जब-तब वह नाक छिनकते जाते थे। बीच बीच में किसी पत्रिका से वह हम लोगों की हवा भी करते जाते थे। चाय पीने के लिए जब मैंने नीचे उतर कर बाजार में चलने को कहा तो उन्होंने मना कर दिया। गर्मी के कारण बाहर निकलने मे तकलीफ होती है। मैंने जब यशपाल पर कोई संस्मरण लिखने को कहा तो बोले—'कविता क्यों नहीं छापते ? कहो तो यशपाल पर एक कविता लिख दूं जो आखिर में छाप देना।' मैंने कहा—'नहीं-नहीं आखिर में क्यों ? कविता एक ही होगी और उसे एकदम शुरू में देना ही ठीक रहेगा।' फिर किसी किताब से निकालकर एक टिकट लगा लिफाफा दिया—कि मैं पता लिखकर उनके पास छोड़ दूं। अभी वह कुछ दिन कलकत्ता मे ही रहेंगे और वहीं से कविता लिखकर मुझे भिजवा देंगे। अगले दिन के लिए मेरा आरक्षण हो चुका था, इसलिये यह तय हुआ कि 'मणिमय' से सम्बन्धित कुछ साथियों तथा कुछ दूसरे मार्क्सवादी युवा लेखकों–अवधनारायण सिंह और शलभ आदि को लेकर वह शाम को कॉफी हाउस पेहुंचे।' हम लोग भी अवश्य पहुंचेंगे। धूप अभी भी बहुत तेज थी और वही एक दिन हमारे पास था, वहाँ से उठकर हम लोग दक्षिणेश्वर गये थे और उसके बाद कालेज स्ट्रीट से खरीदी गई किताबों का बड़ा सा बंडल उठाये, शाम को अचानक होने वाली हल्की बूंदा-बादी के बावजूद, जब हम लोग काफीहाउस पहुंचे तो वह वहाँ नहीं थे। कई और लोगों से मुलाकात हुई लेकिन मौसम की खराबी के कारण वह अन्त तक नहीं आ सके। यह जान लेने के बाद कि अब उनका आना होगा नहीं, हम लोग देर तक उन्हीं को लेकर बातें करते हुए काफी पीते रहे थे।

नागार्जुन प्रतिहिंसा को अपने कवि का स्थायी भाव बताने में कोई संकोच नहीं करते। उनके साहित्य और निजी जीवन से इसे समझ सकने में कोई दिक्कत भी नही होती कि यह प्रतिहिंसा किन और कैसे लोगो के प्रति है। मुल्कराज आनंद से लेकर रमेशबक्षी तक यदि इस प्रतिहिंसा का एक छोर है तो इसका दूसरा छोर उनके समूचे रचनाकर्म में साक्ष्य बनकर उपस्थित है कि किन और कैसे लोगो के सघर्ष में वह किन और कैसे लोगो के विरोध मे खड़े है। नागार्जुन कैसे भी बड़प्पन में यकीन नहीं रखते—न अपने और न दूसरों के। वह केवल एक ही नाता जानते-मानते हैं, सहजता और अपनेपन का नाता। अभी पिछले महीने पटना से लौटते हुए एक-दो दिन वाराणसी रुकने के ख्याल से कवि केदारनाथसिंह और मैनेजर पाण्डेय के साथ ही वाराणसी तक आया था। अगले दिन हम लोग काशीनाथसिंह के यहाँ मिले। बच्चनसिंह और केदार बाबू पहले से ही वहाँ थे। मैं और मैनेजर पाण्डेय डा० रामविलास शर्मा से मिलने के बाद वहाँ पहुचे थे क्योंकि पत्नी के निधन के कारण वह वाराणसी मे ही थे। मेरी ओर इशारा करते हुए केदारबाबू ने हसते हुये कहा—'लो संभालो। आलोचक को साध कर रखो।' और फिर वैसे ही हसते हुए वह मैनेजर पाण्डेय की ओर देखकर बोले—'नागार्जुन की एक कविता है जिसमे आलोचक को साधने की कला पर जोर दिया गया है।' और फिर पाण्डेय जी के बदले वह मुझसे मुखातिब होकर बोले—'नागार्जुन आजकल यही कर भी रहे है मधुरेश जी।' और फिर वह वैसे ही हंसते हुए बताते रहे कि कैसे आजकल नागार्जुन कई-कई दिन जे० एन० यू० में ठहरते हैं लेकिन पाण्डेय जी के अलावा वह किसी और से नहीं मिलते। मुझे जानकारी थी कि पिछले वर्ष से पाण्डेय जी नागार्जुन के काव्य पर कुछ लिखना चाहते रहे हैं, काफी कुछ लिखा भी है और उसी सिलसिले में कई बार उनसे लम्बी बातचीत हो चुकी है। इस तरह कई-कई महीने वह गढ़वाल में वाचस्पति के यहाँ भी रहते और ठहरते है। हंसी की बात अलग है, वैसे यह किसी आलोचक को दुनियावी अर्थ में साधने की कोशिश एकदम नही है। वस्तुतः यह उनकी प्रतिहिंसा का दूसरा छोर है जिसमें अपने मन और विचार से मेल खाती सम्भावनाशील युवा पीढी के लिए उनके मन में गहरे बैठें ममत्व को सहज ही देखा जा सकता है। इसी पीढ़ी के लिए 'मन करता है, गाऊँ अंधेरी रात में भी बसन्त की आगमनी' की बात नागार्जुन करते है। वह पसीने का गुण-धर्म पहचानने वाले कवि हैं इसलिए साहित्य में भी आचरण हीनता और मठवाद का उन्होंने हमेशा ही विरोध किया है—इसकी चिंता किये बिना कि उनके इस विरोध का हश्र क्या होना है।

केरल के प्रिय नागार्जुन

—एन० ई० विश्वनाथ अय्यर

बहुमुखी साहित्य-सृजन के धनी उपेन्द्रनाथ अश्कजी ने कई वर्ष पहले 'संतके' नाम के दो उत्तम संकलन सम्पादित किये थे। एक में हिन्दी कृतिया थी तो दूसरे में उर्दू रचनाएं। हिन्दी 'सकेत' के शीर्षक पढते-पढ़ते एक लघु उपन्यास के आकर्षक शीर्षक ने मुझे टोका—'वरुण के बेटे!' मै वह उपन्यास पढ़ता गया, पढ़ता गया और पूरा करके ही आगे बढ़ सका। उस उपन्यास के रचयिता के प्रति वैसी श्रद्धा उदय हुई जैसी द्रोणाचार्य के प्रति एकलव्य की हुई थी।

'वरुण के बेटे' के लेखक नागार्जुन के नाम और रूप को एकत्र समन्वित देखने का सौभाग्य कुछ वर्ष बाद, शायद काशी मे, हुआ। एक सम्मेलन में मैं श्रोता बनकर भाग ले रहा था। सम्मेलन के मच पर बडी शान से कपड़े पहने लोगों के बीच एक सज्जन सादी वेशभूषा में—गेरुए रंग के कपडो मे बैठे थे। घुटे हुए सर के केशों को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था। इस साधारण वेष के स्वामी का परिचय पास बैठे लोगों से पूछा तो मालूम हुआ—यही नागार्जुन है।

साहित्य का अध्यापक होने के नाते मुझे नागार्जुन की चर्चा अपने छात्रों से बार-बार करने का मौका मिलता था। आँचलिक और प्रगतिशील साहित्य के इस महारथी को हम केरलवासी विशेष प्रेम से स्मरण करते हैं। 'वरुण के बेटे' पढ़ने के बाद मैंने मलयाल़म का प्रसिद्ध उपन्यास 'चेम्मीन' पढ़ा। 'चेम्मीन' (झींगा मछली) उपन्यास में भी वरुणपुत्रों के जीवन-सगीत के कुछ सुस्वर और कुछ अपस्वर सुनाई देते है। नागार्जुन ने बिहार के वरुणपुत्रों की कहानी ली तो तकषि ने 'चेम्मीन' में केरल के वरुणपुत्रों की। 'वरुण के बेटे' के रचयिता ने उनके आर्थिक, राजनैतिक पहलुओं पर अपना मन-मस्तिष्क अधिक लगाया था। 'चेम्मीन' का पार्श्वसंगीत समुद्र की लहरों का है। उसमें आर्थिक पक्ष की ओर संकेत भी है। किन्तु कलाकार ने उन वरुणपुत्रों की गंधाती बस्ती में प्रवेश कर दो अनुपम सुगंधित हृदय-कुसुमों को देख लिया। उन्होंने करुत्तम्मा और परीक्कुट्टी के असफल प्रेम की जो शोकांतिका रची वह मलयालम साहित्य में अमर हो गई है। 'वरुण के बेटे' की दृष्टि का महत्व कम नहीं रहा है। उल्टे तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दी और मलयालम के उपन्यासों का अध्ययन करने वालों को यहां एक नई दिशा मिल रही है।

केरल के एक छात्र ने नागार्जुन और तकषि शिवशंकर पिल्लै के कृतित्व का तुलनात्मक अध्ययन पी-एच० डी० के लिये प्रस्तुत किया। तकषि मलयालम के अग्रणी उपन्यासकार हैं। नागार्जुन और तकषि आचलिकता और प्रगतिशीलता में थोड़ी बहुत समानता रखते हैं।

हिन्दी साहित्य के संसार में महाकवि निराला की मस्ती और विचित्र विशेषताओं की कहानिया खूब चलती हैं। जिंदा साहित्यिकों मे नागार्जुन के मस्त और साहसी जीवन पर, उनकी अवधूतवृत्ति आदि पर कई कथायें मिलती हैं। 'लोकप्रिय कवि' माला में नागार्जुन की कविताओ का सपादन करते हुए आदरणीय डॉ० प्रभाकर माचवे ने इस पर प्रकाश डाला है। नागार्जुन की विख्यात यायावरी वृत्ति के दौरान दो बार मैं उनसे कुछ क्षणों के लिये मिल सका। उस परिचय को लिखित पुष्टि देते हुए उन्होने पत्र भी दिया था। पत्र मे पटना व दिल्ली—दोनों स्थानों के पते अलग-अलग थे। बातचीत के बीच वे स्वय बता चुके थे कि मैं सतत यात्रा में अपनी किश्ती इन दोनों घाटों पर बीच-बीच मे थोड़े दिनो के लिये बांध देता हूं। घुमक्कडी के विषय में और एक दफे उन्होने कहा—"मेरे बच्चे बराबर जोर देते हैं कि सफर छोडकर आराम करें। मगर वे खुद जानते है और आपस मे कहते भी है कि पिताजी की तबियत सफर करने पर ठीक रहती है। वे कही पडे रहे तो बीमार हो जायेंगे।" उनके चरण विश्राम से विमुख प्रतीत होते है।

नागार्जुन की यायावरी वृत्ति और अपने झोले मे डायरियों मे रचनाये समेट कर ले चलने की आदत का स्मरण करते करते मुझे केरल के एक महान कवि स्व० पी० कुंजिरामन नायर सहज स्मरण आते है। कुंजिरामन नायर पर कविता-देवी पूरी तरह प्रसन्न थी। उन्हें कल्पनाकुबेर की उपाधि दी गई है। लम्बे कद के नायरजी बगल में बैग लिये ही हमेशा चलते थे। जेबें भी बडी होतीं। बैग में पूरी, अधूरी कई तरह की रचनायें रहती। कही भुलक्कड़ी से ये खो भी देते थे। यायावर ऐसे थे कि उनको निश्चित स्थान व समय पर देखना मुश्किल था। हाथ पैसे लगते तो हाथों हाथ हाथ खाली हो जाते। उन्होने सैकड़ों कवितायें लिखीं। कितना लिखा, वे खुद नहीं जानते थे।

छोटी सी मुलाकात के बीच नागार्जुनजी ने एकाध बार प्रस्ताव किया था कि वे केरल आयेंगे। केरल के हिन्दी छात्रों के लिये वे प्रिय हैं ही। इसके अलावा केरल की वामपक्षीय राजनीति के पक्षधर भी नागार्जुन के नाम से कुछ परिचित हैं। इसलिये केरल में उनका शानदार स्वागत हो सकता है। मगर वे अभी तक नहीं आये। मेरे लिये तो उनसे मिलने का सौभाग्य फिर से सुलभ हो गया। दो वर्ष पहले पूना में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के तत्वावधान मे जो नवलेखक शिविर आयोजित हुआ, उसमें मैं मार्गदर्शक के रूप में सम्मिलित हो सका। मेरे पूना पहुंचने में कुछ देर हो गयी। सीधे उद्घाटन-सम्मेलन के भवन मे पहुंचा तो देखा, नागार्जुनजी श्रोतागण में है। डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने जब अपने स्वागत भाषण में बताया

कि नागार्जुन मार्गदर्शक बनकर आये हैं तब मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। अब सात दिनों का सत्संग सम्भव था।

हमारे आवास के कमरे एक ही भवन में ऊपर नीचे थे। प्रातःकाल नाश्ते के समय से लेकर शाम तक और कभी रात को उनके कमरे में—हमारा साथ रहता था। कार्यशाला के संवाद व भाषण में उनके साहित्यिक विचार और अनुभव सुनने को मिलते थे। उनके व्यक्तित्व के कुछ अनुकरणीय उज्ज्वल तत्व मैं प्रत्यक्ष देख सका। एक तो समय की पाबंदी का ऐसा व्रत था कि ठीक वक्त से कार्यक्रम शुरू कराने पर जोर देते थे। दूसरे, वे हर किसी को प्रसन्न रखने की कोशिश करते थे। नई पीढ़ी के शिविरार्थी उनमें अपने ही परिवार के खुले हृदय के वयस्क युवा को पा सके। नागार्जुन युवा भाई बहनों की रचनाएं प्रेम से ध्यान पूर्वक सुनते और साधु-वाद देते थे। अक्सर बड़े कवि, कहानीकार या प्रोफेसर हो जाने के बाद लोग छोटे लोगों का बतियाना सुनने की झंझट से बचना चाहते है य। सुनने पर उपहास की टेढ़ी मुस्कान उनके होठों पर विराजती है। मगर नागार्जुन स्वयं ऊँचे है और छोटों को दाद देने की उदारता में भी ऊँचे है। उनकी जो अन्य विशेषता मुझे अत्यधिक प्रेरित कर सकी वह है उनकी अध्ययनशीलता। रात को या सवेरे मैं उनके कमरे में पहुंचता तो 'सोवियत लिटरेचर' का नया अंक या कोई अन्य साहित्यिक रचना पढ़ते नजर आते थे। जिस हिन्दी जगत में जवान कलावंत भी एक अच्छा उपनाम, दो चार कविगोष्ठियों या सम्मेलनो मे औपचारिक प्रशंसा तथा एकाध रचनाओं के प्रकाशन का सौभाग्य पाने के बाद दूसरों की रचना पढना जैसा फालतू काम छोड़ देते हैं, वहां सत्तर पार किये हुए नागार्जुन बत्ती की मद्धिम रोशनी में नई से नई पीढ़ी के विचारों की जानकारी पाने का प्रयास करते थे। यही उनके मन के यौवन का मर्म है।

मेरे अध्ययन कक्ष की शेल्फ से झांकती एक पुस्तक पूना के उन आनन्दमयी दिनों की स्मृति बारम्बार दिलाती है। पूना की भेंट के उपलक्ष में नागार्जुन ने प्रेमपूर्वक 'खिचड़ी विप्लव देखा मैंने' भेंट की थी। पुस्तक की जिल्द पर उनका हंसमुख चेहरा चित्रित है। जिल्द के अन्दर जो कविताएँ हैं, वे उस हंसते चेहरे के पीछे दबी हुई आग की लपटें हैं। आपातकाल में बिहार के दो हिन्दी साहित्यकारों ने विशेष रूप से लोक-नायक के आन्दोलन में तन मन चढ़ा दिया था—जेल के सींखचों के अन्दर बुरी तरह पिसे थे—रैणु और नागार्जुन। रेणु तो शहीद हो गये। नागार्जुन की सशक्त कविताय क्रांति की आग को भड़काती थीं। इसीलिये उन्हें कारावास में धकेल दिया था।

'खिचड़ी विप्लव देखा मैंने' में एक संवेदनशील भावुक कवि की वाणी गूंज रही है। राजनैतिक दर्शन के औचित्य—अनौचित्य पर मेरी प्रतिक्रिया का साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो उस कविहृदय पर न्यौछावर हूं जो गंगा स्नान करके लौटते-लौटते आहत निरीह वृद्धा पर आंसू बहाता है, बार्डर के पाले नेवले की कथा इस आत्मीयता से सुनता है मानों यह अपना अत्यन्त घनिष्ठ मित्र हो जिससे बच-

पन से ही सम्बन्ध रहा हो। जगन्नाथन् से अलविदा लेने वाले कवि की वाणी में सत्ता की मंदाधता के प्रति जो निर्भय आक्रोश है, चुनौती है, व्यंग्य है वह विरले ही अन्य कवियों में मिल सकता है।

नागार्जुन व्यक्तिगत रूप से निर्लिप्त से रहते है। उनका हृदय अत्याचार देख अवश्य क्षुब्ध हो उठता है। व्यवसायी समाज के स्वार्थ-कपट से वे पूर्णतः परिचित है। तभी तो बातचीत के बीच वे कहते थे—"दिल्ली बराबर जाना पड़ता है। अगर न जाऊँ तो प्रकाशक हमारी रायल्टी थोड़े ही देंगे।" सरल व्यवहार नागार्जुन को लोकप्रिय बनाता है। उनकी व्यंग्य भरी सशक्त कविताएँ सुनकर पाठक हंसते हैं, तिलमिला भी उठते है। कथा, कविता, बालसाहित्य आदि अनेक विधाओं में उनकी प्रतिभा का चमत्कार प्रकट हुआ है। संस्कृत, पालि, मैथिली, बंगला, मराठी जैसी कितनी ही भाषाओं पर अधिकार रखनेवाले नागार्जुन कभी अपनी विद्वत्ता को विज्ञापित नही करते। सारा भारत नागार्जुन के प्रति श्रद्धा रखता है। इस प्रगति-शील और आंचलिक साहित्य-सर्जक को केरल अपने प्रगतिप्रेमी लेखकों की पंक्ति में पाता है, उनके प्रति विशेष ममता रखता है।

पूरी आशा है कि शीघ्र ही किसी दिन गेरुए रंग का कुर्ता और पायजामा पहने और कन्धे पर झोला लटकाये हंसमुख बाबा त्रिवेन्द्रम स्टेशन पर मुझे मिलेंगे।

नागार्जुन की काव्य-चेतना

—अजय तिवारी

अभी थोड़े दिन पहले तक हिन्दी के रिसर्च स्कालर आधुनिक कविता और स्वयं प्रगतिशील कविता पर 'रिसर्च' करते समय नागार्जुन का नामोल्लेख करना भी जरूरी नहीं समझते थे। लेकिन इसके बावजूद कवि नागार्जुन आज हिन्दी साहित्य की जीवन्त वास्तविकता है। निराला के बाद नागार्जुन को छोड़कर आधुनिक हिन्दी कविता की कल्पना भी नही की जा सकती। अपनी काव्य-शक्ति से नागार्जुन ने निराला की ही तरह यह साबित कर दिया है कि अपने युग का जनकवि रिसर्च-स्कॉलरों और भाष्यकारों का मोहताज नहीं होता। देश की साधारण जनता से कवि का लगाव जितना गहरा और आत्मीय होगा, कविता के वर्ण और आस्वाद में उतनी विविधता होगी, कवि की संवेदना उतनी ही सघन होगी, कविता का यथार्थवाद उतना ही गम्भीर होगा और काव्य की जीवनशक्ति उतनी ही दुर्दम होगी। अपनी कविताके प्रत्यक्ष उदाहरण के जरिये नागार्जुन ने यह भी साबित कर दिया है कि जनता के जीवन और उसकी संस्कृति से प्राण-सम्बन्धित होकर कविगण खुद को तरह-तरह की आत्मरति और आत्मग्रस्तता से बचा सकते है, और अपनी कविता को तरह-तरह के कलावादी-सौंदर्यवादी रुझानों से भी मुक्त रख सकते हैं। तारीफ की बात यह है कि नागार्जुन इन प्रवृत्तियों से बचकर अपनी कविता को उस मंजिल तक पहुंचा सके हैं जहां लोकप्रियता और कलात्मक सौंदर्य के बीच अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध नहीं रहता, पूर्ण सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

नागार्जुन के काव्य का एक महत्वपूर्ण गुण यह है कि उनकी कविता स्थान-विशेष की कविता न होकर पूरे हिन्दी प्रान्त की और पूरे देश की कविता है। नागार्जुन मूलतः मैथिली भाषी हैं। 'यात्री' नाम से मैथिली में कविता भी लिखते हैं। मैथिली की अपनी कविताओं पर वे साहित्य अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित भी हुए हैं। मिथ्या धारणाओं से ग्रस्त कुछ प्रगतिशील व्यक्ति भी इसे बहुत बड़ी कृतकार्यता मान बैठते हैं। ऐसे लोग अक्सर नागार्जुन को मिथिला जनपद का लोककवि कहते पाये जाते हैं। इस तरह के विचारकों को यह अवश्य ध्यान देना चाहिए कि नागार्जुन ने आरम्भ में अवधी और ब्रज में काव्य-रचना का अभ्यास किया था। आरम्भिक जीवन में संस्कृत पढ़ते हुए वैद्यनाथ मिश्र (तब नागार्जुन

नहीं हुए थे) संस्कृत के अलावा अपनी अवधी और ब्रज की कविताओं से जो पुरस्कार जीनते थे, उसी से अपना खर्च चलाते थे। इसके अलावा 'लेनिन शतकम्' आदि अनेक महत्वपूर्ण कविताएं उन्होने सस्कृत मे रची हैं। पालि, प्राकृत और बंगला आदि पर जैसा अधिकार नागार्जुन का है, वैसा हिन्दी के शायद ही किसी कवि का हो। नागार्जुन का अधिकांश जनवादी काव्य खड़ी बोली हिन्दी मे है। खड़ी बोली ऐतिहासिक कारणों से जनपदीय 'बोली' से ऊपर उठ कर पूरे हिन्दी प्रान्त की जातीय भाषा के आसन पर पहुंच गई है। अगर नागार्जुन ने केवल मैथिली मे रचना की होती, या फिर थोडी बहुत रचनाएं ही मैथिली से इतर बोलियों और भाषाओं में की होती तो उन्हें मैथिली का लोककवि कहना संगत जान पड़ता। लेकिन जिस कवि ने क्षेत्रीय और भाषाई सीमाओं को तोडकर खुद को जातीय और राष्ट्रीय कवि के स्तर पर पहुंचाया हो, उसे फिर से जनपद विशेष मे सीमित मान लेना प्रगतिशील कार्य नही है।

नागार्जुन के काव्य के आस्वाद में विविधता है; उनके काव्य की भाषा में भी विविधता है। नागार्जुन के जीवन के अनुभवों में विविधता है, काव्य के आस्वाद और भाषा की विविधता का अनुभव-वैविध्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नागार्जुन अत्यन्त दीन हीन कृषक कुल मे उत्पन्न हुए और घुमक्कड़ी की वृत्ति उन्हें अपने पिता से विरासत मे मिली। स्वतन्त्र रूप मे जीवन बिताते हुए अपने इस जन्मजात संस्कार की प्रेरणा से वे देश-विदेश भ्रमण करते रहे। वे अपने जीवन में शायद ही कभी, कहीं कुछ वर्ष रुककर टिके हों। इस घुमक्कडी का दुष्परिणाम यह हुआ कि आय का नियमित स्रोत न बन सका और वे 'सफल' गृहस्थ न बन सके।। इस सांसारिक असफलता के साथ-साथ उनकी घुमक्कड़ी का जो लाभ उनके कवि को मिला, उसे हम उनकी कविता में सहज ही देखते हैं। भारत में पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण सब तरफ के जीवन और सब तरफ की प्रकृति से नागार्जुन का प्रत्यक्ष परिचय है। जीवन की विपुल अनुभव राशि किसी कवि की चेतना को किस रूप में ढालती है, नागार्जुन की कवितायें इसका अकाट्य उदाहरण हैं। जीवन के अनुभव और रचनात्मक साहित्य में जितना प्रत्यक्ष सम्बन्ध नागार्जुन के यहां देखने को मिलता है, उतना विभिन्न कारणों से उनके समकालीन या बाद के अधिकांश कवियों में नहीं मिलता।

वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' का नागार्जुन के रूप मे उदय तब हुआ जब उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। आजकल कुछ लोग इस घटना को बढा-चढाकर इस रूप मे पेश करते है कि ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न होने का पाप धोने के विचार से वैद्यनाथ मिश्र बौद्ध बन गये (कृष्णा सोबती, आलोचना 56-57)। इससे परिणाम यह निकलेगा कि नागार्जुन की काव्य-चेतना किसी न किसी रूप में ब्राह्मणवाद से आक्रांत है। बौद्ध धर्म में उनकी दीक्षा इस आक्रांतता की प्रतिक्रिया है। लेकिन वास्तविकता इससे

भिन्न है। 'आलोचना' के इसी अंक में एक अन्य साक्षात्कार में नागार्जुन ने बौद्ध बनने की अपनी कथा बतायी है। राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनूदित 'सयुक्त निकाय' पढ़कर उन्हें इच्छा हुई कि यह ग्रन्थ मूल में पढ़ा जाये। पालि सीखने का सम्भव उपाय था लंका जाकर वहाँ के बौद्ध मठ में रहना। नागार्जुन वहाँ पालि पढ़ते थे और मठ के 'भिक्खुओं' को संस्कृत पढ़ाते थे। 'मठ में रहना और भिक्खु न होना, इसमें बड़ी झंझटबाजी थी। कायदा यह होता है कि जो भिक्खु बन गया सो उच्चतर आसन का अधिकारी हो गया वस्तुतः। वह उम्र में छोटा होगा तो भी भिक्खु आपसे ऊँचे आसन पर बैठेगा। मठ में जितने भी शिष्य हमसे संस्कृत सीख रहे थे, सब भिक्खु थे। वे बैठे ऊँची कुर्सी पर, हम बैठे नीची कुर्सी पर। उन्होंने कहा कि गुरुजी यह ठीक नहीं लगता। अन्य भी कई बातों में भिक्खु गैर भिक्खु में इतना-इतना फर्क कि क्या बतायें! तो हमने कहा चलो शिष्यों की ही बात मान लो।'

यह है नागार्जुन के बौद्ध बनने की कथा। अगर ब्राह्मणवादी संस्कार की आक्रांतता की प्रतिक्रिया के कारण वे बुद्ध की शरण में जाते तो ब्राह्मण संस्कारों के प्रति उग्रतापूर्ण प्रदर्शनवाद का परिचय देते, बौद्ध संघों के प्रति भावुकतापूर्ण श्रद्धा की झलक दिखाते, इस आलोचनात्मक विवेक से कार्य न लेते। नागार्जुन का जन्म अत्यन्त साधारण किसान परिवार में हुआ। यह संयोग की बात है कि वह परिवार ब्राह्मण था। ब्राह्मणवाद का दंभ वहाँ नहीं हो सकता था। यह दंभ तब होता जब उनका वातावरण ऐश्वर्य-सम्पदा और विधिनिषेधों-अनुष्ठानों से बना होता। श्री मनोहरश्याम जोशी ने नागार्जुन से अपनी बातचीत का ब्योरा लिखते हुए आश्चर्यपूर्वक कहा है कि उनका बचपन पाडित्य परम्परा से, अनुष्ठान-वैभव से भी नहीं जुड़ा है। (आलोचना, 56–57)

जिस तरह घुमक्कड़ी नागार्जुन को सहजात संस्कार के रूप में मिली, उसी तरह अभाव और आलोचनात्मक विवेक भी उन्हें सहज संस्कार के रूप में प्राप्त हुआ। अन्तर इतना था कि घुमक्कड़ी पिता से मिली और आलोचनात्मक विवेक अभावग्रस्त जीवन और पिता की मानवीय कमजोरियों से उत्पन्न विषम पारिवारिक स्थिति के दबाव से। यह संस्कार ऐसा है कि नागार्जुन ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी ब्राह्मण नहीं हैं, 'बुद्धं शरणं' जाकर भी बौद्ध नहीं हैं। वे 'लक्ष्मी' को सम्बोधित करके बड़ी सरलता से यह व्यंग्य कर सकते हैं कि—

जय-जय हे महारानी
दूध को करो पानी
आपकी चितवन है प्रभु की खुमारी
महलों में उजाला
कुटियों पर पाला
कर रहा तिमिर प्रकाश की सवारी।

(हजार-हजार बाँहों वाली, पृ० 52)

इस लक्ष्मी का आसन कमल है, वाहन उल्लू है और पति विष्णु है जिसका निवास है क्षीर सागर। वह वहां लक्ष्मी के 'चितवन' की खुमारी में ऐसे पड़ा हुआ है जैसे रीतिकालीन नायिका का प्रेमी! इस विष्णु के बारे मे नागार्जुन का मन करता है कि—

मैं उस अगस्त्य-सा पी डालूं सारे समुद्र को अंजलि से
उस अतल-वितल में तब मुझको
मुर्दा भगवान दिखाई दे

(उपर्युक्त, पृ० 31–32)

ठीक इसी तरह बौद्ध संघों के अपने अनुभव-ज्ञान से सम्पन्न होकर उन्होंने 'भिक्षुणी' की कल्पना की है। वह मजबूरियों के कारण बचपन में ही बुद्ध की शरण मे आ गई। युवावस्था के साथ उसकी नारी-सुलभ आकाक्षायें जागने लगीं। वह बुद्ध के प्रति आकृष्ट होती है। हीनयान-महायान समझ चुकने के बाद अब वह मानव-सम्बन्धों का सहजयान जानना चाहती है—

कोई एक होता
जिसको अपना मैं समझती···
भूख मातृत्व की मिटा देता वह

(युगधारा, पृ० 20)

स्वभावतः बुद्ध के प्रति उसके आकर्षण का कारण है मातृत्व की भूख! यह उसकी मानवीय आकांक्षा है। संघों के नियम इस मानवीय आकांक्षा पर पाबन्दियाँ लगाते हैं। नागार्जुन ने इन पाबन्दियों के मुकाबले में मनुष्य की सहज अभिलाषाओं को रख दिया है और इसके लिये बुद्ध के जीवन में एक कल्पित स्थिति को माध्यम बनाया है। धर्म के प्रति, कम से कम बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति धार्मिक विधान और मानवीय आकांक्षा की टक्कर दिखाकर धर्म की निरर्थकता कभी उजागर न करता।

इसका परिणाम यह निकलता है कि नागार्जुन ने बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के बाद, उसके साहित्य और व्यवहार का अध्ययन करने के बाद अपने चिंतन और अनुभव को समृद्ध किया, लेकिन अपने सहज आलोचनात्मक विवेक को उन्होंने कभी त्यागा नहीं। नागार्जुन की काव्य-चेतना का पहला संघर्ष धर्म की जकड़बन्दी के खिलाफ चला। उन्होंने यह भली-भाँति अनुभव किया कि समकालीन जीवन में धर्म की कोई प्रगतिशील सामाजिक भूमिका नहीं रह गई है। वह धनिकजनों की सम्पदा और साधारणजनों की विपदा से सम्बद्ध है। वह साधारण जन को तरह-तरह के अमानुषिक और अप्राकृतिक विधि-निषेधों में उलझाता है, जीवन को निरर्थक मान-कर उससे पलायन का उपदेश देता है और इस तरह जनसंघर्षों को कुंठित करके वर्तमान भेदभाव और अन्याय-उत्पीड़न की रक्षा करता है। यही कारण है कि

नागार्जुन 'हे हमारी कल्पना के पुत्र, हे भगवान' कहकर (उप०, पृ० 15) मानव-चेतना से दैवी-शक्तियों का आतंक उतार फेंकते हैं। वे परम्परा से जुड़ते हैं, लेकिन उसे अविवेकपूर्वक स्वीकार नहीं कर लेते। यह नागार्जुन की काव्य-चेतना का मानववादी आधार है।

नागार्जुन का यह मानववाद एक तरफ वैज्ञानिक चिंतन की ओर अभिमुख है और दूसरी तरफ समाज के अन्तर्विरोधों के खिलाफ एक सजग रचनाकार की तीव्र प्रतिक्रिया से सम्बद्ध है। नागार्जुन की इस चेतना का आधार निर्मित हुआ किसान आंदोलन में उनकी भागीदारी के बीच। लंका के बौद्ध मठ में नागार्जुन जो अनुभव कर रहे थे, उसे देखते हुए वहां उनका अधिक दिन ठहरना असम्भव था। उन्होंने बिहार में किसान आन्दोलन के जनक स्वामी सहजानन्द से पत्र-व्यवहार किया और हिन्दुस्तान वापस लौट आये। स्वामी जी ने उनसे कहा कि 'क्या करोगे पुरातत्व का, पुरालेख का, नये तत्व से जूझो, नये लेख को बांचो।' बाद को जब नागार्जुन राहुल जी के साथ तिब्बत यात्रा पर रवाना हुए तो बीच से ही वापस लौट आये। कहते हैं तबीयत खराब हो गई थी। लेकिन "यह बात भी मन के किसी कोने में थी कि वर्तमान से मुंह मोड़कर अतीत में भागना ठीक नहीं।" लौट कर नागार्जुन सहजानंद के साथ किसान आन्दोलन में सक्रिय रूप से जुड़ गये। "दो वर्ष में तीन बार जेल गये।" (आलोचना, 56-57) लेकिन राहुलजी नहीं लौटे। वे अतीत की तरफ बढ़ते गये। राहुलजी किसान आंदोलन का सूत्रपात करने वालों में सहजानन्द के सहयोगी थे। वे वर्तमान से अतीत की तरफ गये। नागार्जुन अतीत से वर्तमान की तरफ आये। दोनों की यात्रायें भिन्न दिशाओं में हुई। नागार्जुन की यात्रा उनके संगत इतिहास-बोध का परिचायक है। उनके इतिहास-बोध का महत्व यह है कि दैवी शक्तियों के अन्धविश्वास और आतंक से मुक्त होकर वे निरंतर आगे बढ़ते गये। उनकी यह प्रगति जनआंदोलनों से उनके घनिष्ठ सम्पर्क का नतीजा है। नागार्जुन की काव्य-चेतना के निर्माण और विकास में उनके जीवन की इस यात्रा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'नागार्जुन जितने क्रांतिकारी सचेत रूप से हैं, उतने ही अचेत रूप से भी हैं।' (नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 141) नागार्जुन के सहज संस्कार और सजग विचारधारा में विरोध नहीं है। इसका कारण यह है कि अपने जीवन की स्थिति से, अपने विविध अनुभवों के प्रसंग में नागार्जुन की चेतना की जो आधारभूमि तैयार हुई, उसकी स्वाभाविक परिणति क्रांतिकारी दिशा में ही हो सकती थी : इसलिये जब वे मार्क्सवाद और वैज्ञानिक चिंतन के नजदीक आये, तब वह उनके संस्कार की दुनिया के साथ घुलमिल गया। इससे उनके सृजन पर यह प्रभाव पड़ा कि व्यक्तिगत अनुभवों को सार्वजनिक रूप में ढालने का जटिल कार्य नागार्जुन ने अत्यन्त सरलता के साथ किया। आधुनिक कविता में यह

कार्य सबसे अधिक सफलता के साथ निराला ने किया था। 'सरोज स्मृति' उनकी इस विशेषता का अन्यतम उदाहरण है। निराला के बाद यह परम्परा भी नागार्जुन के काव्य में ही विकसित हुई। 'सिंदूर तिलकित भाल' उनकी इस सफलता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

यह बात सच है कि नागार्जुन ने जितना अध्ययन परंपरागत वाङ्मय का और सांस्कृतिक परंपरा का किया है, उतना विज्ञान, अर्थशास्त्र और मार्क्सवाद का नहीं किया है। इसलिए उनकी राजनीतिक मान्यताओं में उतार-चढ़ाव दिखाई देता है, उनमें दार्शनिक गंभीरता की कमी जान पड़ती है। लेकिन यह बात भी सच है कि उन्होंने जितना अध्ययन जनता के यथार्थ जीवन का किया है, उतना उनके समानधर्मा अन्य कवियों ने नहीं किया है। नागार्जुन ने अपने किताबी अध्ययन को अपने व्यावहारिक अनुभव-ज्ञान मे आत्मसात कर लिया है।

जनजीवन से अविच्छेद्य संबंध और सांस्कृतिक परंपरा का विपुल ज्ञान—इसका एक परिणाम यह हुआ है कि नागार्जुन की कविता में सांस्कृतिक गरिमा आयी है। इसका दूसरा परिणाम यह हुआ है कि राजनीतिक मान्यताओं में असंगतियों के बावजूद उनकी प्रतिक्रियाएं जनता के हित के विरुद्ध कभी नहीं जातीं। नागार्जुन का सचेत और अचेत भाव-बोध जनता के साथ अभिन्न रूप में जुड़ा है। स्वभावतः जनता के जीवन को कष्टमय और कलहपूर्ण बनाने वाली प्रत्येक वस्तु नागार्जुन की घृणा का पात्र है। उनकी यह घृणा कितनी प्रचंड है, इसे समझना कठिन नहीं है। 'बताऊँ' शीर्षक कविता का आरंभ इस प्रकार होता है :

> बताऊँ ?
> कैसे लगते हैं—
> दरिद्र देश के धनिक ?
> कोढ़ी कुढब तन पर मणिमय आभूषण !
>
> (हजार-हजार बांहों वाली, पृ० 54)

एक आतंकित परिस्थिति का चित्र खींचकर नागार्जुन ने समाज के अंतर्विरोध पर जैसा प्रहार किया है, वैसा दूर-दूर से बौद्धिक सहानुभूति जताने वाले कवियों के लिए संभव नहीं है। 'बताऊं' ? के साथ भेद खोलने वाली जो मुद्रा है उससे नागार्जुन एक तरफ पाठक समुदाय से—जनसाधारण से सीधा, विश्वास का रिश्ता जोड़ लेते हैं और दूसरी तरफ यह ध्वनित कर देते हैं कि उनकी बात उनके अपने अनुभवों का निचोड़ है। अपने अनुभव के बल पर नागार्जुन इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि देश की दरिद्रता का उपचार करने की जगह इस कोढ़ पर मणिमय आभूषण का शृंगार करने वाला समाज अमानवीय है। नागार्जुन को हर प्रकार की अमानवीयता पर मूलभूत रोष है। उनका यह रोष उनकी कविता में सर्वत्र व्याप्त है। वह कहीं व्यंग्य मे ढलकर व्यक्त हुआ है, कहीं चुनौती और ललकार के स्वर में प्रकट हुआ है; वह कहीं इस अमानवीय शासन-सत्ता के राजनीतिक और

सांस्कृतिक प्रतिनिधियों का उपहास करके सामने आता है, कही प्रकटतः आदर-श्रद्धा और 'मन्त्र कविता' का रूप लेकर उभरता है। वह हर जगह काव्यात्मक ही है, ऐसी बात नही है। महत्वपूर्ण यह है नागार्जुन को जितनी घृणा वर्तमान समाज-व्यवस्था से है, वे उस पर अपना आक्रमण उतना ही केन्द्रित करते जाते हैं।

नागार्जुन की काव्य चेतना का यह पक्ष जनजीवन के साथ उनकी सक्रिय हमदर्दी से जुड़ा है इसलिये वे खून सने जबड़े की निन्दा करके अपने 'जाहिल बाने' से ही चिपक रहने का सुझाव नहीं देते। वे इस समाज को बदलकर ऐसा समाज लाने का स्वप्न देखते हैं जिसमे,

> सेठो और जमीदारों को नहीं मिलेगा एक छदाम
> खेत-खान-दूकान-मिले सरकार करेगी दखल तमाम
> खेत मजूरों और किसानों में जमीन बंट जायेगी
> नही किसी कमकर के सिर पर बेकारी मंडरायेगी।

यह काम वही सरकार करेगी जिसे दरिद्र देश के धनिको से—सेठों—जमींदारों से—मोह न हो, जिसे श्रमिक जनता से—किसान-मजदूर से—प्रेम हो। नागार्जुन समाज के अंतर्विरोध को समझते हैं, इस अंतर्विरोध से जुड़े हुए अत्याचार और उत्पीड़न को अनुभव करते हैं, इसके लिये जिम्मेदार लोगों से तीव्र घृणा करते हैं, और इस स्थिति को बदल कर न्याय और समता पर आधारित समाज की रचना करने वाली श्रमिक जनता से नाता जोडते हैं। नागार्जुन की काव्य-चेतना का यह अत्यन्त सबल पक्ष है कि वे श्रमिक जनता से तादात्म्य स्थापित करते हैं और उसके दृष्टिकोण को स्वांगीभूत करते हैं। जनता के साथ नागार्जुन का यह तादात्म्य न कल्पित है, न आरोपित। 'हरिजन गाथा' मे चमरटोली के जो पुरोहित सन्त गरीबदास आते हैं वे कवि के ही प्रतिरूप हैं। बालक के जन्म पर उसके परिजन-पुरजन चिंतित और विमूढ़ अवस्था में हैं। सन्त गरीबदास बालक की हथेलियों में हथियारों के निशान देखते हैं और जान लेते हैं कि इसने सूक्ष्म रूप में विपदा झेली है। वह पैदाइश के साथ ही हथेलियो में हथियारो के निशान लेकर पैदा हुआ है, वह अपने साथी-संघातियों के साथ मिलकर धरती से जुल्मों का अन्त कर देगा। दमनकारी सत्ता और उससे लाभ उठाने वाले सेठ-जमीदार 'तानाशाही सामंत पर प्रजातन्त्र का अभिनय' और 'हिंसा का असत्य से परिणय' कर सकते है (तुमने कहा था, पृ॰ 51) तो 'शोषण की बुनियाद हिलाने वाले हरिजन-बालक को हिंसा और अहिंसा दोनों बहनें' समान रूप से प्यार करेंगी। (खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृ॰ 124) वे गरीबदास बच्चे को आरिया-परिया भेज देने का सुझाव देते हैं और अपनी तरफ से दस-दस के छह नोट बुद्धू और खदेरन के हाथ में सौंपकर वापस चले जाते हैं। नवजात हरिजन-बालक में भविष्य का सपना मूर्तिमान करके गरीबदास अपनी झोंपड़ी में नहीं लौटते, नदी किनारे निकल जाते हैं। रास्ते में वे शिशु की भास्वर छाया अपने आगे-आगे

अनुभव करते हैं। नागार्जुन किस तीव्रता से अपने जीवन काल में ही क्रान्ति की शक्तियों को उभरते हुए देखना चाहते हैं! यह देखकर ही मानो उनका जीवन सफल हो जायेगा, वे अपने प्राण सार्थकता के एहसास के साथ छोड़ सकेंगे! वे यायावर हैं, उनकी कुटिया यह संसार ही है। उनका मानववाद उनकी क्रान्तिकारी आस्था से दीप्त है। निराशावाद के लिये उसमे स्थान नहीं है।

जिन भाष्यकारों को नागार्जुन की यह प्रखर और पक्षधर चेतना खलती है, वे कभी उनकी निन्दा करते हैं और कभी उनके विचारों को तोड़-मरोड़ कर पेश करते हैं। नागार्जुन की एक प्रसिद्ध कविता है 'बसन्त की अगवानी'। प्रकृति पर हर तरफ बसन्त का उल्लास छा गया है, दूर अमराई मे कोयल बोलती है, वृद्ध वनस्पतियों की ठूंठी शाखाओं में पोर-पोर, टहनी-टहनी दहकने लगती है, अलसी के नीले फूलों पर आकाश मुस्काता है, पिचके गालों पर भी कुंकुम न्योछावर हो जाता है। रंगों के इस उल्लास मे जब सारा संसार बसंत की अगवानी करने के लिए बाहर निकलता है तो ठौर-ठौर पर सरस्वती मां खड़ी दिखायी देती है। वे प्रज्ञा की देवी हैं। वे सहज उदार हैं। वे अपने अभिवादन में झुके आस्तिक-नास्तिक सभी को सम्बोधित करती है—

> ···बेटे, लक्ष्मी का अपमान न करना
> जैसी मैं हूं, वैसी वह भी मा है तेरी
> धूर्तों ने झगड़े की बातें फैलायी हैं
> हम दोनों ही मिल-जुल कर ससार चलातीं
> बुद्धि और वैभव दोनों यदि साथ रहेंगे
> जनजीवन का यान तभी आगे निकलेगा।
>
> (नागार्जुन, पृ० 49)

इस विवरण से स्पष्ट है कि आज लक्ष्मी और सरस्वती मे सन्तुलन नहीं है, धूर्तों ने उनमें झगड़े की बात फैला रखी है। प्रज्ञा की देवी अपनी प्रिय संतानों को यह ज्ञान देती है कि बुद्धि और वैभव का अलगाव मिटाकर, दोनों को जोड़ कर ही जनजीवन की प्रगति सम्भव है। ऐसा तभी होगा जब धूर्तों की चाल नाकाम कर दी जाएगी। लेकिन डा० प्रकाशचन्द्र भट्ट अन्तिम दो पंक्तियां उद्धृत करके यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "वस्तुतः पूंजीवाद के दोषों का एकमात्र कारण ही बुद्धि का अभाव (!) है। यदि पूंजी के साथ प्रज्ञा का समावेश हो जाये तो पूंजीपति शोषण और अत्याचार के स्थान पर स्वयं निर्धनों को ऊपर उठाने का प्रयास करने लगेंगे।" (नागार्जुन : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० 44)

यह भ्रम नागार्जुन को नहीं है। वे अपनी कविताओं में बार-बार दिखाते हैं कि पूंजीवाद का आधार है मुनाफा और सूद, इसलिये श्रमिक जनता के हितों से उसका अनिवार्य विरोध है। नागार्जुन पूंजीवाद के दमनकारी चरित्र पर जितनी

कविताओं में और जितने तरीके से लिखते हैं, उसे देखकर, उनके दृष्टिकोण के बारे में भ्रम की गुंजाइश नहीं रह जाती। इस कविता में भी लक्ष्मी को सरस्वती से—वैभव को बुद्धि से—अलग करने वालों को धूर्त कहकर वे अपनी मान्यता का यथेष्ट संकेत कर देते हैं। फिर भी डा० भट्ट अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को नागार्जुन पर आरोपित करके उन्हें पूंजीवादी चिन्तन के दायरे में खींच लाने का प्रयास करते हैं। उनके इस साहस से ईर्ष्या होती है ! समस्या यह है कि पूंजीवादी चिन्तन कितना भी सुधारवादी हो, वह एक सीमा से अधिक आलोचना की छूट नहीं देता। डा० भट्ट ने आगे लिखा है, "कवि ने नेहरूजी की समाजवादी नीति को सपना कहा है और इसी कारण नागार्जुन ने सीधे नेहरू पर प्रहार करना और उनके कार्यों से देश का अहित होना सिद्ध करने का प्रयास किया, जिसने कहीं-कहीं शुद्ध नारेबाजी का रूप ले लिया है। नागार्जुन की ऐसी कविताओं में साम्यवादी रग सामान्य से अधिक दिखाई देता है। यहाँ वे कवि कम और पार्टी कार्यकर्त्ता अधिक लगते हैं।" (उप०, पृ० 54)

अगर नागार्जुन साम्यवादी रंग में रंगे हैं तो उनके विचारों को पूंजीवादी चिन्तन के दायरे में घसीटने का प्रयत्न आलोचक की किस बुद्धिमानी का परिचायक है ? फिर, नेहरू की 'समाजवादी' नीति सच थी या सपना, यह डा० भट्ट की पुस्तक के प्रकाशन के समय—1974—तक अवश्य ही उजागर हो चुका था। अपनी भावना के रंग में रंगकर नागार्जुन के दृष्टिकोण को गलत-सही रूप में व्याख्यायित करने से विचारों में असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। डा० भट्ट की आलोचना से यह बात जाहिर हो जाती है। मुख्य बात यह है कि नागार्जुन ने नेहरू या अन्य किसी भी व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में नहीं देखा है। व्यक्ति नागार्जुन के सम्मुख सामाजिक हितो और विचारों के निमित्त हैं। उन्हें लक्ष्य करके वे सामाजिक या राजनीतिक परिस्थितियों पर टिप्पणी करते हैं।

> आओ रानी हम ढोएंगे पालकी
> यही हुई है राय जवाहरलाल की

लिखकर नागार्जुन व्यक्तिगत रूप से नेहरू की निन्दा नहीं करते। [illegible] एलिजाबेथ के स्वागत में खड़े भारतीय शासक वर्ग की समझौतावादी नीति को आक्रमण का लक्ष्य बनाते हैं। 'रानी' और 'जवाहरलाल' ब्रिटेन और भारत की राजसत्ता के प्रधान हैं। भारत स्वतन्त्र हो गया है, लेकिन अभी भी ब्रिटेन की महारानी की 'पालकी' का बोझ भारतीय जनता के कन्धे पर आयेगा। भारतीय जनता की कीमत पर साम्राज्यवाद का पोषण स्वतन्त्रता के बाद भी नहीं रुका, बल्कि भारत के पूंजीवादी नेताओं ने खुद को ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बद्ध रखा। आज भी भारत कामनवेल्थ का सदस्य है, उसका सिक्का स्टर्लिंग एरिया से बंधा है। इस कविता में नागार्जुन ने इस सांठ गांठ पर व्यंग्य किया है। उनके व्यंग्य का

कमाल यह है कि वह सभी तरह के छद्म को उद्घाटित कर देने की क्षमता रखता है।

इसी तरह जो 'जगततारिणी प्रकट हुई है नेहरू के परिवार में' वह नागार्जुन के व्यंग्य का सर्वाधिक शिकार बनी है। उसने ढहते हुए कांग्रेसी शासन को नया जीवन दिया है। सन् '67 में जो कांग्रेस आठ राज्यों में 'अपोजीशन' में आ गयी थी, उसकी स्थिति बूढ़े शेर जैसी हो गयी थी। (हजार-हजार बाहों वाली, पृ० 152-53) 1971 आते-आते इस 'जगततारिणी' के छल-बल-कौशल से हाल यह हो गया कि—

संविधान की रुई रूपहली भद्रलोक धुनते हैं
देवि, तुम्हारे स्टेनगनों से तरुण-मुंड मुनते हैं

डायन के गुर सीख कर आंत चबाने वाली इस 'जगततारिणी' के फरेब पर नागार्जुन कहते हैं,

महंगाई की सूपनखा को कैसे पाल रही हो
सत्ता का गोबर जनता के मत्थे डाल रही हो···
पग-पग तुम लगा रही हो परिवर्तन के नारे
जन-युग की सतरंगी छलना, तुम जीती, हम हारे···

(तुमने कहा था, पृ० 48-49)

यह देवी कंकालों से अपने नव-सामन्तों और महाजनों की रखवाली करने में ऐसी व्यस्त है कि कवि पुराने अनुभवों के आधार पर आगाह करता है—

अपनी गर्दन आप काट लो, करो प्रणति साष्टांग
द्रवित न होंगे किंचित भी तुम पर पिशाच गौरांग

(उप०, पृ० 50)

इसी प्रकार, अरविंद की आलोचना करते हुए नागार्जुन ने लिखा है,

है विभ्रांत बुद्धिजीवी, तुम बने हुए हो भारी भ्रम भगवान
शासक-शोषक वर्ग तुम्हारा क्यों न करें गुणगान

(हजार-हजार·······, पृ० 19)

स्पष्ट है कि नागार्जुन के व्यंग्य का निशाना वह बनता है जो शोषक-शासक वर्ग से सम्बद्ध होकर जनता को ठगने या कुचलने की बदनीयत रखता है। नागार्जुन परिस्थितियों और वस्तुओं में अन्तः सम्बन्ध देखते हैं। इसलिए सामाजिक-विधान की असंगतियों को राजनीति से काट कर नहीं पेश करते। यही कारण है कि उनके राजनीतिक व्यंग्य में शासक-शोषक वर्ग के प्रति उनका रोष और घृणा तथा दबी-कुचली जनता के प्रति उनका आत्यन्तिक ममत्व एक साथ विद्यमान है। वे इस भ्रम में नहीं पड़ते कि चमत्कार से पूंजीपतियों का हृदय-परिवर्तन हो जायेगा और वे मुनाफाखोरी बन्द करके जनजीवन के उत्थान का बीड़ा उठा लेंगे। वे जिस 'जगत-तारिणी' के डायन रूप को 'कारतूसों की माला होगी, होगा दृश्य अनूप' (तुमने कहा

था, पृ० 50) कहकर चित्रित करते हैं, उसे 'नफाखोर सेठों की अपनी सगी माई' के रूप में देखते हैं। (नागार्जुन, पृ० 80) नागार्जुन की काव्य-चेतना का स्वरूप यथार्थवादी है, वह भावुकता से कोसो दूर है। अयथार्थवादी भावुकता के बूते पर नागार्जुन जैसा समर्थ व्यंग्य लिखना असम्भव है।

कुछ विद्वान् खुलकर नागार्जुन के विचारों को पूंजीवाद का पिछलगुआ नही कह पाते। वे अपनी व्याख्या मे दूसरे प्रकार का कौशल दिखलाते हैं। उदाहरण के लिये श्री विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की राय है, "नागार्जुन अपनी कविताओ मे उस अभिजात मानसिकता का विरोध करते है जो मामूली आदमी की उपेक्षा करती है। इसी अर्थ में वे कवि की पक्षधरता के समर्थक है।" (समकालीन हिन्दी कविता, पृ० 61) नागार्जुन कवि की पक्षधरता को इतना तटस्थ, निष्क्रिय और नकारात्मक नहीं मानते। उनके कवि की पक्षधरता अधिक गहन और व्यापक दायित्व-बोध से युक्त है। वे मामूली आदमी की उपेक्षा करने वाले कुलीनतावाद का विरोध तो करते ही है, मुख्य बात यह है कि नागार्जुन इस मानसिकता के सामाजिक आधार को भी देखते हैं। वे यह देखते हैं कि वर्ग-विरोध वाले समाज में ऐसी मानसिकता अनिवार्यतः उत्पन्न होती है। यह मानसिकता मणिमय आभूषणों की चमक-दमक का प्रतिबिम्ब है और कोढ़ी-कुढब तन को घृणा का पात्र समझती है। नागार्जुन दरिद्रता के कोढ को दूर करने के लिये जितने चिंतित है, उससे वे केवल अभिजात मानसिकता के विरोधी नही बनते, बल्कि इस मानसिकता को जन्म देने वाली समाज-व्यवस्था के भी विरोधी बनते हैं।

नागार्जुन की पक्षधरता के इस स्वरूप को गलत ढग से समझने-समझाने का कारण यह है कि श्री विश्वनाथप्रसाद तिवारी श्रमिक जनता से नागार्जुन के अविच्छेद्य सम्बन्ध को नजर-अंदाज करते हैं। वे मानते हैं कि "नागार्जुन की अधिकांश कवितायें···निम्नमध्यवर्गीय जीवन को चित्रित करती हैं।" (उप०, पृ० 58) इसमें सन्देह नहीं कि 'पूस माघ की धूप सुहावन' आदि अपनी अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण कविताओं में नागार्जुन निम्नमध्यवर्ग के जीवन की बड़ी मार्मिक तस्वीर दिखाते हैं, लेकिन यह निम्नमध्यवर्ग उनकी चेतना या दृष्टिकोण का आधार नहीं है। उसका आधार है श्रमिक वर्ग किसान-मजदूर। मध्यवर्गीय आधारभूमि से प्रेरित होने पर किसी भी कवि की रचना में निष्क्रिय सहानुभूति अथवा भावुक उद्गार का ही स्वर फूटेगा। नागार्जुन की विशेषता यह है कि उन्होंने श्रमिक जनता की आधारभूमि से समाज के प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समस्या पर दृष्टिपात किया है। 'वे और तुम' कविता के उदाहरण से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है। कविता यहाँ पूरी उद्धृत किये देता हूं—

वे लोहा पीट रहे है
तुम मन को पीट रहे हो

वे पत्थर जोड़ रहे है
तुम सपने जोड़ रहे हो
उनकी घुटन ठहाको में घुलती है
और तुम्हारी घुटन ?
उनींदी घड़ियो में चुरती है
वे हुलसित हैं
अपनी ही फसलों में डूब गये है
तुम हुलसित हो
चितकबरी चांदनियों में खोये हो
उनको दुख है
तरुण आम की मन्जरियों को पाला मार गया है
तुमको दुख है
काव्य-संकलन दीमक चाट गये है।

कविता में दो खण्ड हैं। पहला खण्ड मजदूर और मध्यवर्ग को आमने-सामने रखता है। दूसरा खण्ड किसान और मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी को। दोनो खण्डों मे सामान्य है मध्यवर्ग, उसके मुकाबले में नागार्जुन ने क्रमशः मजदूर वर्ग और किसान को रखा है। पहले खंड मे तीन प्रसंग है। वे क्रमशः मजदूर वर्ग और मध्यवर्ग के सामाजिक कार्यकलाप को यानी श्रम-प्रक्रिया में उनकी भूमिका को, उनकी भौतिक चिन्ताओं-आकांक्षाओं को और इनके परिणामस्वरूप उनके सांस्कृतिक जीवन को (भौतिक परिस्थितियों के संस्कारगत परिणाम को) उभारते है। लोहा पीटने वाला—कठिन शारीरिक श्रम करने वाला—मजदूर पतर जोड़ने की चिन्ता में रहता है, फिर भी ठहाके लगाता है। वह अपनी जिन्दगी की घुटन को ठहाकों में घोलकर कुण्ठाओं से बचता है। जिन्दगी की घुटन उसके कठिन संघर्षों का परिणाम है और ठहाका श्रम-प्रक्रिया से जुडने पर मिलने वाले नैतिक तेज का परिणाम है। इसी तरह, दूसरे खण्ड में दो प्रसग हैं। अपनी मेहनत से फसल पैदा करने वाला किसान खेत में अपने श्रम को फलीभूत होते देखकर हुलसित होता है और आम की नयी मंजरियों पर पाले का प्रकोप देखकर उसे आघात पहुंचता है। मजदूर-किसान की ये चिन्तायें—उनके सुख-दुख की अनुभूतियाँ—उनके भौतिक श्रम से प्रत्यक्ष रूप में जुड़ी हैं। इसे नागार्जुन अपनी दृष्टि और संवेदना का आधार बनाकर इसके मुकाबले मध्यवर्गीय जीवन को रख देते हैं। श्रम-प्रक्रिया से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वह ऊँचे-ऊँचे सपने देखता है, चितकबरी चांदनियो में डूबता है; परिणाम यह होता है कि मिथ्या दुख का शिकार बनता है। आम की मंजरियों को पाला मार जाने से जो पीड़ा उत्पन्न होती है, उसके सामने काव्य-संकलन को दीमक चाट जाने वाला दुख कितना बनावटी लगता है! एक मनुष्य के भौतिक अस्तित्व की समस्या है और दूसरी

इस समस्या से तटस्थ—उसी की छाया मे—चितकबरी चादंनियो मे डूबने की समस्या है। स्पष्ट है कि नागार्जुन की चेतना मध्यवर्गीय दृष्टिकोण पर नही, श्रम जीवी किसान-मजदूर के दृष्टिकोण पर आधारित है। इसी दृष्टिकोण से वे मध्य-वर्ग पर भी कविता लिखते हैं। जहाँ मध्यवर्गीय जीवन की घुटन और विवशता का चित्र खीचते हैं, वहाँ भी अपने इस विवेक को तिलाजलि नही देते। गौर करने की बात है कि धर्म और अतीत की परम्परा के बारे मे नागार्जुन जिस आलोचनात्मक विवेक से काम लेते हैं, वहीं समकालीन जीवन और राजनीति के बारे मे उनके चिन्तन के केन्द्र में प्रतिष्ठापित है।

नागार्जुन के बारे मे वास्तविक सवाल यह उठाया जा सकता है कि घुमक्कड़ी और फक्कडपन से बने अपने यायावर व्यक्तित्व के बावजूद वे श्रमिक जनता की संवेदना और दृष्टि को अपनी काव्य-चेतना का स्रोत और आधार कैसे बना सके हैं? अज्ञेय की एक कविता है 'दूर्वाचल'। इसमें उन्होने यायावर के जीवन को—उसकी स्वाभाविक वृत्ति और उसके रागात्मक संसार को——चित्रित किया है।

जीवन-विधि और रागात्मक संसार के बीच विरोध दिखाकर अज्ञेय ने जिस पीड़ावाद का संकेत किया है, वह नागार्जुन का पक्ष नही है। लेकिन, हर जगह भटकने वाला यायावर प्रत्येक स्थान से प्रत्येक वस्तु से सपृक्त होता है, संसक्ति अनुभव करता है, यह पक्ष उनमें अत्यंत उन्नत स्तर पर विद्यमान है। वे प्रकृति के साथ-साथ मनुष्यों से भी अपनापा महसूस करते है। एमरजेंसी मे जेल-प्रवास के दिनो मे उन्होंने एक कविता लिखी थी 'प्रतिबद्ध हूं'। भ्रमवश कुछ लोग प्रतिबद्ध, सम्बद्ध और आबद्ध को एक मानकर इसकी गलत व्याख्या करते है। नागार्जुन ने इसमें तीन खंड लिखे हैं जिनमें क्रमश: अपनी प्रतिबद्धता, सम्बद्धता और आबद्धता स्पष्ट की है। दूसरे खंड मे उन्होंने लिखा है:

संबद्ध हूं, जी हा, संबद्ध हूं—
सचर-अचर सृष्टि से...
···पल-अनुपल से, काल महाकाल से···
पृथ्वी-पाताल से, ग्रह-उपग्रह से, नीहारिका-जल से···
अथ से, इति से, अस्ति से, नास्ति से···
सबसे और किसी से नही
और जाने किस-किस से···

(खिचड़ी विप्लव, पृ० 57)

संसार में जो कुछ है, नागार्जुन उससे सम्बद्ध है। सबसे और किसी से नहीं—यह रहस्यवाद नही है, उनका बेलागपन है। बेलागपन उन्हें पीड़ावाद के दलदल में जाने से रोकता है, वह उन्हें 'अहं अहंगूहावासी' होने से भी रोकता है। नागार्जुन की यायावरी और उनकी बेलाग संपृक्ति दोनों अभिन्न हैं।

उनकी यायावरी ने उनकी स्थानबद्धता तोड़कर उन्हे जातीय और राष्ट्रीय सवेदना के धरातल पर पहुंचाया है। उनकी यह सवेदना उनके प्रखर राजनीतिक विवेक से जुड़कर उनकी काव्य-चेतना को एक नये धरातल पर पहुंचाती है। इस धरातल पर पहुंच कर नागार्जुन लोककवि के आसन से उठकर हिन्दी के जातीय और भारतीय जनता के राष्ट्रीय कवि का गौरवपद प्राप्त करते है। उनके कवि-व्यक्तित्व के इस स्वरूप को नियन्त्रित और निर्धारित करने वाली शक्ति है उनकी क्रांतिकारी आस्था, उनका सहज अनुभव-विवेक और सजग वर्ग-दृष्टिकोण।

नागार्जुन की जातीय भावना और राष्ट्रीय चेतना उनके श्रमिक वर्गीय दृष्टिकोण पर आधारित हैं, इसलिये उनके काव्य मे मजदूर-किसान के सांस्कृतिक जीवन के तत्व पुष्कल रूप में मौजूद हैं। श्रम-प्रक्रिया से उत्पन्न नैतिक तेज जिस जिन्दादिली के रूप में प्रकट होता है उसके दो स्तर है। एक स्तर है, जीवन की विषम परिस्थितियों में भी हंसना—तनाव और घुटन की ग्रस्तता को हावी न होने देना। 'तुम और मैं' कविता मे श्रमिक जनता के ठहाकों का उल्लेख करके नागार्जुन इसी तथ्य की ओर इशारा करते हैं। कलकत्ता में कुली-मजदूरों के कत्थई दातो की मोटी मुस्कान, बेतरतीब मूछों की थिरकन देखकर नागार्जुन हुलसित होते है और ट्राम मे उनके पास खड़े भद्रजन की दुविधा देखकर खुद भी मजाक बनाते हैं—घिन तो नही आती है ? जी तो नही कुढता है ?' (नागार्जुन, पृ० 60) यह परिहास वृत्ति नागार्जुन के व्यंग्य की जान है। उनकी इस वृत्ति के पीछे जनता से उनके गहन अपनापे का सुदृढ़ आधार है। इसलिये उनका व्यंग्य चिढाने वाला, तिलमिलाने वाला और हेकड़ी दिखाने वाला है। ऐसा वे वही करते है, जहाँ किसी तरह की असंगति देखते हैं। डा० नामवरसिंह जब इस व्यंग्य और परिहास-वृत्ति को 'गम्भीर बातचीत में हल्के-फुल्के प्रसंग' के रूप में देखते थे तब निराला की 'सरोज-स्मृति' मे 'चमरौधे जूते' का प्रसंग देखकर उनकी संस्कारग्रस्त भावना आहत होती थी। (कविता के नये प्रतिमान, पृ० 162-63) इधर उनका ख्याल बदला है। वे अब मानते हैं कि 'कबीर के बाद हिन्दी में नागार्जुन से बड़ा दूसरा व्यंग्यकार पैदा नही हुआ। (आलोचना, 56-57) यह अलग बात है कि पहले कबीर पुरानी बात जान पड़ते थे, उनकी जगह निराला को प्राप्त थी, 'हिन्दी में व्यंग्य या तो निराला ने लिखे हैं या नागार्जुन ने।'' (आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां पृ०, 87) अब निराला अपदस्थ हो गये हैं, उनकी जगह कबीर आ गये है! नागार्जुन अवश्य जहाँ के तहाँ बने हुए है। प्रकट हुआ कि नामवरसिंह नागार्जुन को स्थायी रूप से व्यंग्यकार मानते है। डा० रामविलास शर्मा आधुनिक साहित्य में व्यंग्य और परिहास की कला को भारतेंदु और बालमुकुन्द गुप्त की परम्परा से जोड़ते हैं। वे इसे कृषक जनता की जिन्दादिली के रूप में देखते हैं। वस्तुतः व्यग्य और परिहास का यह गुण हिन्दी जाति का और पूरे भारत की किसान-मजदूर जनता का अपना गुण है जिसे आत्मसात करके ही नागार्जुन जनकवि बने है।

नागार्जुन की जिन्दादिली का दूसरा स्तर है कठिन परिस्थितियों में भी अडिग साहस और धैर्य का। उनका यह गुण भी जनता के प्रति उनके अगाध प्रेम और विश्वास का परिणाम है। नागार्जुन जिस जनता के कवि है, उसका जातीय विकास देशी सामती उत्पीड़न और विदेशी आततायियो के विरुद्ध संघर्ष के क्रम में हुआ है। यह सही है कि जिस युग के कवि नागार्जुन है, उसमें हिन्दी प्रदेश का जीवन क्रांतिकारी उत्साह देने वाला उतना नही, जितना व्यंग्य की सामग्री देने वाला है। नागार्जुन के क्रोध या आवेश वाली कविताओं की तुलना में व्यंग्य वाली कविताओं की सफलता का विश्लेषण करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा था, "इसका एक वस्तुगत कारण यह है कि बिहार और उत्तर प्रदेश मे राजनीतिक जीवन जैसा है— विशेष रूप से वामपंथ की जैसी स्थिति आज है—उससे कवि को क्रातिकारी उत्साह के बदले व्यंग्य के लिये ही सामग्री अधिक मिलती है।" (नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 149) नागार्जुन ने ज्यो-ज्यो इस वस्तुस्थिति को समझा है, त्यों-त्यों उनका रोष व्यंग्य पर ही अधिक निर्भर हुआ है। लेकिन उनका रोष भी उसी अनुपात मे बढा है, इसमे संदेह नही। उनकी चिन्ता इतनी ही नही है कि जीवन जैसा है, उसी के अनुरूप कला की रचना का तरीका भी विकसित कर लिया जाय। वे इस परिस्थिति में जनता की, खासकर वामपक्ष की असंगठित अवस्था से चिंतित हैं। वे समझते है कि जब तक संगठित होकर मजदूर-किसान संघर्ष न चलाएगे, तब तक यही दशा बनी रहेगी। इसलिये उनका रोष एक तरफ उत्तरोत्तर व्यंग्य-निर्भर हुआ है और दूसरी ओर उसने उन्हें अपनी कला की सार्थक भूमिका की खोज के सवाल से भी टकराने को प्रेरित किया है। फलतः उनका रोष कही सात्विक स्वाभिमान के रूप में प्रकट हुआ है, कहीं व्यंग्यपूर्ण हेकड़ी के रूप में। 1976 में 'इर्दगिर्द संजय के मेले जुटा करेंगे' कविता में उन्होने लिखा :

> किधर नहीं है सेठ, भूमिपति किधर नहीं है ?
> कौन कहेगा शातिर गुंडे इधर नहीं हैं !
> देवि तुम्हारी प्रतिमा से मैं दूर खड़ा हूं
> छोटा हूं, पर उन बौनों से बहुत बडा हूं
>
> (खिचड़ी विप्लव, पृ० 83)

सन् '77 के चुनाव में इस 'देवि' की पराजय पर उन्होंने मानों चिढ़ाते हुए लिखा :

> कल तो बाघों पर सवार थी, पड़ी हुई है आज धूल में
> दिखते होंगे विष के कीड़े, हाय उसे अब फूल-फूल में
>
> (उप०, पृ० 87)

इससे उनके सात्विक और उत्कट रोष की भावना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। 1965 में नागार्जुन ने कवि की हैसियत से अपनी भूमिका पर विचार किया

था—'जनता मुझसे पूछ रही है क्या बतलाऊँ ? जनकवि हूं मैं साफ कहूंगा, क्यो हकलाऊँ ? (हजार-हजार बाहों वाली, पृ० 142) आगे चलकर उनकी यथार्थवादी चेतना का जैसे-जैसे और अधिक निखार हुआ, उन्होंने हिन्दी प्रदेश की जनता की वस्तुस्थिति समझकर अपनी कला को भी नये दायित्व-बोध से जोड़ा। अपनी कविताओं में इस चुनौती को व्यावहारिक रूप मे ढालते हुए उन्होने 1979 में कहा—

प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है मेरे कवि का
जन-जन मे जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्‌गाता हूं उस रवि का

(उप०, पृ० 11)

स्वभावतः उनकी प्रतिहिंसा भी उनकी क्रातिकारी चेतना का सकारात्मक पक्ष है। नागार्जुन की वाणी मे हकलाहट कभी नही थी। अन्तर केवल यह आया है कि उन्होंने अपने रोष और जनता की स्थिति को संगत ढंग से समझा है। इसीलिये वे अपने रोष को काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करके जन-जन मे ऊर्जा भर देने के लिये उद्यत हुए है। वे अपने इस प्रयास मे सफल हुए है। 'हरिजन गाथा' उनकी इस सफलता का उत्कर्ष है। हरिजन-दहन की पाशविक पृष्ठभूमि मे एक 'श्याम सलोने' शिशु का जन्म होता है। जब वह गर्भ मे था तब उसके जनक की हत्या हो गयी थी। माताओ के भ्रूण तक इस जुल्म से इतने बेचैन हो उठे कि भीतर ही भीतर चक्कर लगाने लगे। बाहरी दुनिया में इन अत्याचारो का वाजिब प्रतिरोध नही है। नागार्जुन दिखाते है कि इन भ्रूणो ने सूक्ष्म रूप में यह विपदा झेली है इसलिये नवजातक अपनी हथेलियो मे बरछा-भाला-बम वगैरह के निशान लेकर पैदा हुआ है। इस बच्चे का भविष्य बाचने के लिये सन्त गरीबदास का रूप धारण करके खुद नागार्जुन पहुंच जाते हैं—

अरे भगाओ इस बालक को
होगा यह भारी उत्पाती
जुलुम मिटाएंगे धरती से
इसके साथी और संघाती।

(उप०, पृ० 122)

आड़ी-तिरछी रेखाओं में हथियारों के जो निशान हैं, वे दमन की पीड़ा और भविष्य की सम्भावना को एक बिन्दु पर जोड़ते हैं। यह बालक दमन के पाशविक वातावरण में पैदा हुआ है और—

खान खोदने वाले सौ-सौ मजदूरों के बीच पलेगा
युग की आँचों में फौलादी सांचे सा यह वहीं ढलेगा।

नागार्जुन की यथार्थवादी चेतना जनता के साथ किस घनिष्ठ सक्रियता से आबद्ध है, इसे 'हरिजन गाथा' में भली-भाँति देखा जा सकता है। जुल्म के समकालीन वातावरण में भविष्य का स्वप्न अंकित करके नागार्जुन केवल नारेबाजी वाले

अतिरिक्त जोश से नही बचे हैं, वरन् उन्होंने जिस कलात्मक संयम का परिचय दिया है, उससे उनकी यथार्थवादी चेतना के काव्यात्मक उत्कर्ष की सूचना मिलती है।

इस अध्ययन से पता चलता है कि नागार्जुन की काव्य-चेतना में उनके व्यक्तित्व के सचेत और अचेत पक्ष, उनका अनुभव-सवेदन और विचार-ज्ञान, अविभाज्य रूप मे सन्निहित है। उनकी यथार्थ-चेतना केवल बौद्धिक नही हैं, उसमें उनका भावबोध, उनका रागात्मक अन्तर संसार पूरी तरह विद्यमान है। इसीलिये वे मानव जीवन और समाज के प्रति यथार्थवादी इतिहास बोध का विकास करते हैं और साथ ही साथ मानव जीवन और प्रकृति के सम्बन्धो के बारे में वस्तुनिष्ठ, वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचय देते हैं। यान्त्रिक भौतिकवादी और कलावादी-अध्यात्मवादी विचारों से नागार्जुन के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण की भिन्नता बतलाते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है :

"....उनकी प्रज्ञा को जैसे प्रकृति जगाती है, वैसे और कोई उत्तेजक नही। किसान-मजदूरों के कवि को प्रकृति से क्या मतलब ? क्या यह क्रांति-विरोधी पलायन नहीं ? यांत्रिक भौतिकवाद मनुष्य की चेतना को सामाजिक सम्बन्धों—या केवल आर्थिक सम्बन्धों—के दायरे में सीमित कर देता है। इसी धारणा से यह दृष्टिकोण बनता है कि प्रगतिशील साहित्यकार का कर्तव्य सामाजिक सम्बन्धों को क्रांतिकारी ढंग से प्रतिबिम्बित करना भर है। विशुद्ध कलावादी और अध्यात्मवादी चिन्तक यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य की चेतना परब्रह्म का ऐसा विशुद्ध अंश है कि सामाजिक सम्बन्धो जैसी स्थूल वस्तुओ से उसका कोई सरोकार हो ही नही सकता। दोनों ही धारणाये गलत हैं।

"पूंजीवादी व्यवस्था श्रमिक जनता का आर्थिक रूपसे ही शोषण नहीं करती, वह उसके सौन्दर्यबोध को कुण्ठित करती, उसके जीवन को घृणित और कुरूप भी बनाती है। ...क्या भारत में और क्या यूरोप में—कही भी अब तक कोई बड़ा मानव-प्रेमी कवि नही हुआ, जो प्रकृति का प्रेमी भी न रहा हो।" (नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 149)

किसान कुल में जन्म लेने वाले कवि का प्रकृति से अन्तरंग परिचय और सघन लगाव हो, यह स्वाभाविक है। छायावाद के बाद नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल जितने रूपों में और जितने स्तरों पर प्रकृति से उत्प्रेरित होते है, उतना और कोई कवि नहीं होता। अपने गाँव से, देश से, दूर पड़े हुए लंकावास के दिनों में जब नागार्जुन अपनी पत्नी का 'सिन्दूर तिलकित भाल' याद करते हैं, तब काम-क्रीड़ा का उत्साह उतना नहीं प्रदर्शित करते जितना उस गाँव से, उस देश से अपनी ममता व्यक्त करते हैं। आत्मगत अनुभूति को वस्तुगत—सार्वजनीन—धरातल पर पहुँचाने के अपने सफल संघर्ष में जब उन्हें पत्नी का 'सिन्दूर तिलकित भाल' याद आता है, तब साथ-साथ—

याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख
स्मृति विहंगम की कभी थकने न देती पाँख
याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान

याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्य-श्यामल जनपदो के
नाम-गुण-अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
याद आते वेणुवन के नीलिमा के निलय अति अभिराम

(नागार्जुन, पृ० 29-30)

जाहिर है कि पत्नी का प्रेम इस सम्पूर्ण परिवेश से जोड़ने वाला है। मिथिला की प्रकृति, वहाँ के लोग पत्नी की याद आते ही कवि के लिये फालतू और निरर्थक नही बन जाते। प्रेम इन सबसे संपृक्ति और संसक्ति का निमित्त बन जाता है। इस तरह, पत्नी वहाँ की प्रकृति और मानव-समाज के बीच से उभरने वाला प्रतीक बन जाती है। परकीय प्रेम वाले भावबोध से तुलना कीजिये, नागार्जुन की व्यक्तिगत अनुभूति का उदात्त स्तर प्रकट हो जायेगा। यह उनके स्वस्थ सौन्दर्यबोध का लक्षण है। यह स्वस्थ और उदात्त चेतना ही उन्हें इस ऊहापोह में डाल देती है कि—

यहाँ भी तो हूं न मैं असहाय
यहाँ भी हैं व्यक्ति औ' समुदाय
किन्तु जीवन भर रहूं फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय !

(उप०, पृ० 30)

नागार्जुन के काव्य-विवेक का क्रान्तिकारी पहलू यह है कि वे प्रेम और देश-प्रेम को आजकल के कुछ 'क्रान्तिकारियों' की तरह केला खाकर सड़क पर फेंक दिया गया छिलका नहीं मानते (जिसकी उपयोगिता दूसरों को गिराने से बढ़कर कुछ नहीं है)। अपने देश और जनपद की प्रकृति से उनका प्रेम उनके पारिवारिक प्रेम और देश-प्रेम को एक समग्र रागात्मकता में बांधने वाला अन्तः सूत्र है। इसीलिए नागार्जुन अपनी तमाम यायावरी के बावजूद आवारागर्द नही बनते, बल्कि गहरे दायित्व-बोध से सम्पन्न भावना से परिचालित होते हैं। वे 'बहुत दिनों के बाद' जब अपने गांव जाते हैं तब जी भर कर 'पकी सुनहली फसलों की मुस्कान' देखते हैं, अपनी 'गंवई पगडंडी की चन्दनवर्णी धूल' छूकर अपूर्व कृतार्थता अनुभव करते हैं।

(उप०, पृ० 50) वे जहाँ रहते हैं, वहाँ के एक-एक पेड़-पौधे की प्रकृति को पहचानते हैं—

नये-नये हरे-हरे पात···
पकड़ी ने ढक लिये अपने सब गात
पौर-पौर डाल-डाल
पेट-पीठ और दायरा विशाल
ऋतुपति ने कर लिए खूब आत्मसात···

(उप०, पृ० 91)

'बेतवा किनारे' पहुंचकर मन के मृदंग पर लहरों की थाप सुनते हैं और ऐसे हो जाते हैं कि

मालिश फिजूल है
पुलकित अंग-अंग पर बेतवा किनारे

(हजार-हजार बांहों वाली, पृ० 178)

नवम्बर के मासान्त में हेमन्ती बादलों की अतिशीतल बड़ी-बड़ी बूंदों को देखकर अपने रोम-रोम की पुलक को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

ओह, कैसे मूड में इधर को
निकल आये हैं हेमंती बादल
लगता है, कल ही इन्हें
तगड़ी बोनस मिली है
चार दिनों के रईस हेमती बादल
मौज के अपने सहज मूड में हैं
निश्चय ही, ये किसी को
चिढाने नहीं निकले हैं

(उप०, पृ० 175)

वर्षा और बादल नागार्जुन की संवेदना को अनेक रूपों में उद्दीप्त करते हैं। हेमंत के बादल चार दिनों के रईस हैं, जैसे तुरन्त बोनस पाया हुआ मजदूर; वे किसी को चिढ़ाते नहीं, अपनी मौज में यहाँ-वहाँ शीतल बूंदें टपकाते जाते हैं। मानव-जीवन और स्वभाव के साथ प्रकृति को जोड़कर देखने की, अपनी संवेदना को प्राकृतिक उपादानों से भी व्यक्त कर देने की, तथा जिन्हें प्रकृति या ऋतुओं का ज्ञान न हो, उनके लिये भी अपनी कविता ग्राह्य बना देने की कला नागार्जुन में अद्वितीय है। हेमंती बादलों से भिन्न संदर्भ देकर बदलियों के बारे में वे लिखते हैं,

पवन ने बहका लिया था,
मेघ-कुल की पुत्रियां है !
बदलियां हैं !

···औफ, इनसे क्यों डरे हो ?
—कहाँ इनमें बिजलियाँ हैं !

(उप०, पृ० 176)

प्रकृति से नागार्जुन का ऐसा रिश्ता है कि वे 'बसंत की अगवानी' करते हैं। निराला ने अपने संघर्षों की समीक्षा करते हुए लिखा था—

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही बसन्त का अग्रदूत—
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत,
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

निराला पर अपनी प्रसिद्ध कविता 'दधीचि निराला' में नागार्जुन ने उनका मूल्यांकन इस प्रकार किया था—

हे नीलकंठ, चुपचाप तुम युग की पीडा पी रहे।
बस, लोकोदय की लालसा लिये कथचित जी रहे !

(उप० पृ०, 27)

निराला ने अपने को 'बसंत का अग्रदूत' कहकर अपना जो मूल्यांकन किया था, नागार्जुन ने उसे स्वीकार ही नही किया, बल्कि अगली पौध के अग्रदूत की तरह बढकर इस बसंत की अगवानी भी की। निराला काव्य कला में पारंगत थे, पर रिक्त हस्त थे: आर्थिक पथ पर अनर्थ लिख कर ही स्वार्थ समर में लगातार हारते रहे थे; इसका यह मतलब नही कि अर्थागमोपाय नहीं जानते थे, फिर भी ब्राह्मण समाज के धूर्तों से होड़ करने की भावना उनमे न थी। वे इतने छोटे थे कि उनसे होड़ लेने की बात निराला सोच भी नही सकते थे। निराला दीन का अन्न नही छीन सकते थे, वे विपन्न दृगो की पीड़ा नही देख सकते थे। 'बसंत की अगवानी' कविता में नागार्जुन दिखाते है कि सरस्वती उन लोगों को धूर्त कहती हैं जिन्होंने लक्ष्मी से उनके झगड़े की बात फैला रखी है। इन धूर्तों ने लक्ष्मी को अपने वश में कर लिया है। लक्ष्मी इन धूर्तों की कैद से आजाद होकर ही सरस्वती से मिल सकती है। तब बसन्त के अग्रदूत को काव्य-कला-प्रवीण होकर रिक्तहस्त रहने की नौबत नहीं झेलनी पड़ेगी। नागार्जुन अपनी कविताओं में इस सुखमय भविष्य का स्वप्न अंकित करते हैं। जब तक यह भविष्य वास्तविकता में नही बदल जाता तब तक नागार्जुन भी बसन्त के अग्रदूत की तरह अर्थागमोपाय जान कर भी स्वार्थ-समर में संकुचितकाय रहने का रास्ता अपनाते हैं; अपनी कविताओं के जरिये जन-जन मे ऊर्जा भरने का संकल्प लेते है, अपने रोष को जनता के रोष में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं; जीवन को स्वार्थ का समर बना देने वालों के सांस्कृतिक मूल्यों का खंडन करते हुए जनता में प्रेम-सौन्दर्य-उल्लास की स्वस्थ वृत्तियां जागृत करते हैं।

नागार्जुन की काव्य चेतना का उनके युग और जीवन की परिस्थितियों से यह रिश्ता है कि निराला के यहाँ निराशा-पराजय-अन्धकार के चित्र अधिक प्रभावशाली हैं (डा० रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, भाग—2) और नागार्जुन के यहां आशा, विजय और विश्वास का स्वर अधिक शक्तिशाली है। निराला के काव्य में दार्शनिक चिंतन की गहराई बहुत अधिक है। उनकी निराशा और पराजय की भावनाएँ अन्तिम वर्षों में दृढ़ हुई। लेकिन उनके इस स्वर के पीछे दुर्दम संघर्ष की अविचल पार्श्वभूमि है, इसलिये उनका प्रभाव निराशावादी और पराजयवादी नही है। नागार्जुन में दार्शनिक चिंतन की वह गहराई नहीं है, उनके राजनीतिक विचारों में भी उतार-चढाव आता है, लेकिन जनता के जीवन से उनका सक्रिय और अटूट नाता है, समाजवाद के महान ध्येय के प्रति समर्पित अपने संघर्षों मे उन्हें आस्था है, जनता के कर्म, संघर्ष और परिवर्तन की क्षमता पर उन्हें भरोसा है, वे जीवन-संग्राम में विश्वासपूर्वक उतरने की प्रेरणा देते है, इसलिये दार्शनिक स्तर पर निराला के समक्ष न पहुंचकर भी वे निराला की यथार्थवादी परम्परा को आगे बढ़ाते हैं।

नागार्जुन की कविता

—परमानन्द श्रीवास्तव

आधुनिक हिन्दी कविता में नागार्जुन की कविता की एक अपनी अलग स्थिति है। कहने की जरूरत नही कि उनकी कविता आधुनिकता की प्रचलित अवधारणा अथवा उसके प्रतिमानों को चुनौती देने वाली कविता है। साथ ही वह लोकचेतना-सम्पन्न आधुनिक दृष्टि की पहचान बनाने वाली कविता है जिसके पीछे कबीर, निराला, भारतेन्दु जैसे कवियों की परम्परा है। एक ओर उसमें 'जनकविता' की प्रखर उत्तेजना है, दूसरी ओर रोमान्टिक भावबोध से अलग क्लासिकी कविता-जैसी कठोरता भी है। कला की तमाम युक्तियों, नुस्खों, कसौटियो को ध्वस्त करती नागार्जुन की कविता का एक अपना कलात्मक अनुशासन भी है। नागार्जुन की कविता के मूल्याकन का एक विडम्बनापूर्ण इतिहास है। प्रगतिशील कविता के दौर मे अपनी जनोन्मुख सवेदना और सहज लोकधर्मिता के कारण नागार्जुन की कविता ने एक महत्वपूर्ण पहचान बनाई, इसमे सन्देह नही, पर यह भी सही है कि इसके आगे के आधुनिकतावादी काव्य-युग मे वह हाशिए की चीज समझी जाने लगी—जैसे उसका केवल ऐतिहासिक महत्व हो। यह वह समय था जब कविता के सामाजिक आयाम सिकुड़ते चले जा रहे थे और वह खास रूपवाद जन्म ले रहा था जो हताशा, कुण्ठा, अकेलापन, अजनबीपन, व्यर्थता बोध जैसे आयातित अभिप्रायों की कलात्मक अभिव्यक्ति मे ही सार्थक : हो सकता था। इस बीच जब जन आन्दोलनों का उभार सामने आया और नागार्जुन की कविता गली-सड़क-बाजार-नुक्कड़-मैदानों में पहुंच कर कविता की वृहत्तर सामाजिक भूमिका का साक्ष्य या उदाहरण बनकर सामने आयी तो उसे पुनः केन्द्रीय महत्व प्राप्त करते देर न लगी। परिस्थितियों के दबाव का ही परिणाम था कि लगभग इसी समय समूची भारतीय कविता में कविता के भारतीय चरित्र, जड़ो की खोज, कविता के ठेठ देसीपन की मांग की जाने लगी। यही परिप्रेक्ष्य है जिसमे नागार्जुन की कविता पुनः केन्द्र मे है और यह अनिवार्य हो चला है कि उसके आलोक मे प्रगतिशील कविता के कलाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र के बारे में नए सिरे से विचार किया जाय।

नागार्जुन की कविता में आधुनिकता-सूचक मुहावरों के लिए जगह नही है। 'अनास्था' और 'अकेलापन' आधुनिकतावाद के अन्यतम शब्द हैं। इनके पीछे एक विशेष परिस्थिति जन्य विवशता भी है और स्वतन्त्रतावादियों की प्रकट या प्रच्छन्न राजनीति भी है। आस्था के संकट को दर्शन बनाकर पेश करने की व्यवस्थित कोशिश

एक समय के आधुनिक साहित्य मे की गई है। नागार्जुन की कविता उसके विरुद्ध एक नए आस्थावान स्वर से परिचित कराती है। 'पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने' कविता कृत्रिम आधुनिकता पर व्यंग्य करने के उद्देश्य से ही लिखी गई है। (हजार-हजार बाँहों वाली / पृष्ठ 12-14) 'अकेलेपन' की हाय-हाय के विरुद्ध नागार्जुन कहते हैं—"मैं न अकेला, कोटि कोटि हैं मुझ जैसे तो / सबको ही अपना-अपना दुख है वैसे तो/ पर दुनिया को नरक नही रहने देगे हम !" (पुरानी जूतियों का कोरस / पृष्ठ 16) नागार्जुन प्रतिबद्ध आधुनिक कविता के अग्रणी कवियों में हैं। उनकी कविता पूंजीवादी व्यवस्था और पूंजीवादी राजनीति को चुनौती देने वाली कविता है। मनुष्य को विभाजित करने वाली व्यवस्था पर सीधे दबाव डालने वाली कविता है। वह सामन्ती संस्कारो के दभ की खिल्ली उडाने वाली कविता है। 'विजयी के वशधर' कविता में वर्गसघर्ष के यथार्थ को 'मानववाद' जैसे गोलमोल अमूर्त मुहावरों से छिपाने की कोशिश नही की गई है। "पान के रगे हुए सभी के होठ है/बाकी फतह के लिए गढ़ है न कोट है /मरे हुए रावण को फिर-फिर मारने / खस्ता सामन्ती शाम बघारने / निकले हैं बाहर।"

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि ठीक आजादी के बाद हमारे यहाँ एक खास पश्चिमी शैली का रुग्ण आधुनिकता-वाद प्रतिष्ठित हुआ जिसके चलते एक जड़हीन परजीवी मानसिकता विस्तार पा सकी। प्रकृति और प्रेम जैसे विषयों पर लिखते हुए भी आधुनिकतावादी कवि उसी रुग्ण मानसिकता से प्रभावित है। नागार्जुन जैसे कवि अपवाद हैं जिनकी प्रकृति और प्रेम-सम्बन्धी कवितायें मूल भारतीय सवेदना और लोक रागात्मकता से समृद्ध हैं। दृष्टि हो तो यहाँ लोकचेतना भी आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न जान पड़ेगी—

> कर गई चाक
> तिमिर का सीना
> जोत की फांक
> यह तुम थीं
> सिसुड़ गयी रग रग
> झुलस गया अंग अंग
> बनाकर ठूँठ छोड़ गया पतझार
> उलंग इसगुन सा खड़ा रहा कचनार
> अचानक उमगी गालों की संधि में
> छरहरी टहनी
> पोर पोर में गसे थे टूसे
> यह तुम थीं।

इन पंक्तियों में जो गहरी रागधर्मी सवेदना है, सधी हुई भाषा में एन्द्रिक

बिम्बात्मक संगठन है उसे कलाहीन ठहराने का प्रश्न ही नहीं उठता, पर यह कला जीवन के राग रस से, बल्कि संघर्ष के अनुभवो से भी, पूर्णता प्राप्त करती है। नागार्जुन जब व्यंग्य लिखते है तब भी लोकजीवन से उनका गहरा सम्पर्क दिखाई देता है—जन समस्याओ के प्रति इतनी चिन्ता प्रदर्शित करने वाला कोई दूसरा कवि आधुनिक कविता मे नही है। यह व्यंग्य-कविता भारतेन्दु की परम्परा का सहज विकास है। सीधी मार करने वाली इस कविता का क्या कोई कलात्मक संगठन या अनुशासन भी है या वह नितान्त अराजक कविता है जो पत्थर का ही काम करती है, कविता का नही ? ये प्रश्न नागार्जुन की कविता के मूल्याकन के सिलसिले मे जरूर ही उठेगे। 'शासन की बन्दूक' शीर्षक प्रसिद्ध कविता की ये पंक्तियाँ देखे जिन्हे 'दोहे' के अनुशासन मे लिखा गया है—

> जली ठूठ पर बैठ कर गई कोकिला कूक,
> बाल न बाँका कर सकी शासन की बन्दूक।
>
> (तुमने कहा था / पृष्ठ 46)

किसी अराजक कवि से ऐसे अर्थपूर्ण नपे तुले शब्द-विधान की आशा नही की जा सकती। यहाँ एक भी शब्द फालतू नहीं है। प्रकृति की एक घटना को शासन के समानान्तर एक प्रतिरोधी शक्ति के रूप मे रखने की निश्चय ही एक विशेष अर्थवत्ता है। इसलिये इस पर विशेष बल देने की जरूरत है कि नागार्जुन के पास एक सजग आधुनिक दृष्टि भी है जो प्रकृति के प्रति एक नयी सवेदना का साक्ष्य देती है। गँवई-गाँव की चन्दनवर्णी धूल ही उसकी सीमा नही है। प्रकृति के प्रति रोमांटिक मोह, गाँव की वापसी के स्वप्न में डूबी हुई अबोध किस्म की भावुकता नागार्जुन की लोकचेतना की सीमा नही है। नागार्जुन समग्र जीवन व्यापार को उसकी द्वन्द्वात्मकता मे अर्थविवेक के साथ परखने वाले और उसे एक उत्तेजक भाषा देने वाले कवि हैं। धरती-प्रेम का सरलीकरण नागार्जुन के यहाँ नही है। 'सचल अचल वस्तुओं की जननी धरती' नागार्जुन के लिए धरती है, 'पन्हाई हुई गाय नही / कि चट से दूह लो कठिया भर दूध /'—धरती को जानना उत्पादन और उपभोग के जटिल रिश्तों को भी जानना है।

राजनीति नागार्जुन की इधर की कविता का सर्वप्रमुख संदर्भ इसलिए है कि वही सारी जीवन व्यवस्था का, सामाजिक ढाँचे का, आर्थिक सांस्कृतिक सम्बन्धों नीतियों का नियामक तत्व बन गई है। अ-राजनीति समस्याओं का हल नही है। विडम्बना यह कि आज प्रतिपक्षी राजनीति की भी सही पहचान असम्भव होती जा रही है। इसलिए नागार्जुन जब आज की राजनीति पर व्यंग्य करने चलते है तो उनका ढंग कबीर वाला होता है—वह किसी को बखशते नहीं है, अपने को भी नही। नागार्जुन की राजनीतिक कविता अक्सर कविता के दायरे से बाहर चली जाती है पर अपवाद रूप मे नागार्जुन के यहाँ वह समर्थ आधुनिक राजनीतिक कविता भी मिलेगी

जिसका काव्यानुशासन किसी बड़े कवि से ही सध सकता है। 'चन्दू मैंने सपना देखा' इस दृष्टि से उल्लेख्य कविता है। 'विसंगति' और 'विडंबना' का काव्याशास्त्र बनाने वाले प्रतिमान अधूरे अपर्याप्त होंगे—इस कविता की बनावट के मूल्यांकन के लिये। भाषिक आलोचना पर बल वाले इस कविता के 'फार्म' को देखें। इस सादगी में अर्थ की तीक्ष्णता और सघनता किस तरह मूर्त हुई है, यह देखने की चीज है—

चन्दू, मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चन्दू, मैंने सपना देखा, अमुआ से हूँ पटना लौटा
चन्दू, मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजते बद्री बाबू
चन्दू, मैंने सपना देखा, खेलकूद में हो बेकाबू
चन्दू, मैंने सपना देखा, कल परसों ही छूट रहे हो
चन्दू, मैंने सपना देखा, खूब पतंगे लूट रहे हो
चन्दू, मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कैलेण्डर
चन्दू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर, मैं हूँ बाहर
....

चन्दू, मैंने सपना देखा, इम्तिहान में बैठे हो तुम
चन्दू, मैंने सपना देखा, पुलिस-यान में बैठे हो तुम
चन्दू, मैंने सपना देखा, तुम हो बाहर मैं हूं बाहर
चन्दू, मैंने सपना देखा, लाए हो तुम नया कैलेण्डर

(खिचड़ी विप्लव देखा हमने / पृष्ठ 35)

'चन्दू मैंने सपना देखा' जैसी साधारण लगने वाली पंक्ति के दुहराव के साथ हर बार वाक्य के भीतर कुछ नया घट जाता है जो आपस में बिसंगत सम्बन्ध भी बनाता है और एक तर्क-शृंखला को भी स्पष्ट करता है। इस कसे हुए वाक्य-विन्यास में अर्थ-संरचना की विशिष्टता प्रकट है जो समरूपात्मक और विरोधमूलक कथन के तनाव में नई अर्थध्वनि उत्पन्न करने में सक्षम है। 'पैने दाँतों वाली' इस दृष्टि से नागार्जुन की एक और उल्लेखनीय कविता है। धूप में पसर कर लेटी मोटी-तगड़ी अधेड़ मादा सूअर के बारे में जिस सीधे बेलौस ढंग से नागार्जुन लिख पाते हैं, वह बौद्धिक संवेदना वाले नए कवियों के लिये सीखने की चीज है। न यहाँ सहज अनुभव-प्रत्यक्ष का बौद्धिकीकरण है, न समसामयिक कविता के कलात्मक मुहावरे का आग्रह—

धूप में पसर कर लेटी है
मोटी-तगड़ी, अधेड़, मादा सूअर
जमना किनारे
मखमली दूबों पर
पूस की गुनगुनी धूप में
पसर कर लेटी है

यह भी तो मादरे-हिन्द की बेटी है
भरे पूरे बारह थनों वाली ।

'सूअर' को 'मादरे हिन्द की बेटी' कहने के लिये बड़ा कलेजा चाहिए—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिसे 'लोकहृदय' कहते हैं। इसी विषय पर कोई दूसरा आधुनिक या नया कवि लिखे तो वह पहले प्रतीकात्मक सार्थकता या कलात्मक सूक्ष्मता का इतना आग्रह लेकर चलेगा कि कविता अधिक से अधिक किसी उपेक्षित गोचर वस्तु पर बौद्धिक प्रतिक्रिया होकर रह जाएगी। भावुक अथवा क्रान्तिकारी दोनो तरह के कवि चूक जायेंगे और व्यंग्य को इतने सीधे अनायास ढग से उजागर नही कर पायेंगे—'लेकिन अभी इसी वक्त, छौनों को पिला रही है दूध, मन मिजाज ठीक है, कर रही है आराम, अखरती नही हैं भरे-पूरे थनों की खीचतान, दुधमुंहे छौनो की रग-रग में मचल रही है आखिर माँ की ही तो जान ! जमना किनारे, मखमली दूबो पर, पसर कर लेटी है, यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है, पैने दातों वाली...।' 'पैने दांतों वाली' कहकर कवि ने धूप मे पसर कर लेटी मादा सूअर के 'मातृत्व' को विलक्षण अर्थ दे दिया है।

नागार्जुन की कविताओ के वर्णन-गुण की ओर, नैरेटिव चरित्र की ओर, ध्यान दिया जाय तो उनकी कवि-प्रकृति के मूल भारतीय रूप को समझा जा सकता है। उनकी लम्बी कविताओं का खाका ऐसा है कि उसमें कथा का विधान, चरित्र की बनावट, परिस्थितियो का नाटकीय तनाव सब कुछ प्रकट है। 'वह कौन था' (तालाब की मछलियाँ), 'तीन दिन तीन रात' (तुमने कहा था), 'नेवला' (खिचडी विप्लव देखा हमने), 'हरिजन गाथा' (खिचड़ी विप्लव देखा हमने) इस दृष्टि से विचारणीय कविताएँ हैं। 'वह कौन था' कविता में शोषण चक्र में फसी जनता और सत्ता के बीच के टकराव पर टिप्पणी है जिसमें तेजी से घटती हुई घटनाएँ, वातावरण मे फैली सनसनी भाषा की सहज पकड़ मे है। कबीर की तरह भाषा नागार्जुन के लिए कोई समस्या नही है पर भ्रम न हो, इसलिए कहना जरूरी है कि यह नागार्जुन की क्षमता के कारण है, भाषा के प्रति बेपरवाही या अविवेक के कारण नही। कविता का आरम्भ ही एक नाटकीय सवाल के साथ होता है—

कोर्ट की दीवार पर
चुपचाप जो पोस्टर अभी चिपका गया
वह कौन था ?

यह सवाल ही आगे की घटनाओं के नाटकीय क्रम को शृंखलित रूप से देखने के लिए निर्देश हैं। 'तीन दिन तीन रात' कविता में बस सर्विस बन्द थी/ 'तीन दिन तीन रात' जैसी पंक्ति निरी सूचना नहीं है, घटना है जिसमें कर्फ्यू का तनाव व्याप्त है। कविता के समीक्षक देख सकते हैं कि नागार्जुन में कविता की

वाचिक परम्परा या कविता का ठेठ भारतीय इतिवृत्तात्मक चरित्र क्या रूप लेता है। 'नेवला' कविता का कथ्य एक खिलवाड़ी वृत्ति से जन्म लेता है लेकिन यह कथ्य कही गहरे स्तर पर जेल जीवन के अमानवीय ठहराव को, गतिहीन स्थिरता को विचलित करता है। नागार्जुन के बयान मे एक खास तरह की नाटकीय सक्रियता है जो व्यंग्यार्थ को एकाधिक स्तरों पर प्रकाशित करती है।

नागार्जुन जन कवि के रूप में भी महत्वपूर्ण तो है ही, एक बड़े कवि के रूप में भी महत्वपूर्ण हैं जिसके लिए कविता का संगठन उपेक्षणीय नही होता। कभी अत्यन्त साधारण और कभी अराजक दिखने वाली नागार्जुन की कविता में भी जीवन का आवेग इतना प्रकट होता है कि वही कविकर्म को सार्थक बना देता है। भारतीय वाचिक कविता की परम्परा को नया जीवन देने वाले नागार्जुन कविता में चाक्षुष संवेदना को भी सम्यक् प्रमाणित कर सके हैं। बिम्ब उनके यहाँ कविता का सीमित अलंकरण नहीं है, वह उनकी कविता को नाटक मे बदलने का गुणात्मक काव्यधर्म है।

जनता के पक्ष में कविताएँ लिखने वाले और भी हैं पर जनता को अपने में आत्मसात कर कविता लिखने वाले नागार्जुन अपने ढंग के अकेले कवि हैं। जनता के जीवन मे हर दिन हर क्षण घटने वाला यथार्थ नागार्जुन की कविता का यथार्थ है पर यह तात्कालिक प्रतिक्रिया को कविता में प्रत्यक्ष करने वाली कवि-दृष्टि ऐतिहासिक यथार्थ के गहरे बोध या विवेक का परिणाम है। 'प्रतिहिंसा' को स्थायी-भाव कहने वाले नागार्जुन सरीखे कवि के मूल्यांकन के लिए नए मानदण्ड जरूरी होंगे—

देखोगे, सौ बार मरूँगा
देखोगे, सौ बार जियूँगा
हिंसा मुझसे थर्राएगी
मैं तो उसका खून पियूगा
प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है मेरे कवि का
जन-जन में जो ऊर्जा भर दे,
में उद्गाता हूं उस रवि का

(हजार-हजार बांहों वाली, पृष्ठ 11)

———

नागार्जुन का काव्य : शैली विज्ञान की कसौटी पर

—कृष्णलाल शर्मा

नागार्जुन के काव्य में शैली के दो रूप अत्यन्त स्पष्ट हैं—अभिजात और जनवादी। अभिजात शैली का स्रोत वंश परम्परा है तो जनवादी शैली कवि की निजी प्रकृति की सहज अभिव्यक्ति है। मैथिल ब्राह्मणों के पंडित घराने में जन्मे कवि की प्रारंभिक शिक्षा संस्कृत पाठशाला मे हुई। काशी के संस्कृत विद्यालय से व्याकरण मध्यमा की। सिंहल जाकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और वहीं पालि का गहन अध्ययन भी किया। इसी तरह कभी गुरू की छाया में तो कभी स्वाध्याय के बल पर नागार्जुन प्राचीन भाषाओ—संस्कृत, पालि, अर्धमागधी, अपभ्रंश, सिंहली और उनके साहित्य का नित्य अध्ययन करते रहे है। संस्कृत में काव्य रचना भी की है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव आपकी हिन्दी काव्य रचना पर भी पड़ा, विशेष रूप से ऐसी रचनाओ पर जिनके विषय या तो किसी पौराणिक आख्यान से लिये गए हैं या जो एक सीमा तक परम्परागत हैं। इस सन्दर्भ में हम 'भस्मांकुर' खण्डकाव्य की चर्चा करना चाहेंगे। कामदेव का अनंग रूप में पुनः जीवित हो उठना मनुष्यता की शाश्वत परम्परा कीं ओर संकेत करता है। एक तो पौराणिक आख्यान, दूसरे एक गहन विचार का पुट। फलस्वरूप—

कौन, मदन, तुमको कर सकता नष्ट !
जयति जयति भस्मांकुर, जयति अनंग !
जयति जयति रतिनाथ, कामनाकंद !
जिजीविषा के उत्स, सृष्टि के मूल !
जयति जयति कंदर्प, अजेय-अमेय !
कौन, मदन, तुमको कर सकता नष्ट !

जैसी भाषा का प्रयोग करना ही आपको उचित प्रतीत हुआ। ऐसी भाषा 'भस्मांकुर' के अनेक प्रसंगों में प्रयुक्त हुई है। इसे हम अभिजात शैली कहेंगे। डा० शिवकुमार मिश्र ने इस काव्य को 'क्लासिकल सौन्दर्य से वेष्टित रचना' कहकर इसी ओर संकेत किया है। स्फुट कविताओं में भी कहीं-कही ऐसी भाषा मिलती है, जैसे 'शपथ' के इस अंश में—

पृथ्वी उन्मन / विकल है गगन
नील जलधि शतशः उद्वेलित / स्तब्ध हिमालय के शिखरो पर घनीभूत
हो रहे तुहिन-कण

'भारती सिर पीटती है', 'लालबहादुर' आदि कविताओं में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। कही-कही चुटीले व्यंग्य के लिये भी यह शैली अपनायी गयी है, जैसे 'जयति नखरजनी' कविता मे। किन्तु नागार्जुन का निजी व्यक्तित्व जनवादी शैली में ही निखरा है। डा० शिवकुमार मिश्र के शब्दो में "नागार्जुन की कविता की केन्द्रीय विशेषता है मानवीय जीवन से उसकी गहन संपृक्ति···नागार्जुन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी प्रखर सामाजिकता है···प्रखर सामाजिकता का यह सन्दर्भ, जिसका स्रोत नागार्जुन के प्रगतिशील वैज्ञानिक विचार दर्शन में निहित है, नागार्जुन की कविता को मात्र जीवन की स्वीकृति देने वाली कविता के रूप मे ही नही, जीवन को वदलने वाली कविता के रूप में प्रतिष्ठा देता है ··नागार्जुन की कविता इसी अर्थ में समाज केन्द्रित, लोक-केन्द्रित, मनुष्य-केन्द्रित, जनता के कवि की, जनता के लिए कविना है।" ('भस्मांकुर' का कवि : एक परिचय)

इस दृष्टि से नागार्जुन कबीर की परम्परा के कवि है जिसमें 'आंखिन देखी' बात कही जाती है 'कागद की लेखी' नहीं। 'खिचडी विप्लव देखा हमने', 'चन्दू मैंने सपना देखा', 'ऐसा क्या अब फिर-फिर होगा ?', 'बाढ', '67 : पटना', 'देख लो, इनके कई-कई माथ है', 'तीन दिन, तीन रात', 'बहुत दिनों के बाद', 'दयाक्चो खोनार भाइ जे गाधी महात्मा', आदि कविताओं के शीर्षक ही कवि की व्यक्तिगत अनुभूति की ओर सकेत करते है। युवावस्था से ही समाज के त्रस्त वर्ग के लिए करुणा का अनुभव करने वाले और अत्याचारी वर्ग के प्रति क्रोध से उन्मत्त हो उठने वाले कवि के लिए लोक शैली से जुड़ जाना स्वाभाविक ही है। हम यहाँ शैली विज्ञान की दृष्टि से नागार्जुन की प्रमुख शैली-जनवादी शैली पर संक्षेप मे विचार करेंगे।

कवि भाषा का प्रयोग दो दृष्टियों से करता है—(1) विचार संप्रेषण और (2) भावाभिव्यक्ति के लिए। दोनों ही उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कहीं शब्दार्थ के शैलीय उपकरण तो कहीं वाक्यात्मक शैलीय उपकरण उपयोग में लाये जाते हैं। हमारा उद्देश्य चूंकि नागार्जुन के काव्य के माध्यम से शैली विज्ञान का विश्लेषण करना नही है वरन् शैली-विज्ञान की दृष्टि से आपकी जनवादी शैली को रेखांकित करना है इसीलिए हम केवल विशिष्ट उपकरणो तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

लोक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए ध्वन्यर्थ व्यंजक शब्द व्यापार बोधकता में सर्वाधिक सहायक होते है। ऐसे शब्द पाठक या श्रोता का गोचर जगत् से सीधा सम्बन्ध जोड़ देते है। जनवादी कवि एक प्रकार से लोक गायक होता है। उसकी

रचनाओं मे जीवन के ऐसे व्यापार आग्रहपूर्वक समाविष्ट किये जाते है जिन्हें अभिजात वर्ग भले ही भदेस कहे किन्तु जो जीवन से अनिवार्यत: जुड़े होते है। भोजन व्यापार इसका विशिष्ट उदाहरण है।

कड़-कड कडाक कड़ कुस्स
घु-स्सुस्-सुस्-सुस्-सूम्···
× × ×
धूसर भाकुर कीं वह मासल कनपट्टी
भड़-भड़-भड-भड फट-फट-फट-फटफट
किस रहस्य की खोल रही थी गाँठ ? (तालाब की मछलियाँ)

ध्वन्यर्थ व्यंजक शब्द अन्य इन्द्रियों के व्यापारों का भी किस तरह बोध कराते है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

सर-सर-सर-सर, खर-खर-खर-खर
दूर का फैसला चट कर गयी पार
× ×
भुस का पुतला
दप-दप उजला (भुस का पुतला)

अर्थमूलक शैलीय उपकरणों मे लाक्षणिक पर्यायवाचिता का बहुधा प्रयोग होता है। जब से सामाजिक जीवन में कथनी और करनी मे अन्तर बढ गया है, व्यंग्य का प्रयोग भी साहित्य की हर विधा मे बढ़ गया है। संम्भवत: इसी आधार पर कुछ लोग व्यंग्य को एक स्वतन्त्र विधा ही मानने लग गए है। शब्द की लक्षणा शक्ति व्यग्य का मूल उपकरण है। नागार्जुन की कविताओं में व्यंग्य का बाहुल्य है। 'घर से बाहर निकलेगी कैसे लजवन्ती' कविता में रजत जयन्ती की व्यंग्यात्मक व्याख्या लाक्षणिक पर्यायवाचिता का सुन्दर उदाहरण है—

अस्सी प्रतिशत दीनजनों की कष्ट-कथा है रजत जयन्ती
पर-दुख-कातर तपोधनों की बिकट व्यथा है रजत जयन्ती
अमृत-मन्थनी प्रवंचना की नयी प्रथा है रजत जयन्ती
कथित कथन, चर्वित चर्वण की मथी-मथा है रजत जयन्ती

अर्थ गुण के अन्तर्गत आने वाला व्यंग्य मिश्रित उपहास एक सटीक उदाहरण है—

मैं भी ग्यारह महीने / हवा खा आता कृष्ण मन्दिर की···(बाल-बाल बचा हूँ मैं तो···) किसी भी अमागलिक कार्य अथवा वस्तु के लिए मंगल सूचक शब्द रखने की प्रथा है। किन्तु यहाँ जेलखाने के लिए कृष्ण मन्दिर का प्रयोग व्यंग्यपूर्ण है।

लाक्षणिक प्रयोगों के ऐसे उदाहरण नागार्जुन मे बहुत मिलते है जहाँ आधार-आधेय अथवा अंगागी सम्बन्ध आदि (शुद्धालक्षणा) के आधार पर उल्लिखित वस्तु को प्रतीक बनाने की भी चेष्टा की गई है। जनवादी कवि की यह विशेषता होती है कि बहुसंख्य समाज को समाविष्ट करने के प्रयास मे उसका दृष्टिफलक अत्यन्त व्यापक हो जाता है। मेरे सामने 'शपथ' कविता का निम्न उदाहरण है—

खेत-खान में, मिल-मकान मे / पुतलीघर मे, चा-बगान में
वर्कशाप में, बाट-घाट पर / स्कूल और कालेजो में भी
गाँव-गाँव मे, नगर-नगर मे / गली-गली मे मोड-मोड पर
कहाँ नही तेरी चर्चा है—

यहाँ जिन स्थानो की चर्चा हुई है, उनके माध्यम से जन-कवि 'जन' की व्यापकता, या कहूं, सर्वव्यापकता का बोध कराना चाहता है। पर्यायवाची शब्दो की आवृत्ति के दोष से यह कविता दूषित हो सकती है किन्तु बिना इस प्रकार की आवृत्ति के कवि का मनोगत भाव व्यक्त नही हो सकता था।

इसी संदर्भ मे पुनरुक्ति पर विचार कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। शैली का यह उपकरण कविता को लोक-कला से जोड़ता है। लोक कवि के पास एक टेक होती है। जैसे काफिया और रदीफ हर स्वतन्त्र शेर को एक गजल का अंग बनाने में सहायक होता है उसी तरह टेक छोटे-बड़े छन्दों को जोड़कर गीत की एकता बनाये रखती है। हाँ, यह टेक एक विशिष्ट भाव की बोधक होनी चाहिये। इसी प्रकार जनवादी शैली में एक विशिष्ट विचार अथवा भाव के वाहक पद /पद समूह की आवृत्ति विशिष्ट प्रभाव को पैदा करने के लिये आवश्यक हो जाती है। नागार्जुन के काव्य में इस प्रकार की पुनरुक्ति के दो रूप मिलते है—सचयन-मूलक और व्यवधान मूलक।

संचयनमूलक पुनरुक्ति में प्रत्येक पंक्ति मे लगातार आवृत्ति होती चलती है। कवि की अपनी योजनानुसार किसी एक संचारी के उद्‌बोधन के लिए यह आवृत्ति चार-छह बार भी हो सकती है और पूरी कविता मे भी हो सकती है। 'वह कौन था' एक लम्बी कविता है और उसमें अनेक संचारियों का समावेश हुआ है। उनमें से एक-हर्ष-के उद्‌बोधन के लिये सीमित संचयनमूलक पुनरुक्ति का उपयोग किया गया है—

अब आजाद होंगे नगर, आजाद होंगे गाँव / अब आजाद होगी भूमि
अब आजाद होंगे खेत / अब आजाद होंगे कारखाने

इसी का दूसरा रूप 'ऐसा क्या अब फिर-फिर होगा ?' कविता में मिलता है—

ग्रामवासिनी-नगरवासिनी / माताओं-बहनों-बहुओं की
रुकी निगाहें, झुकी निगाहें / क्रुद्ध निगाहें, क्षुब्ध निगाहें

अरुण निगाहें, करुण निगाहें / जरी निगाहें, भरी निगाहें
तरल निगाहें, सजल निगाहें / व्यथित निगाहें, मथित निगाहें
स्तब्ध निगाहें, शून्य निगाहें /........

इन पंक्तियों मे भावशबलता के लिए 'निगाहें' संज्ञा के साथ विभिन्न विशेषणों का बड़ा सटीक उपयोग हुआ है जिससे जन व्याप्ति का सकेत भी मिलता है।

सचयनमूलक पुनरुक्ति का प्रयोग कभी-कभी कवि ने अपनी बात पर बल देने के लिए भी किया है। लगता है जैसे वह किसी मंच पर खड़ा है, चारों ओर जनसमूह है। उसके मन में एक विचार कौध जाता है तो जब तक उसे चारों ओर वह दुहरा नही लेगा तब तक बात आगे कैसे बढ सकती है ? अथवा, लगता है कवि अध्यापक बन गया है। सामने बैठे जिज्ञासु बात को पूरी तरह समझ सकें, इसके लिए किंचित् हेर-फेर के साथ बात को दुहराना आवश्यक हो जाता है। दोनो प्रकार के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(1) कोई अदना हो यदि दिल्ली का दारोगा
तब क्या होगा, तब क्या होगा, तब क्या होगा

(इर्द-गिर्द संजय के, मेले जुड़ा करेंगे)

(2) तुम्हे भला क्या पहचानेंगे बांदा वाले।
तुम्हे भला क्या पहचानेंगे साहब काले।
तुम्हे भला क्या पहचानेंगे आम मवक्किल।
तुम्हे भला क्या पहचानेगे शासन की नाकों पर के तिल।
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे जिला-अदालत के वे हाकिम।
तुम्हें भला क्या पहचानेंगे मात्र पेट के बने हुए हैं जो कि मुलाजिम !

(ओ जन-मन के सजग चितेरे)

'चन्दू मैंने सपना देखा' शीर्षक कविता संचयनमूलक पुनरुक्ति का विशिष्ट उदाहरण है। इसमे आरम्भ से अन्त तक हर पंक्ति मे शीर्षक की आवृत्ति हुई है। इसे हम 'डाडा' कविता कहें तो अत्युक्ति न होगी। डाडावाद ने दो लड़ाइयाँ लड़ी, (1) कला को परम्परागत मानदण्ड से छुटकारा दिलाने की, और (2) उसे जनता के बीच ले आने की। उपरि निर्देश कविता भी ये दोनों लड़ाइयाँ लडती प्रतीत होती हैं। कविता एक पोस्टर बन गयी है जिसमें एक ही घोषवाक्य को विभिन्न संदर्भों में रखकर उसकी सत्यता या अनिवार्यता सिद्ध की जाती है।

व्यवधान मूलक पुनरुक्ति उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति अधिक व्यापक स्तर पर करती है। उसमें कभी-कभी भाव की तीव्रता में कमी का अनुभव होता है पर उसकी व्याप्ति बढ़ जाती है। 'मनुष्य हूं' शीर्षक कविता में 'कवि हूं, सच है' वाक्य की आवृत्ति कवि के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से जुड़कर उसको पूर्णता प्रदान में सहायक होती है। लगता है पाठक एक ही चीज को घुमा-घुमा कर देख रहा है। ठीक यही

स्थिति 'बहुत दिनों के बाद' कविता में भी है। सभी छन्दों के आरम्भ में शीर्षक की आवृत्ति अनुभूति के विभिन्न गोचर साधनो को एक लडी मे गूथ कर अनुभूति को दूरगामी, व्यापक बना रही है।

अब हम ऐसे तीन उपकरणों को लेते हैं जो किसी भी जनवादी साहित्यकार के लिये अनिवार्य होते है। ये है—(1) ग्रामीण प्रयोग या ग्राम्य शब्द, (2) ऐसे विदेशी शब्द जो जनभाषा में खप गये हैं और सामान्यतः अथवा किसी विशिष्ट वर्ग के बीच अर्थ विशेष के बोधक बन गये हैं, तथा, (3) मुहावरे एवं कहावतें।

ग्राम्य शब्द जनवादी शैली के प्राण होते हैं। उनका प्रयोग किसी भी रचना को जनता की धरोहर बनाने मे सहायक होता है। यहाँ हम उन प्रयोगों की बात नही कर रहे है जिनमें अत्यन्त सचेष्ट होकर किसी विशिष्ट प्रभाव को उत्पन्न करने के लिये कोई शब्द रखा जाता है। नयी कविता मे इसके उदाहरण मिल सकते हैं। हमारा संकेत उन सहज-स्वाभाविक प्रयोगों की ओर है जिन्हें कहने वाले और सुनने वाले, लिखने वाले और पढने वाले दैनंदिन व्यवहार की भाषा का एक अंग मानकर चलते हैं, जिन्हें वे अपने हृदय के अत्यन्त निकट पाते है, जिनसे ग्रामीण धरती की गंध आती है। ये शब्द प्रदेश या वर्ग विशेष से सम्बद्ध भी हो सकते हैं, तद्भव रूप भी हो सकते है और केवल धरती के भी। इनमें कभी-कभी शब्द का व्याकरण सम्मत रूप नही वरन् उच्चरित रूप जानबूझ कर रखा जाता है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—

(1) मूंड़ रहे दुनिया-जहान को तीनों बन्दर बापू के (तीनों बन्दर बापू के)
(2) छेंक रखी है राह (अच्छा किया उठ गए हो दुष्ट)
(3) खटते थे, अब तो और भी खटते हैं (बाढ़ 67-पटना)
(4) मुंह में तीन रंग का झंडा चाँपे बाघ खड़ा है (अब तो बन्द करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन)
(5) य अभागा, ब अभागा, भुब्-भुब् भुब भूमिचोर (देख लो इनके कई-कई माथ है···)
(6) कुट्टी-कुट्टी करके / हल्दी-दही नमक मिझड़ाकर
सुच्चा कड़ू तेल में तलने बैठी जब वह सद्यप्रसूता (तालाब की मछलियाँ)
(7) धरती धरती है / पन्हाई हुई गाय नहीं (धरती)
(8) पोर-पोर में गड़े थे टूसे (यह तुम थीं)
(9) सुबह सुबह / अधसूखी पतइयों का कौड़ा तापा (सुबह-सुबह)

इस वर्ग में भुरुगवा, ढिकोरे, नेह-छोह, चकल्लस, किस्से, कुच्छों, ठो, निथाट आदि शब्दों को भी रखा जा सकता है।

विदेशी शब्दों के अन्तर्गत हम केवल अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के

शब्दों को लेंगे। नागार्जुन की कविताओ में इनका दो प्रकार से प्रयोग हुआ है। एक उनका तद्भव रूप है। जैसे कभी संस्कृत, अरबी, फारसी के प्रयोगों की स्थिति थी ठीक वही स्थिति आज अंग्रेजी के शब्दों की है। उनसे कभी तो वक्ता की सामाजिक स्थिति का बोध होता है तो कभी इस बात का कि शब्द विशेष की सामान्य जीवन मे कितनी गहरी पैठ है।

(1) केवल **पल्टनिया** हाथी पावेगा दाना पानी (बजट वार्तिक)

(2) खा रे खा ! तेरे खातिर / बाबा आज खीर-**पाटी** दे रहे है (नेवला)

यहाँ प्लेटून का पल्टन, और उससे पल्टनिया विशेषण बन जाना पूरी तरह हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुरूप है, टुआल / तौलिया, टुएल, बल्लमटेर आदि शब्द भी इसी प्रकार बने हैं। पार्टी में से 'रेफ' का लोप होकर 'पाटी' शब्द रह गया। अंग्रेजी शब्दों के ये तद्भव रूप हिन्दी में पूरी तरह खप गये है। इसीलिए कवि ने 'पल्टनिया' और 'पाटी' का प्रयोग भाषा को जनवादी रूप देने के लिए किया है। किन्तु शब्दो के तत्सम रूपों के प्रयोग के पीछे उसका विशिष्ट उद्देश्य रहा है। हम इन्हें प्रधानतः दो वर्गों मे बाँट सकते है—

(क) कुछ शब्द किन्ही विशिष्ट भाव, विचार, वस्तु या व्यापार के बोधक या संवाहक के रूप में जनता द्वारा स्वीकृत हो चुके है। यह सम्भव है कि जनसमूह का एक विशिष्ट वर्ग ही किसी शब्द को उसके मूल रूप मे बोलता और समझता हो और शेष जनता उससे अनभिज्ञ ही हो। किन्तु कवि जब विशिष्ट अर्थ का सम्प्रेषण करता चाहता है तो उसे शब्द को उसके मूल स्वीकृत रूप मे ही रखना होगा।

उदाहरणार्थ—

(1) यह **लीफलेट** गिरा गया (वह कौन था)

(2) ठीक दुपहर के वक्त / सूरज **फ्यूज** हो जायेगा (सूरज सहम कर उगेगा)

(3) हत्यारा क्या **ऑटोमेटिक** / बन्दूको के गुण गाएगा (देवि लिबर्टी)

(4) जी हाँ सत्य लकवा मार गया है / उसे **इमर्जेन्सी** का **शाक** लगा है (सत्य)

(5) UNA द्वारा प्रचारित

× ×

'अण्डर ग्राउण्ड न्यूज एजेन्सी' यानि UNA (हाथ लगे आज पहली बार)

उपर्युक्त सभी अंग्रेजी शब्दों के लिये उनका तद्भव रूप हिन्दी मे प्रचलित नहीं है। क्योंकि जिन संदर्भों में इन शब्दों का प्रयोग होता है वे सीमित हैं, जिस वर्ग में प्रचलित हैं वह सीमित है। इसलिए कवि को शब्दों का तत्सम रूप रखना ही उपयुक्त लगा। हां, इमर्जेन्सी के लिये वह आपातकाल का प्रयोग कर सकता था पर शायद तब स्थिति का वह भयावह रूप न उभर पाता जिससे कभी सारा देश सहम उठा था।

(ख) विदेशी शब्दों का प्रयोग हास्य अथवा व्यंग्य के लिए भी होता है। कवि सम्मेलनों मे प्रादेशिक बोलियों का प्रयोग जिस उद्देश्य से किया जाता है, विदेशी शब्द बहुत कुछ उन्ही के स्थानापन्न होते हैं। बल्कि हम तो कहेंगे कि विदेशी शब्दों का व्यंग्य कभी-कभी अधिक तीखा ही होता है। प्रमाणस्वरूप कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(1) सिमटे सिकुड़े नौकर-चाकर चाय बनाते होंगे—
'ब्रेकफास्ट' करते होंगे तैयार······ (बर्फ पड़ी है।)

(2) निम्न वर्ग की आँच कपच कर / नसें दूह कर मिडिल क्लास की
रखो ठीक बैलेन्स, बल्कि कुछ बचत दिखाओ (बजट वार्तिक)

(3) देवि लिबर्टी, तुमको प्रिय है / कटे सिरों को धवल मालिका (देवि लिबर्टी)

(4) उसे तो सिर्फ अपनी मोटी तनख्वाह से मतलब है—
उसका तो खानदान ही 'हुकूमत की नर्सरी' होता है (हुकूमत की नर्सरी)

मुहावरे और कहावतें अपने आप मे पूर्ण वाक्य होते हैं और उनका उपयोग एक इकाई के रूप मे होता है। उनमें हेर-फेर की गुँजाइश नही होती। इसीलिये शैली वैज्ञानिक उन्हें वाक्यात्मक शैलीय उपकरणो से अलग मानते हैं। हमारे मतलब की बात इसमें बस इतनी ही है कि जो भी साहित्यकार अपने को 'जन' से जोड़कर 'जन' के लिए लिखता है वह मुहावरों और कहावतों के प्रति उदासीन नही रह सकता वरन् एक सीमा तक उनके प्रति आग्रहशील रहता है। प्रेमचन्द और यशपाल इसके प्रमाण है। किन्तु इन लोगों ने गद्य लिखा जिसमें मुहावरों आदि का समावेश सरलता से किया जा सकता है। नागार्जुन ने कविता मे भी धडल्ले से मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है जिससे भाषा पर आपका असाधारण अधिकार सिद्ध होता है। कभी भाव या विचार की सटीक अभिव्यक्ति के लिए तो कभी व्यंग्य को और तीखा बनाने के लिए इनका उपयोग हुआ है। यथा—

(1) हमें अंगूठा दिखा रहे हैं तीनों बन्दर बापू के (तीनों बन्दर बापू के)

(2) बांध के लँगोट, चरते हुए घास (अच्छा किया उठ गए हो दुष्ट)

(3) कर गए खतम खेल तुम अपने (रवि ठाकुर)

(4) इन महा शत्रुओं की न दाल गलने देंगे/हम नहीं एक चलने देंगे (तर्पण)

(5) बड़ों-बड़ों को भी दिखते हैं दिन में तारे (जय प्रकाश पर पड़ी लाठियां लोकतन्त्र की) कभी-कभी तो आपने कविताओं के शीर्षक भी ऐसे ही रखे हैं—

(1) वो अन्दर से बास करेंगे

(2) कब होगी इनकी दीवाली

(3) न गधी का न घोड़े का

नागार्जुन ने वाक्यात्मक शैलीय उपकरणों का भी भरपूर उपयोग किया है। शब्द भेदात्मक स्तर पर शैली को निजता प्रदान करने में संज्ञा के विविध प्रयोग

सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं। हर कवि का अपना frame of Experence होता है जो उसके संस्कारों, अनुभवों, रुचि-अरुचि, सामाजिक स्तर तथा चिन्तन धारा द्वारा निश्चित होता है। नागार्जुन के जीवन तथा विचारों से हम परिचित हैं जिससे आपकी कविताओं मे प्रयुक्त संज्ञाओं के प्रतीकों तथा व्यंग्य को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। हमारा निष्कर्ष है कि संज्ञाओं के प्रयोग मे जितनी विविधता नागार्जुन ला पाए हैं और कोई नही। इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

व्यंग्यात्मक

(1) मत पूछो तुम इनका हाल सर्वोदय के नटवरलाल (तीनों बन्दर बापू के)

(2) दिन हैं लद चले सिंहासनराय के (दिन हैं लदे सिंहासन राय के)

यहाँ सिंहासनराय स्वनिर्मित संज्ञा है और व्युत्पत्ति प्रधान है। इसी वजन पर कवि ने अन्य संज्ञाये भी बनाई है—

(3) जी हाँ, वो श्रीयुत इन्दिरा शंकर राय नही है
जी हाँ, वो इन्दिरा चरण शुक्ल भी नहीं है
जी हाँ, वो इन्दिरा देव जोशी या इन्दिरानाथ मिश्र भी नही है।

× × ×

और हमें भली-भांति मालूम है।
कि करुणानिधि तो मात्र करुणानिधि है। (बन्धु डा० जगन्नाथन)

इस उदाहरण में राय, शुक्ल, मिश्र व्यंग्यात्मक संज्ञाएं हैं किन्तु करुणानिधि सामंजस्य—मूलक संज्ञा है। एक कविता में व्यंग्यात्मक संज्ञा का व्याख्यात्मक रूप इस प्रकार है—

(4) जी हाँ, मैं अपने मन का राजा—
अपनी ग्राम-लक्ष्मी का नारायण हूं
नेहरू की पुत्री का हारायण हूं
जी हाँ, मैं राजनारायण हूं ! (वो अन्दर से बाँस करेंगे)

प्रतीकात्मक

(5) हाय, अलीगढ ! / हाय, अलीगढ़ !
बोल-बोल, तू ये कैसे दगे हैं।
हाय, अलीगढ़ ! / हाय, अलीगढ़ ! (हाय अलीगढ़)

(6) वह हिरण्य कशिपु / वह अहिरावण / वह दशकंधर / वह सहस्रबाहु (तर्पण

(7) राम बचन, सुदामा, मुंद्रिका, अखिलेश पांडे,
मोहनिया बाबू, नौशाद, अखलाक, / दसई, हर्केंदू, कर्मा, सलीम—
मोतिया के इर्द-गिर्द आ के जमा हो गए है। (नेवला)

अन्तिम उदाहरण मे समाज के विभिन्न वर्गों तथा जातियों की ओर संकेत

करने वाली इन व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग 'जन' की व्यापकता दर्शाने के लिए हुआ है और यह बतलाने के लिए कि जेल में सब समान होते है। सभी प्रकार के भेदभाव भुलाकर वे एक ही संज्ञा 'कैदी' के नाम से पुकारे जाते है इसीलिए उनमें अपने आप एकता का भाव पैदा हो जाता है।

आंचलिकता का वातावरण निर्माण करने के लिए भी संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है—

(8) बड़ा और छोटा सरकार / लाल साहेब, हीरा जी
मानिक जी, मोती साहेब / नून् जी बचोल बाबू
× × ×
तिलौड़ी, दनौडी, तिसियोडी, पापड़
तरोई, नेनुआ, भिण्डी और बैंगन (विजयी के वंशधर)

(9) मकई-मड़आ साम-कावन धान-गम्हड़ी आदि बोये जा रहे हों······
(एक मित्र को पत्र)

संज्ञा के समान ही सर्वनाम का भी व्यंग्यात्मक प्रयोग होता है। हाँ, संज्ञा की अपेक्षा इसका व्यंग्य अधिक सूक्ष्म होता है। यहाँ इसके दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(1) कैसे मरा तू ?
× ×
तो तुम भूख से नही मरे ?

× ×
नाम नहीं लीजियेगा
हमारे सामने फिर कभी भूख का (प्रेत का बयान)

(2) रानी महारानी आप / नवाबों की नानी आप (इन्दु जी क्या हुआ आपको)

पहले उदाहरण में धर्मराज के मुख से प्राइमरी स्कूल के अध्यापक के निरर्थक स्वाभिमान पर प्रहार करने के लिए 'तू' के स्थान पर 'तुम' का प्रयोग कराया गया है। और भूख से मरे अध्यापक द्वारा अपने लिए 'हमारे' (बहुवचन) सर्वनाम का प्रयोग करवाकर कवि ने पाठकों के सामने उसके मिथ्या अहंकार की कलई खोल कर रख दी है। दूसरा उदाहरण स्वयं कवि की उक्ति होने से इतना सूक्ष्म नहीं है किन्तु 'रानी महारानी' और 'नवाबों की नानी' के साथ 'आप' का व्यंग्य वक्रोक्ति के कारण बहुत तीखा हो गया है। व्यक्ति के प्रति आदर न होते हुए उसके लिए आदरार्थक प्रयोग उस पर प्रहार करने के लिए ही किया गया है।

आश्चर्य मिश्रित क्रोध के लिए (और एक जनवादी कवि मे मिथ्याचरण करन वाले नेताओं के प्रति क्रोध होना स्वाभाविक ही है) प्रश्नवाचक सर्वनाम 'क्या' का बड़ा सार्थक प्रयोग हुआ है—

(1) क्या हुआ आपको ? / क्या हुआ आपको ?
सत्ता की मस्ती में / भूल गई बाप को ? (इन्दु जी क्या हुआ आपको)

(2) 'भले मानसो' से दिन-रात तुम्हारा घिरा होना
वो सब क्या था आखिर ? (वो सब क्या था आखिर)

संचारियों की अभिव्यक्ति के लिए इसी क्रम मे निपात का विशिष्ट प्रयोग, शब्द क्रम विपर्यय, पर्यायवाची वाक्यों की श्रृंखला आदि को भी लिया जा सकता है किन्तु ये प्रयोग की विशेषता के कारण नही, विषय की विशेषता के कारण ही जनवादी शैली के उपकरण बनते हैं। नागार्जुन की शैली के बारे में हम एक ही बात और कहना चाहते हैं। वह है बोलचाल के वाक्यो या वाक्यांशो को ही कविताओं का शीर्षक बना देना। लगता है कवि मंच से उतर कर सीधे-सीधे जनता के बीच मे आ गया है। ऐसे कुछ शीर्षको की बानगी देखिए—

(1) द्याक्चो खोकोन ओइ जे गाँधी महात्ता···
(2) घिन तो नही आती है ?
(3) अब के इस मौसम में
(4) पता नही, दिल्ली की देवी गोरी है या काली
(5) जाने तुम डायन हो
(6) तुनुक मिजाजी नही चलेगी
(7) बाल-बाल बचा हूं मैं तो···

नागार्जुन ने अपने लिए 'तरल आवेगों वाला अति भावुक, हृदय धर्मी मैं जनकवि' का प्रयोग किया है। शैली के भाषिक उपकरणों के प्रकाश में इस वाक्य की सत्यता स्पष्ट हो जाती है।

कवि नागार्जुन : एक मूल्यांकन

—विश्वंभरनाथ उपाध्याय

'नागार्जुन कवि नहीं हैं' यह अभिमत स० ही० वात्स्यायन का हैं, ऐसा कहीं पढ़ा था (सम्भव है, इस बीच उनका मत बदला हो जैसा कि प्रेमचन्द, निराला, मैथिलीशरण गुप्त के विषय में बदला है) और दूसरी तरफ, जननिष्ठ-सामाजिक-परिवर्तन के प्रति प्रतिबद्ध लेखकों और आलोचकों में यह प्रवृत्ति है कि सिर्फ नागार्जुन ही है, शेष तो अभजिन जीवन-पद्धति के हैं और इसलिए मध्यवर्गीय सीमाओं में घिरे हुए है।

सत्य, इन दो अतिवादी अभिमतों के मध्य में ही कहीं होगा।

नागार्जुन को अभिजननिष्ठ अहम्मन्यादश " जैसे व्यक्ति क्यों कवि नहीं मानते, इसका शायद कारण यह है कि अपन 'हानुभू' सीमा के कारण इन लोगों की रुचि का विस्तार नही हो पाया, सहानुभूतयि तथा ममताओं का भी। अतः जब ऐसे लोग यह देखते हैं कि नागार्जुन की सीधी प्रचारात्मक कविताओं को, प्रगतिशील और जनवादी 'कविता' कह रहे है, तब वे भड़क कर नागार्जुन को सम्पूर्णतः नकारने लगते हैं। दूसरे यह कि रूपवादियों मे यह शुरू से ही प्रवृत्ति रही है कि वे चित्रण-क्षमता और शब्द आविष्कार को, कविता मे कवित्व का मूलतत्व मानते है, व्यग्य-विद्रूप को वे कविता से पृथक् कर 'व्यंग्य कविता' नाम की एक अलग कोटि बनाकर उसमे व्यग्यकारों को पटक कर और इस तरह उन्हें गौणता प्रदान कर स्वयं प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं।

मुझे लगता है कि नागार्जुन में न सिर्फ प्रचारात्मक कविताएं हैं, बल्कि उनमें 'क्लासिक ढांचे' (संस्कृतज्ञ होने के कारण) की भी कई रचनाएं है, यथा 'कालिदास' पर उनकी प्रसिद्ध कविता। उनमें विपन्न वर्ग की जीवन दशाओं की प्रामाणिक और करुणा-उत्पादक कविताएं भी हैं (चक्की रही उदास) और सम्पूर्ण व्यवस्था को जड़-मूल से निर्वसन कर देने वाली, सुगठित, प्रचारातीत मगर व्यापक प्रभाव वाली कवितायें भी हैं (मंत्र)। उनमें शास्त्रीय और लोककाव्य की मिली-जुली परम्परा वाले विन्यास भी है और कालिदास, विद्यापति आदि के प्रेम काव्यों के सरस अनुवाद भी। यह लक्ष्य करने की बात है कि उत्तरमेघ और विद्यापति के ललित पदों को सामने लाते समय नागार्जुन के मन में यह संकोच नहीं आया कि क्रान्ति की चेतना या व्यवस्था विरोध की उनकी जिहाद, मनोहर शृंगारी काव्य से मन्द हो जाएगी।

दरअसल, नागार्जुन की कविता को प्राय: उनके संदेश (मैसिज) और जागरूकता (अवेयरनैस) से समझा गया है, उनके व्यक्तित्व के सन्दर्भ में नही। नागार्जुन का व्यक्तित्व कोई सीधी लकीर की तरह एकायामी नही है, न वह उनकी प्रहारक कविताओ की तरह सपाट है। उसमे क्लासिक कवियो जैसी बहुरंगता है और वे अनेक रंग या तरगे, जब तब, यत्र-तत्र (रचनाओं मे) अपनी उपस्थिति जता कर, उस स्थायी 'महाभाव' में विलीन हो जाती है, जिसे प्रतिरोध का भाव—Sentiment of perpetual Resistance कहते हैं। यह प्रतिरोध उस सबके विरुद्ध है, जो नागार्जुन के प्रिय जन (शोषित) को सताने वाला है, चाहे वह कोई व्यवस्था या 'सिस्टम' हो या कोई व्यक्ति या वर्ग। जनताजनार्दन नागार्जुन के इस स्थायी महाभाव के युगपत् साथ चलने वाली और उसकी पुष्टिकारक अन्य भावतरंगों को अभी तक नही समझा गया, ऐसा मैं सोचता हूँ।

बरसों के पर्यवेक्षण से यह बात मैं भी मानता हूँ कि नागार्जुन की व्यंग्य कवितायें ही सर्वोत्कृष्ट हैं। यह मत डा० रामविलास शर्मा का भी है जिनकी निगाह सदैव इस बात पर रहती है कि किसी कवि की कविता का प्रभाव, जनसाधारण पर कैसा पड़ता है। चूंकि सिर्फ नागार्जुन मे ही वर्गच्युत (डी क्लास) व्यक्तित्व और कृतित्व है, सिर्फ उनकी कविता में ही सर्वाधिक वर्तमान शासकवर्ग की पोल खोली गई है, शासक-शोषक वर्ग के अन्तर्विरोध और अत्याचार और निकम्मेपन को सिर्फ नागार्जुन मे ही स्पष्टता से समझा गया है, उन्ही मे सर्वाधिक परन्तु अन्तरस्थित तीव्रता है। अत: डा० रामविलास शर्मा ने, इधर के अन्य कवियों पर इतने विस्तार और प्रियता के भाव से नही लिखा, जितना नागार्जुन पर लिखा है (अस्तित्ववाद और नयी कविता)।

मैं यह भी मानता हूं कि नागार्जुन, जनप्रयुक्त भाषा के सबसे बड़े प्रयोगशील कवि हैं यानी उनकी कविताओ मे ठेठ हिन्दी का ठाठ है और उनकी बुनावट मे, इस जनशब्दावली के वैसे ही विन्यास हैं, जैसे कबीर में मिलते हैं। चूंकि जनता में, अभिजन वर्ग से घृणा है, बद्धमूल घृणा है अत: जनता के वचनों में व्यंग्य और मुहावरादानी बहुत होती है। कबीर ने इस शक्ति को पहचाना था और बाद में सभी सन्तकवियों ने इसका पालन किया। प्रेमचन्द की भाषा में भी व्यग्य और मुहावरादानी है और नागार्जुन में तो जनमन मे बसी बोली का सम्पूर्ण वैभव है, विशेष कर व्यंग्यों में।

'मंत्र' कविता में यह प्रवृत्ति सर्वोत्तम रूप में मिलती है। इस कविता में, स्थापत्य की दृष्टि से सुगठन है, उतार-चढाव है, नाटकीय मोड़ और तोड़ है और मध्यकालीन गूढ़ साधनाओं के मुहावरे का अत्यन्त सचेत इस्तेमाल है। पुरानी सामग्री का किस तरह आधुनिक और समकालीन प्रयोग कर नयी संरचना की जा सकती है, इसका सबसे अच्छा उदाहरण नागार्जुन का 'मंत्र' है।

विरोध और विद्रोह के मनोविज्ञान का न अभी अध्ययन हुआ है, न चिकने-चुपड़े, सुख-सुविधाओं मे सड़ रहे लोग यह समझते है कि जो व्यक्ति, तन-धन-प्रभाव और शक्ति से हीन होने पर भी, समूची अत्याचार संरचना, सरकारों और खूनीवर्गों को ललकारता है, उनकी खिल्ली उड़ाता है, उनका मनोबल तोड़ता है, नैतिक मानवीय दृष्टि से अपराधी सिद्ध करता है, उसका मनोविज्ञान कैसा होगा।

नागार्जुन एक संकुल-संघर्षशील शख्सियत का नाम है और इस संकुलता (काम्प्लैक्सिटी) की एक प्रवृत्ति यह है कि नागार्जुन जैसा व्यक्ति, कहीं भी, किसी भी प्रकार की असगति, मनसा, बर्दाश्त नही कर पाता। चूंकि वह कुछ कर नही सकता अतः वह व्यंग्य द्वारा बदला लेता है। और लोग भी बदला लें, इसलिये वह व्यंग्य को हथियार की तरह प्रयुक्त करता है।

जो यह जानना चाहते है कि कविता किस तरह, जनपक्ष मे, शस्त्र बन जाती है, किस तरह सशस्त्र-दृष्टि (Armed Vision) सशस्त्र-साहित्य का सृजन करती है, किस तरह कवि और लेखक, जनविराट की आकाक्षाओं और आक्रोश का माध्यम (मीडियम) बन जाता है, उन्हें नागार्जुन के कृतित्व और उससे भी पहले उनके व्यक्तित्व को देखना चाहिये जो जनमय है। जनतादात्म्य यदि किसी कवि में शत-प्रतिशत है तो वह नागार्जुन में ही है और जहाँ तादात्म्य खरा और गहरा होना है, वहाँ रचना में सिद्धि यकीनन मिलेगी—'तादात्म्यात न का सिद्धिः (अभिनवगुप्त)।

रूपवादी-शैली वैज्ञानिक संरचनावादी वगैरह, शब्द और अन्य काव्यांगों के स्थापत्य को तो देखते हैं किन्तु यह नही देखते कि इस स्थापत्य मे, जो नवीन सरचना और नयी अन्वितियाँ हैं, उनका प्रेरक और कारक तत्व, वह तादात्मय है, तादात्म्य जन्य संवेग और शक्ति है। साहित्य मानसी सृष्टि है, यह मूल बिन्दु तकनीकी-आलोचना मे प्रायः विस्मृत हो जाता है अतः नागार्जुन जैसे कवियो के साथ अन्याय होता रहा है क्योकि उनका तकनीकी पक्ष आरोपित नहीं है, न आयातित है, वह शुद्ध देशी बल्कि 'देसी' है और देशी को बिदेशी व्यक्ति नहीं समझ पाता।

जनवादी लेखकों-आलोचकों के शिविर में, रचनात्मक-उत्कृष्टता की परवाह न कर, तात्कालिक-राजनीतिक-प्रचार और अभियान को महत्व देने के कारण, नागार्जुन की सपाटबयान प्रचारात्मक कविताओ को अधिक उछाला गया जो राज-नैतिक चेतना के प्रसार की दृष्टि से तो ठीक था पर इस तरह के जोश से, मूल्यांकन मे बाधा भी पड़ती है। 'अब तो बन्द करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' और 'मन्त्र' मे से यह चुनना ही होगा कि रचनात्मक-उत्कर्ष किस कविता में अधिक है।

पर यह नही हुआ। फल यह निकला कि रूपवादियों को यह कहने का मौका मिल गया कि जनवादी और प्रगतिशील लेखक आलोचक के लिये तो साहित्य और कला गौण है (Epiphenomenon) है, मुख्य नही है जबकि कलाकार और लेखक अपीनकला को साधन नही, साध्य मानता है, तभी कथ्य और कला की अन्विति

बन पाती है। यदि कोई कला को मात्र अस्त्र-शस्त्र मानता है तो उस में कथ्य की प्रधानता होगी, कला गौण हो जाएगी यानी कथ्य और कला पृथक्-पृथक् असमन्वित होगी अतः वह कला या कविता ही न होगी !!

इस तर्क को नारावादियो ने मौका तो दिया पर क्या यह तर्क सगत है ?

यह ठीक है कि नागार्जुन की नारात्मक कविताओ मे ऊपरीपन है किन्तु उनकी ऐसी रचनायें भी हैं, जिनमें कथ्य और कला मे, उनके भीतरी संवेग की गति से स्वतः रूप आ गया है। रूप कोई, मूल संवेग से असम्बन्धित वस्तु नही है। जिस तरह यौवन आने पर यानी शरीर में ऊर्जा के ज्वार से, उसकी छलक और झलक, लावण्य और भंगिमायें (नाजो-अन्दाज) या हावभाव स्वतः आ जाते है, उन्हें सिखाया नही जाता, किसी रुग्ण शरीर मे, सिखाने पर भी स्वाभाविक हाव-भाव नही आ सकते, इसी तरह नागार्जुन के अनन्त जीवनानुभवों, दीर्घ पर्यवेक्षण और विशद अध्ययन मनन से निर्मित उनके मानस की उठान से, रूप स्वतः आ जाता है। इसका यह अर्थ नही है कि नागार्जुन मात्र अन्त.प्रेरित कवि हैं, या यह कि वे सचेत कवि नही है। नागार्जुन शास्त्र और लोक, दोनो मे सिद्धहस्त होने के कारण शब्द, बिम्ब आदि की रग-रग से वाकिफ है अतः अन्तःप्रेरणा से स्वतः अभ्यागत या अवतरित रूप के अतिरिक्त वह सचेत होकर भी रचाव लाते है और ऐसे सटीक प्रयोगों की नागार्जुन में भरमार है।

अन्त मे यह कि नागार्जुन पिछले कई दशको में हिन्दी कविता में सरहपा और कबीर की उस कविता को नया कला वैभव और नयी धारें देते रहे है जिसे 'आलोचनात्मक कविता' (Critical Poetry) कहते है। यह उनके व्यंग्यो का ही एक भाग है या यों कहे वह सर्वत्र व्यग्यमय है क्योंकि जहाँ व्यंग्य है, वहां आलोचना और उखाड़ है ड भी।

हिन्दी साहित्य मे शास्त्रीयतावादियो ने जिस तरह सरहपा और कबीर आदि सिद्धों-सन्तों को कवि नहीं माना, जिस तरह रामचन्द्र शुक्ल और नंददुलारे वाजपेयी ने सिद्ध+नाथ+सन्त कवियों को नीची निगाह से देखा, उसी तरह हमारे आज के शास्त्रवादियों ने नागार्जुन को उचित मान और महत्व नहीं दिया। डा० नगेन्द्र हों या अज्ञेय, लोक-बोध के बिना ये वरिष्ठ लोग नागार्जुन को सहानुभूति नही दे सके पर इससे नागार्जुन का कुछ बिगड़ा नही क्योकि दिन प्रतिदिन अन्य अनेकों में, उनमें जो शास्त्र और लोक, दोनों को समझते है, नागार्जुन की कविता और व्यक्तित्व की अधिकाधिक मूल्यवत्ता भास्वरित होती जा रही है।

नागार्जुन मात्र जनकवि नही शुद्ध कवि के रूप मे भी बड़े और विकट कवि है। ●

सामान्यजन के महाकवि

—विजय बहादुर सिंह

जिस तरह छायावाद के शलाका पुरुष निराला और प्रयोगवाद—नयी कविता के शलाका पुरुष अज्ञेय हैं, उसी तरह प्रगतिवादी कविता के शलाका पुरुष नागार्जुन हैं। मैथिलीशरण गुप्त के माध्यम से हम छायावाद की पूर्ववर्ती खड़ी बोली की कविता को पहचान सकते हैं, उसी तरह छायावाद के बाद की प्रगतिशील कविता को पहचानने के लिये अगर कोई एक ही कवि सबसे ज्यादा हमारे मतलब का है तो वह नागार्जुन है। यों और भी कवि हैं—जैसे कि मुक्तिबोध, शमशेर, केदार और त्रिलोचन पर नागार्जुन जैसा इनमें से एक भी नहीं है। नागार्जुन प्रगतिवाद के निराला हैं। छायावाद की व्यापक परिधि का अतिक्रमण करते हुए जो काम निराला ने उस सन्दर्भ मे किया, लगभग वैसी ही भूमिका नागार्जुन निभा रहे है प्रगतिवाद के सन्दर्भ मे।

अपने निबन्ध की शुरुआत में ही मैंने एक शब्द का प्रयोग किया है—शलाका पुरुष। इसके साथ मैं यह भी निवेदन करना चाहता हूं कि प्रत्येक काव्यान्दोलन के शलाका पुरुष का व्यक्तित्व निर्माण अपनी परिस्थितियों की अनुरूपता तथा जरूरत के आधार पर हुआ करता है। इसलिये शलाका पुरुष कह देने मात्र से निराला अज्ञेय और नागार्जुन एक ही व्यक्तित्व के पर्याय नही हो जाते। निराला का विद्रोह नागार्जुन का विद्रोह नही हो जाता। निराला की अभिजात मूलक स्वच्छन्दता नागार्जुन की औघड़ी स्वच्छन्दता से फिर भी काफी दूर और अलग है। निराला, हमारी सांस्कृतिक गरिमा और वैभव के उदात्त रूपों के शिल्पी हैं। उनका छद, लयविधान, काव्य-भाषा और संगीत जातीय संस्कारों की गहरी भूमिका लिये हुए एक नयी सभ्यता को जन्म देना चाहता है, जिसका केन्द्रीय तत्व अध्यात्म होगा। बाहर का सारा तामझाम, चाकचिक्य, रंग-रोगन अस्वीकार्य नहीं है। किन्तु वही प्राणतत्व न कहा जा सकेगा। इस लिहाज से निराला का विद्रोह एक सांस्कृतिक विस्फोट है। उनके पास अगाध प्रेम और असीम करुणा है। उनकी कविता अद्वैत चिन्तन की अत्यन्त गहरी और बारीक लपेट में लिपटी हुई है। उनका समूचा विद्रोह कितना रचनात्मक और उदात्त है, यह बताने की जरूरत नही। तभी तो वे छायावाद के शलाका पुरुष कहे गये।

नागार्जुन को पहली बार लगभग इक्कीस बाईस साल पूर्व कलकत्ता के महाजाति सदन के मंच पर पायजामा और बँहकटी में देखा था। वे अकाल कविता का पाठ कर रहे थे। उन दिनों मैं कलकत्ता के विद्यासागर कालेज का छात्र था और महाविद्यालय की हिन्दी परिषद् का सचिव भी। हमने नागार्जुन को आमंत्रित नही किया था। ऐन वक्त पर सड़क से गुजरते हुए हमारे कुछ वरिष्ठ मित्र उन्हें पकड़ ले आए थे। 'अकाल' कविता का पाठ करके वे गायब हो गये। बिना किसी से कुछ कहे।

दूसरी बार उन्हे सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आधुनिक कविता पर व्याख्यान देते सुना। वही यह जाना कि जो छन्द का मास्टर नही है, वह मुक्त छद भी क्या लिखेगा? वही पहली बार यह जान पाया कि नागा बाबा सिर्फ अकाल, जयति नखरजनी, पांच पूत भारतमाता के, बापू के तीन बन्दर, आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी तथा प्रेत का बयान जैसी कविताओं के अलावा अगर बादल को घिरते देखा है, या 'कालिदास' जैसी क्लासिक तेवर वाली कविता भी लिख लेते है तो इसका कारण यह है कि वे सस्कृत भाषा और साहित्य के पारम्परिक पाण्डित्व के भी धनी है। इतना ही नही, वे मेघदूत के काव्यात्मक अनुवादक है। विद्यापति और जयदेव के टीकाकार है। पालि और अपभ्रंश के अध्यापक रह चुके हैं। जैनाचार्यो के शिक्षक और बौद्धो के भिक्षु बनकर श्री लंका के विद्यालंकार मठ का स्वाद भी ले चुके है। 1938 मे स्वामी सहजानन्द के निर्देश पर चीवर सहित बिहार के किसान आन्दोलन मे कूद कर जेलो की हवा भी खाई हैं। गरीब ब्राह्मण घर में जन्म ले, पारम्परिक ढंग से संस्कृत पढकर, अच्छी भली नौकरियां छोड़ते हुए श्रीलंका जाना और खुद ही पिता के दिए हुए नाम वैद्यनाथ मिश्र का परित्याग कर नागार्जुन बन जाना क्या यह प्रमाणित नही करता कि हमारा यह रचनाकार परम मोह के वातावरण मे भी विरक्त होकर जीने की क्षमता रखता है और पाखण्ड पोषित सधुक्कड़ी को सहज ही जनता-जनार्दन की पीड़ाओं के सन्दर्भ में त्याग कर उस सामाजिक कार्यकर्त्ता का बाना अपना लेता है जिससे किसी देश की रचनात्मक राजनीति अपना स्वरूप ग्रहण करती है। यह वही व्यक्ति है जो पिता से बदला लेने के खयाल से घर छोड़ता है और सामाजिक जीवन के संघर्ष को बल देने के लिए एक अनुशासित सैनिक की तरह गेरुए चीवर को उतारकर अपने झोले में रख लेता है। एक विचारक्रम में शमशेर जी ने यह सवाल उठाया था कि एक बौद्ध भिक्षु का मार्क्सवाद से भला क्या रिश्ता हो सकता है? मेरे सामने उसी वक्त महापण्डित राहुल की स्मृति उभरी जो बौद्ध भिक्षु और मार्क्सवादी लेखक थे। सच्चे बौद्ध का विकास अगर होगा तो वह रास्ता यही है। क्योंकि बौद्ध दर्शन मनुष्य के दुःखों के चिन्तन पर टिका हुआ है। यह उस महा करुणा की देन है जिससे गौतम बुद्ध

पैदा होती है यही करुणा जब सामाजिक, आर्थिक उत्थान और लोक समानता की ओर उन्मुख होती है, अपने समय के अभावों और वैषम्यों से निश्चेत न होकर व्यवस्था परिवर्तन के लिए छटपटाती है तब मार्क्सवाद सामने आता है। मानव संस्कृति जब भोगवाद की अतल घाटियो मे गिरने-गिरने को हो जाती है, आत्म स्वार्थ के ऊँचे किन्तु हृदयहीन पठार जब अहं मे तपने लगते है, परिग्रह की चरम जडता जब आदमी को कोड़ी बराबर मूल्य भी नही दे पाती तब आध्यात्मिक क्षेत्रो मे अपरिग्रह और ट्रस्टीवाद, हृदय परिवर्तन जैसे उदार और शालीन सिद्धान्त जन्म लेते हैं। यही वह जमीन है जब मार्क्सवाद भी अपने अकुर फेंकता है और सामाजिक बदलाव की दिशा मे क्रान्ति एक हथियार के रूप मे हमारे सामने आती है।

जिस कलाकार का मन जड़ सौन्दर्यवादी नहीं हो गया है, जिसके मष्तिष्क के कपाट खुले हुए है, जो रूढ और मोटे संवेदनो की जकड़ से बाहर है, वह तथा-कथित कवित-विवेक को बाला-ए-ताख रखकर कोरे कागदों पर अपने युग का सत्य लिखने की प्रतिज्ञा कर लेता है। नागार्जुन ने भी अपनी एक कविता मे यह प्रतिज्ञा की है कि अपने युग में तुच्छ समझे जाने वाले सामाजिक दृष्टि से हीन और अस्पृश्य समझे जाने वाले ही नही, आर्थिक तौर पर जीवन के भयावह अभावो से निरन्तर जूझने वाले उपेक्षित और प्रताड़ित लोगो के लिए अपनी लेखनी को हल के फार की तरह इस्तेमाल वे करेगे। जैसे तुलसीदास ने अपने समय मे यह व्रत लिया था कि वे नरकाव्य नहीं लिखेगे, वैसी ही नागार्जुन की यह प्रतिज्ञा भी सकारण है। यदि वे चाहे तो अब भी सौन्दर्यवादी, अलंकृत विधान वाली संस्कारधर्मी कविताएँ लिख सकते है। 'बादल को घिरते देखा है' वाली कलम अभी भी उनके पास है किन्तु युग के दबाव कुछ दूसरे ही है। इसलिए वे 'मन्त्र' जैसी कविता लिखते है। 'छाक चो खौकोन एइ जे गाँधी महात्मा' जैसी मार्मिक पीड़ा का इजहार करते है। हमारे समय की सामाजिक विडम्बना और राजनीतिक पतन का उल्लेख करते हैं और स्वातन्त्र्योत्तर चितकबरे विकास पर खीझते हुए आत्मरति ग्रस्त बुद्धिजीवियों, सत्तान्ध राजनेताओं और इलैक्शनमुखी पार्टियो पर दुर्वासा की तरह बरसते रहते है।

उनकी जितनी भी व्यग्य कविताएँ हैं, उनके पीछे करुणा से पैदा हुआ आक्रोश और क्षोभ है किन्तु निष्क्रिय क्षोभ नही, आक्रामक क्षोभ है वह। इसीलिए वे सिर्फ नंगा ही नही करते, चित्त भी कर देते हैं। पटकनी पर पटकनी देते चलते हैं। उनका व्यंग्य काव्य इस अर्थ मे अद्वितीय है कि उपहास (ह्यूमर) के तत्व उस पर हावी नहीं हो पाते। हमारा क्रोध अधिक सजग और लक्ष्य बद्ध होता चलता है। नागार्जुन जब बहुत गुस्से में होते हैं यानी कि विस्फोट की हद तक, तब व्यंग्य लिखते हैं, यही गुस्सा जब शान्त सागर होता है, सामाजिक जीवन में धनपतियों, कुबेर के छोनों या धन-पिशाचों का हाल चाल लेने निकल पड़ते हैं, जहाँ उनके

वैभव का उन्मत्त प्रदर्शन और सर्वहारा का शिकार चलता रहता है। 'विज्ञापन सुन्दरी' और 'उन्मत्त प्रदर्शन' जैसी कविताए तभी लिखी जाती हैं। महानगर कलकत्ता नागार्जुन की कविताओं का सबसे समृद्ध हिण्टर लैण्ड है। जिस तरह दिल्ली उन्हे समकालीन राजनीति और राजनेताओं के क्रूर कुटिल जन विरोधी चेहरे की पहचान कराती है, उसी प्रकार कलकत्ता उन्हें दुहरा दृश्य-दर्शन देता है। एक ओर ऊँची-ऊँची इमारतो, चमकती हुई निओन बिजलियों, भागती हुई मोटरगाडियों और अश्लील रंगीनियों का माहौल है तो दूसरी ओर सुरती फाकते, ठहाका लगाते चटकल मजदूर और फटी बिवाइयों वाले पैर लिए वामना-वतार रिक्शाचालक हैं, जो आदमी होकर भी घोड़ो की तरह जुतकर आदमी को ही ढो रहे है। विषमता की यह तीखी अनुभूति कलकत्ता जैसे महानगर पहली ही मुलाकात मे करा देते है। किन्तु यही वह उपनगरो मे रहने वाली श्रमिक आबादी भी है जिसके लिए इस कवि के हृदय मे निर्बाध प्यार और मंगलकामना है। यह नागार्जुन की कविता की वह दुनिया है जो उच्चवर्ग मध्यवर्ग वाली सफेद-पोश पाखण्ड पूर्ण दुनिया से कोसो दूर है। यह वह दुनिया है जिसके सवेदन सूत्र गावों से जुड़े हुए है। जो धरती पुत्र है किन्तु जिसका पसीना अब बड़ी-बड़ी धमन भट्ठियो के सामने ललकारता हुआ खड़ा है। यह तीसरी दुनिया जितना इस कवि को जानती है, उतना और किसी को नही। नागार्जुन इसी दुनिया के पक्षधर कवि हैं। किन्तु यह पक्षधरता कोरी सैद्धान्तिक पक्षधरता नही है। इसके पीछे उनकी गहरी अनुभूतियाँ काम कर रही है जिनका साकेतिक हवाला मैंने शुरू में ही दिया है।

आज तो बहुतेरे युवा वामपथी कवि यह दावा करने लगे हैं कि देश प्रेम की शुरूआत व्यक्तिगत प्रेम से ही हो सकती है और इसीलिए उनकी राष्ट्रप्रेम की कविताओं का चेहरा क्रान्ति की आंच से तमतमाया हुआ है। उनके अनुसार यह एक ऐसा सत्य है जिसे सबसे पहले चेग्वारा जैसे क्रान्तिकारियों ने ही प्रकट किया। इसीलिए मै भारतीय साहित्य शास्त्रियों के रसराज वाली धारणा के आधार पर यह भी नही मान पाता कि काम ही वह मूलवृत्ति है जिसके आधार पर दुनिया का असली रंग-रूप संवेदनागम्य हो सकता है। फ्रायडियन 'काम' को मैं इस अर्थ में अपेक्षाकृत अति संकीर्ण मानता हूं। हां अगर काम को दार्शनिक धरातल पर लिया जाये तो निश्चय ही वह सारे भावों को समेट लेता है। आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक महानिबन्ध में कविता का मूल उत्स कवि की भावुकता को मानते हुए यह दृढ़ मान्यता प्रकट की है कि सच्चे भावुक कवि की पहचान इस बात से होगी कि वह प्रकृति और जीवन के अति सामान्य से लगने वाले दृश्यों से कितना रागपूर्ण सम्बन्ध स्थापन कर सका ? यदि उसका रागतत्व भव्य और दिव्य मे ही लिप्त है तो वह आचार्य की निगाह में सच्चा सहृदय और भावुक कवि नहीं।

मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में इसीलिए अपने जमाने के कवियों से सौन्दर्य के रूढ़ सेन्सर्स तोड़ने का अनुरोध किया था। उनका यह कहना था कि वीरान बंजर पठार मे भी एक आकर्षण होता है, सघन अन्धकार की भी एक खूबसूरती होती है, उसे हमारे कवि क्यो भूले हुए हैं? नागार्जुन ने इस कथन के बहुत पहले ही एक कविता लिखी थी—'जया'। जया पड़ौसी की एक गूंगी लड़की का नाम है जिस पर इस कविता का प्रेम छलका है और उसी के प्रकाश मे वह उसके सुन्दर भविष्य का साक्षात्कार कर सका है। कवि की एक और कविता है 'रंगीन चूडियाँ' जिसमे एक ड्राइवर बाप अपनी नन्ही बेटी की चूडियाँ बस के अगले हिस्से में सामने टांगे हुए है और जब वे हिलती हैं, उसे अपनी बेटी ही आंखों के सामने उछलती-कूदती-नाचती नजर आती है। एक ड्राइवर बाप के लिए इससे बडा सुख और क्या हो सकता है जो दिन भर अपनी बच्ची से दूर कहने को मजबूर हैं। जीवन के ये छोटे से लगने वाले छोटे लोगो के सुख जो नही समझ सकते, वे नागार्जुन को न समझ सकें तो क्या आश्चर्य ?

नागार्जुन कविता और कविता-आन्दोलनो की तमाम चौहद्दियों को पार कर जीवन के प्रकृत और सहज रूप को पकड़ लेते हैं। जो लिपा-पुता, सजासंवरा लावण्य युक्त है उस पर तो सबकी निगाह जाती रही हैं, क्योकि असाधारणता का अपना एक आकर्षण होता है जो खीचता है। पर जहाँ न पहुंचे रवि वहाँ पहुंचे कवि वाली उक्ति का तब कोई मतलब ही नही रह जाता। कविता का संसार कभी भी पुराना नही पड़ता, न ही उसका कोई ओर छोर है। हर आने वाले कवि को आगे बढ़ने के लिए राहें खुली हुई हैं। वे और लोग होंगे जिन्हें विषयो का टोटा सताता रहता है। सच्चा कवि तो इनकी प्रचुरता में रहता है। हर घटना उसे भाव विह्वल या विचलित करने पर उतारू रहती है—यही उसकी संवेदनशीलता की सजगता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस दृष्टि से नागार्जुन अपने समय के सबसे ज्यादा जागरूक कवि है। इतने जागरूक हैं कि अगर कविता को अखबार के स्तर तक उतारता पड़े तो उन्हें कोई हिचक नहीं। भारतेन्दु ने भी अपने जमाने में 'का सखि साजन ना सखि पुलिस' जैसी पंक्तियां और अंधेर नगरी' जैसा नाटक लिखकर यह संकेत दे दिया था कि सौन्दर्य एक गतिशील और परिवर्तनोन्मुखी धारणा है। तभी न फैशन की दुनिया इतनी जल्दी-जल्दी बदलती रहती है। तभी न प्रबुद्ध समाज 'आंसू' और 'पल्लव' या 'जूही की कली' के बदले 'कफन' और 'पूस की रात' तक उसी कोमल और द्रवणशील चित्त से संचरण कर पाता है। इसीलिए शाश्वत सौन्दर्य की माग करने वालों को यह सोचना चाहिए कि सौन्दर्य एक व्यापक अवधारणा है और इसका कोई एक अटल प्रतिमान नहीं हो सकता। अगर होता तो राम, कृष्ण और दुष्यन्त के बदले 'होरी' हमारा युग नायक कैसे बन जाता ? उसी प्रकार नागार्जुन की 'हरिजन गाथा' कविता का वह हरिजन बालक कैसे हमारे आगामी युग का संदेशवाहक न

बनता ? यह उद्यम सिर्फ वे ही कवि कर सकते हैं जो कविता की बनी बनाई परि-पाटियों और अवधारणाओ से स्वय को मुक्त कर लेते है। और वे ही सहृदय आलोचक ऐसे नये प्रस्थानों को पहचान पाते है, शास्त्र ने जिन्हे अपना क्रीतदास नहीं बना रखा है।

क्या कारण है कि आचार्य शुक्ल जैसा साहित्य समीक्षक कबीर जैसे कवि को ठीक वैसी सहृदयता नही दे पाता जैसी कि रवीन्द्रनाथ, आचार्य क्षिति मोहन सेन और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी देते है ? सहृदयों के भी कई-कई गोत्र और जातियां होती है। स्वयं मेरे गुरुदेव आचार्य वाजपेयी को मुक्तिबोध की कविताओं में चिल्लाहट सुनाई देती थी। साहित्य मे ही नही, जीवन में भी इस प्रकार की रुचि-बाधकता काम करती है और नयी मूर्तिया हजारों साल तक नर्गिस की तरह अपनी बेनूरी पर रोने को मजबूर रहती है। निराला के मुक्त छन्द को एक समय के प्रबुद्ध लोग केंचुआ और रबड़ छन्द से सम्बोधित करते थे। इसलिए आज अगर नागार्जुन की कुछ कविताएँ लोगो की निगाह मे मात्र पर्चेबाजियां है तो इसमें उनका कोई दोष नही। सिर्फ उनकी बद्ध रसिकाई यहा आड़े आ रही है। वे कवि विशेष को अपनी रुचियो के बधे बधाए आँगन मे नाचते हुए पाना चाहते हैं। किन्तु अफसोस, नागार्जुन कबीराना अदाज मे घर-गृहस्थी को स्वीकार करते हुए भी उसे जलाने के लिए तैयार है। वे जानते है कि फाकामस्ती और फक्कड़पन का मजा क्या है ? घर आगन, तथाकथित अभिजातवाद, शालीन लिहाज और मृदु मन्द-मन्द मुस्कान को किन समझौतो और शर्तों के तहत अपना तेज हरण कराना पड़ रहा है। इसलिए के कविता को औघड़पन के नजदीक ले जाते हैं और बार-बार अपनी ही गढ़ी हुई प्रतिमाओं को तोड़कर दूर खड़े हो जाते है। सिर्फ यह देखने के लिए कि क्या अब भी उनमें नया कुछ रचने की ऊर्जा बची हुई है या फिर रिटायर्ड कवियो की तरह जीवन के आखिरी दिनो मे पुरानी कमाई का फल चखते रहना भर शेष रह गया है। मैथिलीशरण गुप्त एक उम्र में पहुंचकर लिखना बन्द कर चुके थे। उनके जीवन काल में ही उनके रचनाकार की मृत्यु हो चुकी थी। बच्चन कविता और गद्य दोनों को ही नमस्कार करके जिन्दा हैं। किन्तु नागार्जुन अभी न होगा मेरा अन्त वाली शैली में आज भी हिन्दी और बंगला में लिखते चले जा रहे हैं। जिस तरह बुढ़ौती मे रवीन्द्रनाथ की ऊर्जा ने जोर मारा तो वे चित्रकला में उतर आए उसी तरह नागार्जुन इस उम्र मे बगला के एक ताजे कवि के रूप मे प्रवेश कर रहे हैं। संस्कृत और मैथिली में तो वे लिखते ही आ रहे थे। वहाँ वे 'यात्री' जी है। हिन्दी मे नागार्जुन। एक साथ तीन तीन नाम। एक पिता के द्वारा दिया हुआ, दो खुद के चुने हुए। परम्परा मे आधुनिकता द्वारा की गई यह बढ़ोत्तरी उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पहचान है।

वे अतीत को उतना ही जानते हैं जितना किसी भी रचनाकार को

जानना चाहिए। पर वे उसमें से चुनते है, अपने युग के लायक उसे मांजते चमकाते हैं। जरूरत पड़ी तो कुछ और जोडकर उसे तरोताजा बनाते हैं। या फिर नया अर्थ देकर पुनः प्रतिष्ठित करते हैं। निराला और तुलसीदास की तरह वे अनेक भाषाओं के साथ-साथ अनेक छंदों और शैलियों के भी कवि हैं। 'फूले कदंब'। धिन-धिन धा, घमक-घमक मेघ बजे जैसे ऋतुगीत वे जब लिखते हैं तब विद्यापति और निराला दोनों को शामिल कर लेते है। उनके सौन्दर्य विधान के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं। अलंकार वे इसीलिये नही प्रयोग करते कि कविता को अधिक सजाना है। बल्कि उसको उनकी जरूरत है। गैर जरूरत में वे उसे सहज और प्रकृत ही छोड़ देते हैं। वस्तु चित्रण ही जहा अप्रस्तुन विधान का काम कर ले, वहाँ उत्प्रेक्षा की आवश्यकता क्या है ? वस्तुतः वे शिल्पहीन शिल्प के शिल्पी है। उनका शिल्प सूर आदि या रीतिकालीनों की तरह ऊपर से थोपा हुआ नही है। वह वस्तु के साथ इतना रच पच गया है कि उसे अलग से पहचानना कठिन ही नहीं बहुत कठिन है। उनकी भाषा मे अग्रेजी, उर्दू, बंगला के अलावा आम फहम भाषा और बोलियों के इतने घुले मिले संस्कार हैं कि एकाध कवि समीक्षकों ने उसे सघुक्कड़ी तक कह डाला है। क्योकि नागार्जुन घुमक्कड़ जो है। समीक्षा में भी ऐसी तुक तान बिठायी जाती है, यह देखकर आश्चर्य ही होता है।

मैं जो बात कहना चाहता हूँ वह बहुत सारे मित्रो को केवल चौंकाएगी ही नही, आहत भी करेगी, किन्तु अपने अनुभूत सत्य और धारणा को प्रबुद्ध समाज के समक्ष विचारार्थ रखना कभी भी अपराध नही माना गया। यही सोचकर मैं यह धारणा व्यक्त करना चाहता हूं कि नागार्जुन प्रगतिशील कविता के आदर्श है और अपने जातीय समकालीनों मे सबसे विशिष्ट भी। रूप और शिल्प, भाषा और कथ्य के समग्र अवलोकन पर तो वे निराला के बाद के सबसे विशिष्ट कवि साबित होते हैं। उनमें क्लासिक और रोमाण्टिक का अद्‌भुत संयोग प्राप्त होता है, इतिहास और आधुनिकता की युगीन संगति दिखाई देती है। परम्परा और नवीनता के प्रसन्न बिन्दु उनकी कविता में जगह-जगह मिलते है। उनकी प्रगतिशीलता न ही वैचारिक मतवाद या सम्प्रदायवाद का स्वरूप ग्रहण करती है, न ही इतिहासान्ध होकर चन्द कविताई लटके झटके या भाषीय जुमलों मे कैद होती है। उसमें सहज का गौरव और सामान्य का संघर्ष बहुत साफ-साफ दिखता है। मुक्तिबोध की तरह उनकी नियति सफेदपोश मध्यमवर्ग की फैशनमुखी क्रान्ति विलासिता की शरण में जाना न होकर आम जनता के बीच टहलना-डोलना और उसके स्थानीय संघर्षों मे साथ देना है। मुक्ति बोध की कविता आतंक, त्रास, पश्चात्ताप, ग्लानि, विक्षोभ और असमंजस की कविता है। उनके यहाँ मध्यवर्ग और उसकी विशिष्ट खामियाँ ही मूल चिन्ता के रूप में व्यक्त है। जबकि नागार्जुन के यहाँ निम्नवर्ग या सचमुच का सर्वहारा वर्ग कविता का नायक है। रिक्शा खींचने वाला, चटकल मे काम करने

वाला मजदूर, उच्चवर्ग का पुश्तैनी शिकार हरिजन और मछुआरा और, महिला वर्ग जो वर्षो नही शताब्दियों से भारतीय समाज की गुलामी करने को विवश है, नागार्जुन के चरित्र नायक हैं। मुक्तिबोध स्पष्टत: पढ़े लिखे बुद्धिजीवी समाज के कवि हैं। उनका क्रांतिधर भी वही है और वही ग्लानि, असामंजस्य, दुविधा और पश्चाताप की आग मे जल भी रहा है। वही उनकी आशा का बोध केन्द्र भी है। जबकि नागार्जुन को इस वर्ग से न तो कोई आशा है, न ही वे इसके अपने असंगत आचरण के लिए चिन्तित ही हैं। उनकी मूल चिन्ता पददलित, शोषित किन्तु करवटें लेता हुआ वह जागरूक किसान, मजदूर, हरिजन है जो अपना भविष्य स्वयं तय करेगा। नागार्जुन भव्य क्रान्ति के दिग्दर्शक कवि नही है क्योकि इस भारतीय समाज को अभी संगठित होना है। इसी प्रकार वे मध्यकालीन रीतिवाद या छायावादी संस्कारवाद से बचकर भाषा और शिल्प के नये प्रतिमानों की तलाश करते हैं। वे मुक्तिबोध की तरह इतने भावविह्वल नही है कि अपनी अनुभूतियों को पराकल्पना (फैण्टेसी) का लिबास पहना दे, न ही उनकी तरह विक्षोभ ग्रस्त ही कि 'ब्रह्मराक्षस' बन जाये। नागार्जुन की पक्षधरता जितनी स्पष्ट और पारदर्शी है, उनकी कविता भी उतनी ही निखालिस और जनमुखी है। आगामी प्रगतिशील कविता के वे अन्यतम उदाहरण है। हिन्दी की वामपंथी कविता भले ही मुक्तिबोध को कलागुरू की उपाधि दे किन्तु अनुसरण वह नागार्जुन का ही करेगी क्योंकि नागार्जुन का सर्जक व्यक्तित्व विविधता-सम्पन्न और लोक की निकटस्थ पहचान से निखरा हुआ है। नागार्जुन ही एक ऐसे कवि है जो कभी भी किसी के द्वारा पालतू या सरकारी बनाए जाने की नियति से बच सके हैं। नागार्जुन की यह विशेषता ही कही जायेगी कि उन्होने अपने समय के तमाम कविता रूपो और भाष-भंगिमाओं को प्रगतिशीलता के दायरे में समेट लिया है। उनसे यह वृत्त अधिक व्यापक हुआ है। साथ ही उन्होने कविता को गद्य के बेहद करीब लाकर खड़ा करते हुए यह जाँचने की कोशिश की है कि नारा कब कविता बन जाता है और ऐसी कविता मन्त्र हो सकती है या नहीं। उनकी काव्य प्रेरणा सीधे जनान्दोलनों और रोजमर्रा के जीवन से चल कर आती है। वही से वे अपनी भाषा भी उठा लेते हैं और संगीत भी। मुक्तिबोध अगर प्रगतिशील कविता के जयशंकर प्रसाद हैं तो नागार्जुन निश्चय ही निराला के स्थानीय है। यों भी प्रसाद मुक्तिबोध के और निराला नागार्जुन के आदर्श कवियों में से हैं। निराला की ही तरह नागार्जुन का संघर्ष अपने संस्कारों से जूझने का है। किन्तु निराला यह काम जिस युग की स्थापना के लिए कर रहे थे, वह छायावाद था। नागार्जुन प्रगतिवाद के सौन्दर्य में ठीक यही भूमिका निभा रहे हैं।

गोर्की की तरह वे अपने देश के आम आदमी से जुड़कर उसी की लडाई लड़ते हुए प्रेमचन्द की अगली कड़ी के रूप मे हमारे सामने आते है। उनकी बहुमुखी

प्रतिभा और सृजनात्मक विवेक का इससे बढकर और क्या प्रमाण हो सकता है कि अधीत पाण्डित्य के बावजूद वे कला और संस्कृति के भव्य शिखरो की चौंध से अन्धे नहीं हुए, न ही अपनी बुद्धिजीविता के अहं में घोघा धर्म ही स्वीकार किया। आज भी वे अकुण्ठित व्यक्तित्व के धनी है। जितने क्रोध में उनका व्यंग्य फूटता है, उतने ही उल्लास में वे 'धिन-धिन धा धमक-धमक मेघ बजे' के ताल पर थिरक भी उठते हैं। वे उस पूर्णजन के कवि हैं जिसे इतिहास ने सवारा और आधुनिकता ने ऊर्जस्वित किया है। आज भी वे भाषाओं, शैलियों और रूपों की प्रचुरता में है। आज भी उनकी कलम शोषण के पुरोहितों के खिलाफ संकल्पबद्ध है।

———

व्यंग्य और आक्रोश के कवि

— कृष्ण चन्द्र गुप्त

नागार्जुन ने जन-जीवन के संघर्ष को वाणी दी है। स्वभावतः इसमें व्यंग्य, विद्रूप, आक्रोश, घृणा, मोह भंग के साथ-साथ जुझारूपन, आशावाद, दीन दलित जनों के प्रति अशेष सहानुभूति से उपजी कर्मठता है और है प्रकृति, पशु पक्षी तथा मानव सौंदर्य के प्रति कवि सुलभ आकर्षण। धरती की सौंधी गंध से कवि का मन बौराता है तो उसमें सीधे सच्चे दीन दलित जनों के प्रति सम्पन्न वर्ग की क्रूरता के प्रति प्रचंड रोष भी है। कबीर की तरह नागार्जुन ने शोषक और अत्याचारी पर चोट की है, फिर वह चाहे किसी वर्ग का क्यों न हो। 'अरे इन दोउन राह न दीठा' की तर्ज पर उन्होंने लिखा है—

"तुमसे क्या झगड़ा है
हमने तो रगड़ा है—
इनको भी, उनको भी, उनको भी !"
(हजार-हजार बांहों वाली, पृष्ठ 189)

और इसका सबसे बडा प्रमाण है 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' शीर्षक कविता। इन्दिरा शासन के विरुद्ध एक जुट हुई अधिकांश विरोधी शक्तियां जब जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे सक्रिय थी तभी क्रांतिदर्शी कवि ने जान लिया था कि 'यह समान धर्म या समान नीति वाले दलों का मेल नहीं है, समान लक्ष्य अर्थात् 'इन्दिरा हटाओ-सत्ता हथियाओ' के लिए की गई साठगांठ है जिसमें मार्क्सवादी भी हैं, जनसंघी भी है, समाज़वादी भी हैं, दक्षिणपंथी भी हैं, जात बिरादरी पर आधारित दल भी हैं और सर्वोदयी भी हैं। इमर्जेन्सी मे जेल में इनके असली चेहरे निकटता से देखने को मिले। नागार्जुन का मोह भंग हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने सार्वजनिक रूप से की 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' शीर्षक कविता में—

"मिला क्रांति में भ्रांति विलास
मिला भ्रांति में शांति विलास
मिला शांति में क्रांति विलास
मिला क्रांति मे भ्रांति विलास

टूटे सींगों वाले साँडों का यह कैसा टक्कर था !
तुम जनकवि हो, तुम्ही बता दो
खेल नही था, टक्कर था।" (खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृष्ठ 29)

इमर्जेन्सी में नागार्जुन जेल से छूटकर आए—सम्भवतः माफी माँगकर। जयप्रकाश नारायण भी बड़े नाराज हुए थे इस सार्वजनिक अभिव्यक्ति पर, लेकिन जो सत्य कविको दिखाई पड़ रहा था, उसे कहने मे वह नही चूका। उसकी सारी प्रतिष्ठा दाँव पर लग गई। 'पहल' के जुलाई 76 मे प्रकाशित साक्षात्कार मे नागार्जुन का यह वाक्य 'मैं वेश्या की गली मे जाकर लौट आया और तमाशा घुस के देखा' सी०पी० आई० भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ताओ ने बड़ा उछाला और इन्दिरा शासन के पक्ष में तथा विरोधी दलों द्वारा चलाए जा रहे अभियान के विपक्ष मे इसका खूब इस्तेमाल हुआ। लेकिन यह कवि अपनी सहज बुद्धि से जो देख रहा था, जो असंगति इस मेधावी कवि को लग रही थी उसका बखान उसने कर ही दिया, भले ही तानाशाही प्रवृत्तियों से जूझने वाली शक्तियो को उस समय इससे आघात लगा हो।

नागार्जुन ने अपने बारे में कबीर की ही तरह स्वभावोक्तियां कही हैं जो दर्पोक्तियां भी लगती है। जयप्रकाश नारायण द्वारा संचालित आन्दोलन की असंगतियों को चौराहे पर लाने वाला कवि इन्दिरा समर्थक नही बना। जितना तीखा आक्रोश उसने इन्दिरा गाँधी के प्रति व्यक्त किया, शायद ही किसी पर किसी ने किया हो—

—"जाने, तुम कैसी डायन हो !"। खिचड़ी विप्लव देखा|हमने, पृष्ठ 25)
—"जय हो जय हो, हिटलर की नानी की जय हो !" (वही, पृष्ठ 26)
—"किस चुड़ैल का मुँह फैला है !
संविधान का पोथा, देखो, पूरा का पूरा ही कैसे लील रही है !
यह चुड़ैल है !
देशी तानाशाही का पूर्णावतार है
महाकुबेरों की रखैल है
दिल में तो विष कन्या वाला वही प्यार है
लोकतन्त्र के मानचित्र को रौंद रही है, कील रही है
सत्तामद की बेहोशी में हाँफ रही है
आँय-बाँय बकती है कैसे, देखो कैसे काँप रही है।" (वही, पृष्ठ 28)
यह सब इसलिए कहा—
"जनकवि हूँ, क्यों चाटूँगा मैं थूक तुम्हारी
श्रमिकों पर क्यों चलने दूं, बन्दूक तुम्हारी।" (वही पृष्ठ 83)
बड़ा बड़बोलापन लगता है यह लेकिन नागार्जुन का सारा काव्य और

उनका व्यक्तिगत आचरण देखकर यह नही कह सकतेकि उन्होंने इसकी विपरीत दिशा मे आचरण किया है। यह भले ही कहा जा सके कि वे सीमान्त तक नही पहुंचे है। जहाँ कही सघर्ष के लिये जूझते वीर है, सीधे सच्चे कार्य कर्त्ता है, जीवट के बलिदानी है, उनकी जय जय कार की है। उन्होने कहा भी है कि व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठकर "हम किसी की भी जय बोल सकते है।" (वही, पृष्ठ 108)। वही कबीर वाला स्वभाव 'ना काहू सों दोस्ती' नागार्जुन का भी रहा है। इसका प्रमाण है 'जयति कोरिया देश' नामक कविता जिसमें उन्होने लिखा है—

"मुझे रात भर नीद न आती, सुन सिऊल का हाल।" (युगधारा, पृष्ठ 101)

जुझारू तरुणाई के स्वागत मे भी वे लिखते हैं।

जन-मन के सजग चितेरे केदारनाथ अग्रवाल का 'जन-मन-गण के जाग्रत शिल्पी, तुम धरती के पुत्र, गगन के तुम निर्माता' कहकर अभिनन्दन करते हैं, साथी रुद्रदत्त भारद्वाज का तर्पण करते है।

स्तालिन की वन्दना करते है तथा अनेक अज्ञात और अल्पज्ञात जुझारू लोगों के लिए उनका सश्रद्धा प्रणाम है।

जो कवि को वन्दनीय लगा, उसकी वन्दना की, भले ही पार्टी या देश की घोषित नीति के विरुद्ध ही जाना पड़ा और जो घृणित लगा, निन्दनीय लगा, उसकी भरपेट निन्दा की, बड़े से बड़ा खतरा उठाकर। यह केवल व्यक्तिगत रागद्वेष पर, मनक पर आधारित नही है, व्यापक जनहित की कसौटी पर कसा हुआ निर्णय है, जिसके मूल में कवि का अपना व्यक्तित्व है।

सर्वहारा वर्ग का पक्षधर बनने के पीछे नागार्जुन की आर्थिक परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी है। उन्होने शोषण और अत्याचार को न केवल निकटता से देखा है अपितु स्वयं उसका अभिशाप भी झेला है। सुविधावादी कवियों की आध्यात्मिक और रोमांटिक अभिव्यक्तियों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है—

"लेखनी ही है हमारा फार-
धरा है पट, सिन्धु है मसिपात्र
तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी हम लिखा करते,
—कहानी, काव्य, रूपक, गीत
क्योंकि हमको स्वयं भी तो तुच्छता का भेद है मालूम।"

(युगधारा, पृष्ठ 65)

आर्थिक विपन्नता हमेशा अभिशाप ही नही होती। वह जन सामान्य से

तादात्म्य करने का साधन बनकर रचनाकार के लिये वरदान भी हो सकती है। नागार्जुन और प्रेमचन्द ऐसे ही कृतिकार थे। तभी तो दीनहीन शोषितों के विजयपर्व में कवि सम्मिलित हो जाता है—

"निकली थी वह विजयी मेहतरों की बारात
मस्त थे वे मांग मनवा लेने की खुशी में
चटपट कमरे से मैं भी निकला
किलबिल करते लाख चौरासी
जीवों के संभावित महामोक्ष की खुशी में
मेरे भी मुंह से निकल ही तो पड़ा
—जय हो बंभोला।"

(हजार हजार बांहों वाली, पृष्ठ 64)

यह है आधुनिक मोक्ष की कठोर साधना, जो गली मुहल्लों सड़कों पर शताब्दियों से अनेक प्रकार के बन्धनों में जकड़ी हुई जनता द्वारा की जा रही है, जिसमे अनेक देव और दानव बिघ्न बाधायें डाल रहे हैं। युगकवि इन मेहतरों की विजययात्रा में सम्मिलित होकर अपने को धन्य समझ रहा है क्योंकि अभिजात्य वर्ग को छोड़कर ही जन-सामान्य के दुःख दर्द को अपने 'हिये मे परसा' जा सकता है—

"हम तो भई निहायत मामूली किस्म के
अदना से आदमी ठहरे
तुम तो संस्कृत-सुसंस्कृत
हम तो ठहरे अपभ्रंश-प्राकृत।"

(वही, पृष्ठ 24)

धरती के नित्य प्रति के दुःख दर्द को क्षणिक और सामयिक समझकर तिरस्कृत करने वाले, अध्यात्म और शाश्वत की आराधना करने वाले, नागार्जुन को पलायनकर्त्ता और मतिभ्रष्ट लगते है क्योंकि कवि मानता है कि शाश्वत की चिर सतत गतिशीलता की अभिव्यक्ति सामयिक में ही होती है। दोनो में कोई मौलिक भेद या विरोध नहीं है—

"कवि हूं, सच है
किन्तु, क्षणिक तथ्यों को यों अवहेलित करके
शाश्वत का सीमान्त कभी क्या छू पाऊँगा ?"

(युगधारा, पृष्ठ 78)

चारों ओर के पीड़न-शोषण से अनासक्त रहकर काव्य साधना करने वाला कवि वह नहीं है, होना भी नही चाहता। जब तक शोषण, अनाचार है तब

तक उससे जूझना है और दूसरों को जूझने की प्रेरणा देना ही कवि कर्म है। अहिंसा प्रेम के स्थान पर अत्याचारी के प्रति घृणा और प्रतिहिंसा ही वरेण्य है।

प्राचीन पौराणिक ऐतिहासिक पात्रो और मिथकों का अपने युग की आवश्यकतानुसार रूपान्तरण कवि ने किया है। वह दुर्वासा सा क्रोधी है, रुद्रावतार शबर जैसा जुझारू है, काव्य के सभी रसों का आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल रसायन बनाने वाला बीसवीं शती का नागार्जुन है। भारत के पौराणिक एवं स्वर्णिमकाल के प्रतीकों की सार्थकता आज जनजन के दुःख दर्द को दूर करने मे ही कवि ने मानी है और इसी कारण वह बड़े से बड़े सत्ताधारी के सामने नहीं झुकता।

ऐसा व्यक्तित्व है नागार्जुन का, जो जन-जन के दुख दर्द से जुडा हुआ है। जो कुछ उसे अनुचित लगता है, तीखे से तीखा व्यग्य उस पर करता है गाली गलौज तक पर वह उत्तर आता है। इन्दिरा जी के बारे मे व्यंग्य, आक्रोश, गाली गलौज के मूल मे यही तथ्य है। इस गाली गलौज के औचित्य या अनौचित्य पर प्रश्न चिह्न क्या निषेध चिह्न भी लग सकता है। यह महत्वपूर्ण नही है। महत्वपूर्ण यह है कि शोषण का, साम्प्रदायिकता का, पाखंड का, धोखे धडी का, धूर्तता का जो तांडव उसे दीख रहा है, वह उतनी ही तीक्ष्ण घृणा, विद्रूप और व्यंग्य से उस पर प्रहार करता है। आध्यात्मिक सौदर्य के लोक मे कल्पना विहारी भावुक कवि जैसी दिव्य करुणा की कोमल अनुभूतियाँ नहीं हैं, कोमलकांत पदावली नहीं है, क्योंकि प्रतिहिंसा और घृणा से कवि का रोम रोम सुलग रहा है। वह क्षमा, अहिंसा का राग कैसे अलापेगा ?

यही पर एक और तथ्य। मई 83 मे उत्तर प्रदेश सरकार के हिन्दी संस्थान की ओर से पन्द्रह हजार का विशिष्ट पुरस्कार पाने वालों मे नागार्जुन भी थे। और यह पुरस्कार उसी इन्दिरा के हाथों स्वीकार किया, जिसे उन्होंने महाकुबेरों की रखैल, चुड़ैल, डायन, हिटलर की नानी कहा था। पुरस्कार लेने से पहले और लेते समय क्या नागार्जुन को यह याद नही रहा ? या पुरस्कार देने वाले हिन्दी संस्थान के कर्णधार नागार्जुन की उक्त धारणा से अपरिचित थे ? हो सकता है इन्दिरा गाँधी को न बताया गया हो कि आपके बारे में ऐसा लिखने वाले को पुरस्कृत करवाया जा रहा है आपके द्वारा। नागार्जुन को पुरस्कार दिया गया इस सबके बावजूद। नागार्जुन ने पुरस्कार लिया यह सब लिखने के बाद भी। देने वाले की यह उदारता है ? क्षमा है ? विवशता है ? या कूटनीति है ? मूर्खता है ? क्या है। कुछ तो होगी ही। पुरस्कार स्वीकार करने वाले का क्या है ? समझौता है ? प्रायश्चित है ? उसने तो क्षमा याचना की नहीं। भूल स्वीकार की नहीं। वह तो तब से लिखता आ रहा है, जैसा देखता आ रहा है। इमरजैंसी मे जेल से छूटे नागार्जुन माफी मांगकर या कैसे ? फिर भी इन्दिरा का

गुणगान तो नहीं किया। इमरजेंसी के बाद तो प्रत्येक कलमघिस्सू क्रान्तिकारी हो गया। नागार्जुन तो 1980 मे इन्दिराजी के सत्तारूढ़ होने पर भी वैसा ही लिखते रहे। उन्होंने स्वय को नहीं बदला। क्यो बदलते वे स्वयं को ? पुरस्कार उन्हें क्यों दिया गया और उन्होंने क्यों लिया ? यह पूछने पर उन्होंने कहा कि जनता के दबाव के कारण मुझे पुरस्कार मिला। (दिनमान मे प्रकाशित विवरण के आधार पर) तो इसमें कुछ सत्यता है ही। संस्थान के कर्णधार यह समझते थे कि नागार्जुन जैसे कवि का सम्मान होना ही चाहिए उनकी राजनीतिक मान्यताओं के बावजूद। जब वे इन्दिरा विरोधी जनता पार्टी के नेताओं पर भी खुले प्रहार करते रहे तब इन्दिरा जी को क्यों क्षमा करते ?

कसौटी हैं सामान्य जन जो रक्षक—उसकी जय, जो भक्षक—उस पर व्यंग्य, विद्रूप, गाली-गलौज। यह है प्रतिबद्धता, जिसका आधार है दीन-हीन, अधिसंख्य भारतीय जनता, और केवल भारतीय जनता ही नहीं, दीन दुखी मानवता मात्र। नागार्जुन से सहमत असहमत हुआ जा सकता है उनके पक्ष समर्थन या विरोध को लेकर, लेकिन उनकी नीयत मे सन्देह नहीं किया जा सकता। हां, उनमे भोलापन है, जिसके वे शिकार होते रहे है। 'पहल' को दिया गया साक्षात्कार ऐसा ही था। 'भस्मांकुर' जैसा काव्य लिखना आर्डर पर, ऐसा ही था, जिसकी काफी आलोचना हुई।

अपनी सारी त्रुटियो, अभावों, स्खलनों के होते हुए भी नागार्जुन जन-जीवन के दुख दर्द की गहरी संवेदना से युक्त है। इस दुख दर्द के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों के प्रति व्यंग्य, विद्रूप, यहाँ तक गाली गलौज भी करते है। इस दुख दर्द को मिटाने के लिए सवेदना के धरातल पर जी जान से जुटे हुए है, इसलिए युगविमुख, उत्तरदायित्व से पलायन करने वाले, अपनी ही दुनिया में सिमटे हुए रचनाकारों तथा अध्यात्म-शाश्वत की खोज मे यथार्थ की उपेक्षा करने वाले चिन्तकों, सन्तों और बुद्धिजीवियों पर बड़ा ही तीक्ष्ण व्यंग्य करते है। छायावादी कवि का यह कैरिकैचर दर्शनीय है जिससे व्यंग्य सहज ही फूटता दिखाई पड़ता है—

"कोटरगत नेत्र, धंसे हुए गाल
उदयशंकर कट के कुन्तलीन बाल
गमन मराल का, चितवन चकोर की
कुहासा-सी भाषा सांझ की न भोर की
कलित कलकंठ, विकल बेदनामय गाना
पौरुष नदारद, स्त्रैण सवा सोलह आना

पहचाना फिर भी नहीं
देखा है जरूर कहीं
कौन है आप ?
मृदु-मसृण विधुवदनी छवि है
ढलते दिनमान का छायावादी कवि है।"

(युगधारा, पृष्ठ 81)

'योगिराज अरविंद' शीर्षक बड़ी ही तीक्ष्ण कटु व्यंग्य से दहकती कविता है जिसमें कवि ने देशव्यापी जटिल समस्याओं-शोषण, अव्यवस्था, भ्रष्ट-व्यवस्था से बेखबर, अध्यात्म लोक में विचरण करने वाले चरम चेतना के विकास के स्वप्न में खोए पलायनवादी मतिभ्रष्ट अरविन्द को 'आजाद हिन्द का पोप' तक कह दिया है। उनसे प्रभावित पंत पर भी कवि ने व्यंग्य बाण बरसाए हैं। 'बुद्धि हत्या का केन्द्र' खोलने वाले अरविन्द का यह दुष्प्रभाव बुद्धिजीवियों को कर्त्तव्य से पलायन करने वाला बना रहा है।

(देखिये, हजार हजार बाहों वाली, पृष्ठ 18-1)

क्योंकि यह विचार पद्धति यथार्थ के शोषण और उसके अदृश्य चक्र से विमुख कर सनातन, अध्यात्म और परम या चरम चेतना के अवतरण की प्रतीक्षा मे विचारक को भरमाती है। यह अध्यात्म दर्शन शोषक के हित में पड़ता है। तथाकथित दार्शनिक और भोलेभाले लोग जाने-अनजाने स्वयं तो इसका शिकार बनते ही हैं, जुझारू जनता को भी बरगलाने का षड्यंत्र करते हैं।

आश्चर्य है, जिन पन्त ने 'संस्कृति रे परिहास, सुधा से यदि जन कवलित' लिखा था, वही अध्यात्म के चक्कर में पड़कर धरती की समस्याओं का समाधान चरम चेतना के अवतार मे खोजने लगे। हो सकता है वैसी सूक्ष्म संवेदना, वैसा तीक्ष्ण पर्यवेक्षण, अध्यात्मलोक में विहार करने वाली वैसी 'सुपरमैंटलिटी' धरती के दुःख दर्द से जुड़े हुए नागार्जुन मे न हो, लेकिन कबीर के फक्कड़ाना अन्दाज में पोथी पढ़-पढ़ कर मर जाने वालों की दुनिया में वह मसिकागद न छूने वाला होने में ही अपना कल्याण समझता है और इस पर गर्व भी करता है क्योंकि अधिक अध्ययन-मनन-चिन्तन यथार्थ से विमुख कर देता है—

"कहते है गूंजती है केवल
आत्मा की ही बाँसुरी पर
ईमानदारी अन्तरतर की
पकड़ नही पाते उसे हम अभागो के कान
पहले उदर पूर्ति तो हो ले
... ...

नमस्कार है दूर से ही उसको
हम तो ठहरे भई मामूली आदमी
कुन्दजहन, तंग नजर, मरने मारने पर आमादा।"

(हजार-हजार बांहों वाली, पृ० 21-22)

जिस व्यक्ति को जीवन के लिए रोजी रोटी का संघर्ष ही सब कुछ है और केवल अपनी ही रोजी रोटी का संघर्ष नहीं, अपितु भारत की अधिसंख्य जनता इसी के फेर में पड़ी हुई है, अनेक प्रकार की परतन्त्रताओ की बेड़ी मे जकड़ी हुई है, इस सबकी उपेक्षा करके किसी अतीत या सुदूर भविष्य की असम्भव कल्पना में खो जाना नागार्जुन के लिए अक्षम्य बुद्धि विलास है। अत्यन्त तीक्ष्ण घृणा से उबलते हुए वे लिखते हैं—

"विष्ठा से भी कई गुना अधिक दुर्गन्धमय
तुम्हारे कलाकार का नारकीय टेबुल टाक !!
—...
अन्तर तर के प्रति सर्वथा ईमानदार
बड़ी-बड़ी तनख्वाह, प्रचुरतम रायल्टी
एकमात्र शाश्वत सत्य के प्रति लायल्टी

(वही, पृ० 22-23)

ऐसे ही सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य के नाम पर किसी से भी अप्रतिबद्ध होकर मात्र अपने मनोजगत मे बुद्धि विलास करने वाले, काव्यान्दोलन के नेता बनने को व्याकुल कवि (अज्ञेय ?) पर व्यंग्य किया गया है—

"तैयार हों कुछ और पुत्र दत्तक
पूरा हो तीसरा-चौथा सप्तक
—...
बाँझ गाय शायद सींग नहीं मारती !
खाती है कुलपति का दिया भूसा
उधर है न्यूयार्क, इधर फारमूसा
बीच में लटक रहा फ्रीडम ऑफ कलचर
भूल गया नीली झील बेचारा जलचर।"

(वही, पृ० 65)

अपनी धरती और धरती पुत्रों के दुःख दर्द से अछूते रहकर संस्कृति और सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य की हवाई बातें करना भी उतना ही घातक है जितना विदेशी संस्कृति का दास बनना। इसके अलावा सरकारी सुख सुविधा का भोग करने वाले क्रांतिकारी कवियों पर भी व्यंग्य किया गया है। लक्ष्य हैं 'दिनकर' सम्भवतः—

"बिजली के कठघोड़े पर मचलेगा बचपन
डायरियों में दिल की बातें लिखते रहना

पास मिलेगा अब पहले दर्जे का तुमको
पार्लमेंट मे रहो सूंघते नील-कुसुम को
... ...
ओ बिहार के गोर्की, ओ कवि कमल दिवाकर।"

(वही, पृ० 72-74)

जन जन की भीषण समस्याओं से कटकर उर्वशी के कामाध्यात्म के लोक में जीवन की मूलभूत समस्याओं का समाधान खोजने वाले लोक-विमुख कवि पर तीक्ष्ण व्यंग्य है यह। भावोद्वेलन, भावोद्बोधन करना जिस कवि का धर्म होना चाहिए वह गोलमटोल बातें करता है, किसी भी समस्या पर दो टूक निर्णय नही देता। इस चालाकी पर भी व्यंग्य किया गया है—

"कलाकार को लग गया प्रवचन का चस्का
... ...
अनेकांत दर्शन ला रहा है रंग
. ...
बीचोबीच खडा है यह अपटूडेट बावा मलूक दास!!
समष्टि से निरपेक्ष, युग से उदास।" (वही, पृ० 90)

केवल रचनाकार ही नहीं, विचारक और संत नये पुराने, सभी बड़ी चालाकी से व्यवस्था के विरुद्ध मुंह बन्द रखते है नए नए मुखौटे लगाकर। ऐसे सुविधाजीवी नहीं, अपितु सुविधा प्राण घोर स्वार्थी लोगों की मक्कारी का भी पर्दाफाश नागार्जुन ने किया है। दो अक्टूबर और तीस जनवरी को बापू की समाधि पर फूलमाला चढ़ाकर और तकली कातकर ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझने वाले राष्ट्रनेताओं एवं उनके गुणगायक बुद्धिजीवियों पर ग्लानि की यह अभिव्यक्ति कवि की ईमानदारी, अपने को भी क्षमा न करने की प्रवृत्ति की द्योतक है—

"बुद्धिजीवियो की हमारी अपनी बिरादरी भी
शत-प्रतिशत लिप्त है
सुविधाएं बटोरते जाने की द्यूत-क्रीडा में
... ...
हम भी साझीदार थे
राजघाट वाली उस बेहयाई मे!
अभी तो उतर गया
प्रजातन्त्र का रथ
पटरी से।" (वही, पृ० 180)

ऐसे ही गूंगे बहरे बुद्धिजीवियों पर व्यंगात्मक आत्मकथन है—
सत्य रहेगा अन्दर, ऊपर से सोने का ढक्कन होगा

चांदी की तकली होगी तो मुंह मे असली मक्खन होगा
करनी में गड़बड़ियाँ होंगी, कथनी में अनुशासन होगा
... ...
राजनीति के बारे में अब एक शब्द भी नही कहूंगा
तकली मेरे साथ रहेगी, मै तकली के साथ रहूंगा।"

(खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृ० 73)

दिन दहाड़े बड़े से बड़ा अनाचार देखकर भी जो तकली कातने मे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते है, ऐसे आत्मसेवी, शान्तिप्रिय, अहिंसावादी विचारकों के गूंगे बहरे बन जाने से शासन को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है—

"राशि राशि किसलय गुच्छित
कुसुमास्तीर्ण प्लास्टिक शर-शैया पर
लेटे रहे युगावतार पितामह भीष्म
... ...
करें निस्संकोच विदुर बुजुर्ग, तरुण कंधों की सवारी।" (वही, पृ० 21)

आधुनिक भीष्मपितामह और विदुर गूंगे बहरे बनकर फूल शैया और तरुण पीढ़ी के कन्धों पर जमे हुए हैं और बड़े से बड़ा अन्याय देखकर गूंगे अन्धे हो जाने वाले त्रेतायुगीन वशिष्ठ आज भी वैसा ही कर रहे है—

"करके निर्वासित सुदीर्घ अवधि के लिए
दशरथ ने चुकाई कीमत वचन-पूर्ति की
रानी हुई तुष्ट ! मंथरा को मिले पारितोषिक
निष्ठुर नियति के उस खेल मे
महागुरु वशिष्ठ ने आखिर कौन सी भूमिका निभाई।" (वही, पृ० 56)

राजा की मनमानी, फिर रानी की हठ, दोनों को अनासक्त भाव से देखने वाले चतुर या दुर्बल वशिष्ठ की सी भूमिका में देश का बड़े से बड़ा विचारक आ गया था इन्दिराजी के निरंकुश शासनकाल में। ऐसे नए युग के विदुरों, दुर्वासा एवं सप्तऋषियों की शासन मुखापेक्षिता एवं ऐश्वर्यभोगी व्यक्तित्व पर प्रहार करते हुए नागार्जुन ने लिखा है—

"बडी बडी तनख्वाहें पाने वाले विदुरों की मत पूछो
मुद्रित मुख नत नयन कुर्सियों पर बैठे हैं
अपना ली है सन्ध्या भाषा
भूमिदान करवाने की, लो, सनक सवार हुई है शिर पर
लोमश मुनि के

दुर्वासा उपकुलपति बनने की फिराक में;
घात लगाए घूम रहे हैं
क्यों न गवर्नर इन्हे बना लेते हो दादा !
आज नही तो कल सातों ऋषि वेतनभोगी भृत्य बनेंगे याकि पेंशनर ।"

(तालाब की मछलिया, पृ० 165)

सत्य बोलने की कीमत चुकाने के लिए कोई विचारक तैयार नही है इसी-लिए जीहुजूरियो का हुजूम बढता जाता है।

जन जन के प्रति अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करके भी अपने बुद्धिव्यवसाय से अपने को उचित ठहराने वाले प्रवचक, मार्गभ्रष्ट, आत्मसेवी और अपने को विशिष्ट होने का भ्रम पालने वालों को नागार्जुन दिशा निर्देश करते है—

"अजी आओ
इतर साधारण जनो से अलहदा होकर रहो मत;
कलाकार या रचयिता होना नहीं पर्याप्त है
पक्षधर की भूमिका धारण करो ...
विजयिनी जनवाहिनी का पक्षधर होना पड़ेगा ...
अगर तुम निर्माण करना चाहते हो।
शीर्ण सस्कृति को अगर सप्राण करना चाहते हो।" (युगधारा, पृ० 74)

इस प्रकार की पक्षधरता या प्रतिबद्धता स्वीकार कर लेने पर सर्वव्यापी भ्रष्टाचार पर प्रहार करना कवि का धर्म हो जाता है। भ्रष्टाचारी यदि ऊपर से भी भ्रष्टाचारी लगे तो उसे पहचानकर आघात करने मे कोई समस्या नहीं होती लेकिन वह ऊपर से साधु-संन्यासी, त्यागी वैरागी, रक्षक, शासक नायक बना हुआ है, तब उसे पहचानकर उसमे छिपी हुई दुष्टता को उघाड़ना आसान काम नही है। नागार्जुन ने ऐसा ही जटिल कार्य किया है। सर्वोदय की आड़ में असामाजिक तत्व भूमिहीनों को दी गई भूमि को बलात् हड़प लेते हैं—

"सर्वोदय का धुआँ उड़ाकर चानी काटै दैत।
भूमिहरण करती बिहार मे रावण की औलाद।" (युगधारा, पृ० 51)

जितनी कथनी और करनी में जमीन आसमान का अन्तर है, ऐसे नेता शासकों की पोल खूब खोली है—

"हीरा मोती मणि माणिक का भस्म तुम्हारी शक्ति बढ़ाता
... ...
हमे सीख दो शान्ति और संयत जीवन की
अपने खातिर करो जुगाड़ अपरिमित धन की
राजघाट पर बापू की वेदी के आगे अश्रु बहाओ,
तैरो घी के चहबच्चों मे अमरित की हौदी मे बाबू खूब नहाओ।"

(वही, पृ० 92-93)

ऐसे शासकों से साँठ-गाँठ करके सारा धन लूटने वाला है धनिक वर्ग जिसका वास्तविक चरित्र प्रस्तुत पंक्तियों मे उघाड़ा गया है—

"निम्न वर्ग की आँत कपच कर
नसें दूहकर मिडिल क्लास की
छोटे बड़े मगरमच्छों को अभयदान दो
धन्वन्तरियों के उन अगणित अमृत घटों पर
देखो कोई नजर न डाले।"

(वही, पृष्ठ 100)

ऐसे ही लोगों के लिए कवि ने लिखा है—
"बताऊँ कैसे लगते है दरिद्र देश के धनिक
कोढ़ी कुढब तन पर मणिमय आभूषण।"

(हजार-हजार बाँहों वाली, पृष्ठ 54)

नागार्जुन का आक्रोश केवल देसी दु:शासको तक ही सीमित नहीं है, अपितु विदेशी अमेरिकी साम्राज्य लिप्सु पूंजीवादी शासकों पर भी वे प्रहार करते है, जो विकासशील देशो के प्रगतिशील कार्यक्रम को ध्वस्त करने का षड्यन्त्र करते रहते हैं, जो आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व जमाने और जमाये रखने का षड्यंत्र करते रहते है। वियतनाम मे जो नर संहार लिबर्टी पूजक अमेरिकी साम्राज्यवादियो ने किया, उस पर तीक्ष्ण प्रहार कवि ने 'देवि लिबर्टी' कविता मे किया है।

शोषक कहीं का भी हो, निन्दनीय है, मुक्ति दाता कहीं का हो, वन्दनीय है। यह है देश जाति धर्म से ऊपर उठी हुई नैतिक साहसिकता। दशकों तक चलने वाले वियतनामी जनता के स्वाधीनता संग्राम ने अमरीका के सारे शांति प्रतीकों और शांतिवादियों के मुख पर कालिमा पोत दी। कवि ऐसे लोगों को प्रताड़ित करता हुआ उनके सुप्त नैतिक बोध को जगाने का प्रयास भी करता है इस तीक्ष्ण आक्रोश के माध्यम से।' 'देवी लिबर्टी को लानत है सौ बार' (हजार हजार बाँहों वाली, पृष्ठ 154) तथा—

"पिछली रात सपने में देखा तुमने
लिंकन का दिव्य प्रेत लिपटा पड़ा है
देवी लिबर्टी की प्रतिमा से...
रेवरेंड मार्टिन लूथर किंग लेकिन
भारी भरकम यक्ष सा
जम गया है जानसन के कंधों पर
आह वह कभी नहीं उतरेगा!
रहेगा सवार प्रेसीडेंट की गर्दन पर।"

(वही, पृष्ठ 155)

नर मेघ करने वाले साम्राज्यवादियों की तथाकथित शांति की चालों से सचेत करते हुए देश के नेताओं से कवि कहता है—

"पेटी मे पिस्तौल सम्हाले, अमन चैन के बोल अधर पर
अब भी बाइबिल बाँट रहे हैं, गोरी चमड़ी वाले बर्बर
... ...
कोरिया को वीरान बनाने वाले
राजघाट में बापूजी की शिव-समाधि पर
मनो मनोरम फूल चढाते ही रहते हैं
हमें शांति की सीख दे रहे चील गीध के चचे भतीजे
हमें शील का पाठ पढ़ाते
टाइ कालर सूट बूट से लैस अद्यतन बाघ भेड़िये ?
... ...
सावधान ओ पंडित नेहरू !
पैर तुम्हारे धंसे जा रहे डालर की दलदल में प्रतिपल
नग्न हो रही वह तटस्थता।" (तालाब की मछलियाँ, पृ० 163)

स्वाधीनता सग्राम के कष्टों का चैक कैश करने वाले राजनेताओं को प्रताड़ित करते हुए लिखा है—

"छोड़कर संघर्ष का पथ
भूलकर अन्तिम विजय की घोषणाएं
भोंक कर लम्बा छुरा तुम सर्वहाराजन गणों की पीठ में।"
(हजार-हजार बाहों वाली, पृ० 44)

पीठ में छुरा भोंककर घूमने वाले ये गुण्डे लफंगे खद्दर पहनकर रातोंरात नेता या नेताओं के खास आदमी हो गये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के एक वर्ष बाद ही कवि की सूक्ष्म दृष्टि ने पकड़ लिया था—

"अन्दर अन्दर विकट कसाई बाहर खद्दरधारी है।" (वही, पृष्ठ 46)

इन नकली देशभक्तों के असली चरित्र से परिचित हो जाने पर इनके स्वर में स्वर मिलाकर 'भारतमाता की जय' बोलना कवि को स्वीकार नही है। फिर तो वह इनकी विदेशी पूंजीपतियों से सांठगांठ को उघाड़ते हुए इनके कारनामों को उधेड़ता है और इनके नारों के खोखलेपन को उजागर करता है—

झूठमूठ सुजला-सुफला के गीत न हम अब गायेंगे
... ...
पहचाना अब चोर-चोर सब ये मौसेरे भाई हैं !
... ...
अंग्रेजी अमरीकी जोंकें देशी जोंके एक हुईं
कागज की आजादी बिकती, ले लो दो दो आने मे
... ...
देशभक्ति की सनद मिल रही आए दिन शैतानों को।' (वही, पृ० 48)

तीस पैंतीस साल बाद जो नकली स्वतन्त्रता सेनानी प्रमाणपत्र का घोटाला पकड़ा गया, उसकी ओर नागर्जुन ने '48 मे ही संकेत किया था। भोली-भाली जनता को भारतमाता की जय के नारो मे भुलाकर रातोंरात शोषक पूंजीपति जमीदार, जिन्हें रायबहादुर की उपाधि अंग्रेजो ने दी थी, उन्हीं को इस सरकार ने पद्मविभूषण से विभूषित किया और ऐसे ही लोग भारत भाग्यविधाता या उनके आश्रयदाता बने तो कवि का उनकी दान शीलता पर व्यंग्य करना धर्म बन गया—

"अकालग्रस्त क्षेत्र के सेठों ने दी है थैली
एक लाख ग्यारह हजार एक सौ एक की
चांदी की थाल मे पड़ा है चैक जयहिंद बैक का।" (वही, पृ० 55)

और इस दान को बटोरने के लिए दीन-हीन का रक्त शोषण और राष्ट्र को ही डकार जाने वाले नेताओ पर यह तीखा प्रहार —

"खद्दरधारी घड़ियालों की पल्टन तिरंगा चबा गयी।" (वही, पृ० 63)

जो अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये युवकों और आन्दोलनकारियों पर लाठी गोली चलवा देते हैं—

"दस हजार दस लाख मरें पर, झण्डा ऊंचा रहे हमारा !
कुछ हो कांग्रेसी शासन का डण्डा ऊंचा रहे हमारा !
सत्य अहिंसा की लाशो पर नादिरशाही तख्त जमाये।"
(वही, पृ० 82)

असुविधा, दुःख कष्टों के भय से जो सत्य का समर्थन नही कर पाते, ऐसे गूंगे अन्धे बहरे रचनाकारों और विचारकों का जीना, न जीना एक सा है। यह खतरनाक कर्त्तव्यबोध ही है जो नागार्जुन को सत्ताधारी वर्ग का विरोध करने को प्रेरित करता है यहां तक कि जान का खतरा उठाकर भी। यह कवि की जुझारू मनोवृत्ति ही है जो उसे यह कहने के लिए विवश करती है—

"जीभ कटी है भारतमाता मचा न पाती शोर
... ...
किसके बल पर कूद रहे है सत्ताधारी प्रेत
... ...
जय गांधी की, धनकुबेर का नाना हुआ निहाल
लाभ लोभ में लिप्त पड़े हैं नैतिकता के वृत
... ...
जाने क्या क्या बिकवाता है सेठों का अनुराग।" (वही, पृ० 120)

सेठों के काले धन पर चुनाव जीतने वाले राष्ट्र के 'नायकों' से और क्या आशा की जा सकती है ? सामंती जमींदारी प्रथा के बाद विकसित यह नेताशाही

उनसे भी अधिक मक्कार बेशर्म और धूर्त सिद्ध हुई—

"जमींदार थे सौ उनके बच्चे है बीस हजार
जयति विनोदानन्द मुख्यमन्त्री, युग के अवतार !
नब्बे प्रतिशत जनता की खातिर है मौखिक प्यार
धनपतियों के हित मे बजते होगे दिल के तार
...   .
उजली टोपी ऊपर है नीचे है काला बाजार।"

(वही, पृ० 124)

नाम लेकर प्रहार करना सत्यनिष्ठा की निर्भीकता की चरमसीमा है जिसे व्यक्तिगत शत्रुता नहीं कहा जा सकता क्योंकि पूरे वर्ग पर प्रहार करना बड़ा सुरक्षित है। काला बाजार ने कितनी सफेद टोपी ओढ़ी हैं, भ्रष्ट से भ्रष्ट घृणित जीवन जीने वाले नेताओं पर कैसा तीखा व्यंग्य है—

'गाँधी टोपी की किश्ती में कलियुग हुआ सवार।'

दक्षिणपंथी पूंजीवादी मनोवृत्ति के संरक्षक भूतपूर्व वित्तमन्त्री मोरारजी देसाई की 'वंदना' देखिए—

"गिरवी कौन रखेगा हमको, सात समन्दर पार जी !
निशिदिन श्रीमंतों के सुखों की करते हो रखवाली।"

(वही, पृ० 127)

भारत के भाग्यविधाताओं की करतूतों का यह उद्‌घाटन केवल विरोधियो का प्रचार नही है। उस अग्निपथ पर चलना जैसा है जिसपर चलने की बड़े से बड़ा विचारक सोच भी नही सकता। गांधी के आदर्शों की दुहाई देने वाली कांग्रेस सरकार का यह है असली रूप—

"काहे की कांग्रेस, काहे की कांग्रेसी सरकार जी
गुण्डों की जमात है ठगी का व्यापार जी।"

(वही, पृ० 150)

हाईकमान में कैसे कैसे लोग हैं—

"चापलूस स्वार्थी गुटबाजों का...
हाय रे ! ओ आला कमान !
हाय रे ! ओ भारत भाग्यविधाता।"   (वही, पृ० 161)

और इस प्रवृत्ति से बड़े से बड़ा नेता भी मुक्त नही है। वायुयान दुर्घटना स्थल पर इन्दिराजी के पहुंचने पर कवि ने लिखा है—

"अनोखा है अपना यह देश ..
क्या नही संभव है यहां !

मलवे के ढेर में खोजने गई थी माना
चाबियो का गुच्छा !
जनता आखिर क्यो न मजा ले इन नौटकियों में ।" (वही, पृ० 187)

महात्मा गाँधी और नेहरू की तरह सजय की भस्मी को देशभर की नदियों और सागर में प्रवाहित करने की महत्वाकाक्षा पर यह तीखा प्रहार भावुकता के प्रवाह में भी, कर्त्तव्यबोध के जागरूक रहने का प्रमाण है—

"अनन्तकाल तक रहेगा विद्यमान
यु० हृ० स०, सं० प्र० मं०,
उसके अस्थि अवशेष पहुंचेंगे यथासमय
भूमडल के सभी समुद्रों मे
मिल जायेंगे सजीव-निर्जीव जीवाश्मों के अन्दर
अगले युगों मे मादा ह्वेल मछलिया
करेगी गर्भधारण तो उनके अन्दर
इन अवशेषो के तत्त्व होगे ही होंगे।" (वही, पृ० 185)

क्योंकि इस राष्ट्रीय आयोजन का मूल संजय को सर चढ़ाना और चढ़वाना था।

चारों ओर फैली तानाशाही की दुर्गंध मे रहकर कोई कैसे शान्त, संयमित, शिष्ट या मधुर बोल सकता है ? सडाध की प्रतिक्रिया मे उसे गुस्से मे चीखना चिल्लाना पड़ेगा ही। अन्याय, अभाव, अत्याचार को ध्वस्त करने के लिए प्रलयंकारी रूप धारण करना पड़ेगा ही युग के रुद्र कवि को। भीषण सत्य को अनदेखा करके शान्ति सद्भाव के गीत गाना आत्मप्रवंचना तो है ही, कर्त्तव्य से पलायन भी है। नागार्जुन ने पलायन नही किया, उनकी कविताएं इसका प्रमाण हैं।

यदि इन्दिराजी के सत्तामदान्ध स्वरूप पर नागार्जुन ने तीक्ष्ण प्रहार किया है तो जनता पार्टी के खिचड़ी विप्लव और भानुमती के कुनबे की सरकार और उसके सूत्रधार जे० पी० को भी क्षमा नही किया है। त्रुटियों के लिए इन पर भी उतने ही मुक्तकण्ठ से वचनबाण छोड़े हैं। विरोधी मान्यता वाले दलों की सत्ता प्राप्ति के लिए की गई सांठगांठ पर अभूतपूर्व कटुता से व्यंग्य किया है जो शालीनता की सीमा से बाहर भी चला गया है—

"आपस में वे एक प्राण, एक दिल हो गए हैं
ओफ्फोह जाने कैसे वे आज
एक दूसरे का गुह्य अंग सूंघ रहे हैं
ओफ्फोह ! जाने कैसे वे आज
परितृप्ति की गहरी सांस ले रहे हैं।" (खिचड़ी विप्लव, पृ० 111)

जे० पी० पर यह तीखा व्यंग्य नागार्जुन की निष्पक्षता को व्यक्त करता है—

"हल्ला है शोर है, हुआं हुआं है
... .
भ्रांति का धुआं है इस ओर
कदम कुआँ है उस ओर।"

(वही, पृ० 113)

क्योंकि नागार्जुन ने इस क्रान्ति या भ्रान्ति विलास की बखिया उधेड़कर इसके छद्म से सचेत किया था, उसी कर्त्तव्यबोध से प्रेरित होकर जिससे वे इन्दिराजी के शासन और इमर्जेन्सी पर प्रहार कर रहे थे।

सर्वोदयी, साम्प्रदायिक, जात पांत पर टिके हुए, दिवा स्वप्न में डूबे हुए, लच्छेदार भाषा मे भाषण झाडने वाले, बन्दूक की नली से क्रान्ति निकालने के विश्वासी, बूढ़े थके हुए, समय से पिछड़े, गये बीते लोगों के जमघट में यही होना था जो हुआ, जिसकी पूरी आशंका नागार्जुन को थी और समय ने इसे सही प्रमाणित भी कर दिया। तो केवल ऐसी युगबोध सम्पन्न दृष्टि ही नही, भविष्य दृष्टि भी है नागार्जुन के पास। इसके लिए अब किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह गई है।

नागार्जुन के काव्य में सौंदर्य-बोध

—शैलेन्द्र चौहान

नागार्जुन संस्कृत की क्लासिकी धारा से प्रभावित रहे हैं। अतः अपनी समग्रता में उन्होंने प्रगतिशीलता के साथ-साथ सौदर्य-पक्ष को भी अनदेखा नहीं किया है। नागार्जुन एक ऐसे रचनाकार है जिनकी पूरी जिन्दगी यथार्थ को पकड़ने, समीप से परखने और कविता-कहानियों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करने में संपूर्ण निष्ठा से लगी रही। इसीलिये कभी वह बौद्ध भिक्षु हुए, कभी कम्युनिस्ट तो कभी अराजकता ने भी उनके मन मे सिर उठाया। कहने का मतलब, किसी बंधे बंधाए ढांचे और उससे निस्सृत निष्कर्षों से वह नहीं पहचाने गये। उनका साहित्य किसी निर्धारित दिशा-दृष्टि से परिचालित नहीं रहा। वह जनता के कवि रहे। लोकमन और लोक संवेदना की तरफ उनका अनोखा आकर्षण रहा और उन्होंने लोक-मंच पर अनोखी लोकप्रियता भी प्राप्त की। उनका कवित्व जन से जुड़ा हुआ प्रगतिशील चेतना का वाहक तो रहा ही पर रागात्मक संवेदना की कमी भी उसमे नहीं रही। इसीलिये डा० रमेश कुंतल मेघ ने नागार्जुन को एक रोमांटिक कालिदास प्रेमी, सम्भावना व्यतीत रसिक, भक्त विद्यापति, समझौता वादी तुलसीदास आदि कहा है। यद्यपि डा० मेघ का यह मूल्यांकन नागार्जुन की सृजनात्मकता और उनकी प्रगतिशीलता दोनो पर प्रश्न चिह्न लगाता है पर इसे नागार्जुन की रचना-प्रक्रिया और काव्यबोध की शास्त्रीय धारा के रूप मे स्वीकारना गैर जरूरी भी नहीं है।

मैथिली के अतिरिक्त हिन्दी मे नागार्जुन के लेखन में सौदर्यबोधी दृष्टि काफी प्रखर रही है। अतः उन पर रोमांटिसिज्म का आरोप काफी हद तक संपुष्ट होता है। 1959 मे 'सतरंगे पंखों वाली' काव्य-संग्रह में उनकी कतिपय कविताओं मे प्रकृति-चित्रण बड़ा मनोहारी है। बसंत आगमन से प्रकृति की पोर पोर में एक मादकता समा गई है—

> दूर कहीं पर अमराई में कोयल बोली
> परत लगी चढ़ने झींगुर की शहनाई पर
> वृद्ध वनस्पतियों की ठूंठी शाखाओं में
> पोर-पोर टहनी टहनी का लगा दहकने।

टूसे निकले, मुकुलों के गुच्छे गदराए
अलसी के नीले फूलों पर नभ मुस्काया।

इसी सकलन की कुछ अन्य कवितायें 'नीम की दो टहनियां', 'काली सप्तमी का चांद', 'शरद पूर्णिमा' और 'झुक आये कजरारे मेघ' उनके प्रकृति-प्रेम का अद्वितीय उदाहरण हैं। प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग नागार्जुन की विशेषता है। कम से कम मार्क्सवादी कवियों में यह श्रेय मुक्तिबोध के बाद नागार्जुन को ही जाता है। एक दृश्य है। बहुत दिनों के प्रवास के बाद वह अपने गांव लौटते हैं तो प्रकृति का मनमोहक रूप देखकर भाव विभोर हो जाते हैं। पकी सुनहरी फसल, मौलसिरी के ताजे टटके फूल, लाल मखाने, रस भरे गन्ने सब कुछ उन्हें परिवर्तित होकर आकर्षित करते है।

बहुत दिनो के बाद
अब की मैने जी भर भोगे
गध रूप-रस स्पर्श साथ-साथ इस भू पर।

और तो और गांव की धूल भी चंदनवर्णी हो गई लगती है। ऐसा अद्भुत प्रकृति चित्रण नागार्जुन का अपना वैशिष्ट्य है। नागार्जुन मिथकों को काव्य में महत्व देते है। प्राचीनता से उन्हे लगाव है। 'भस्मांकुर' खण्ड काव्य मे जो प्रसंग आये है, उनमे प्रकृति का योगदान न केवल विशिष्ट है, अपितु अविस्मरणीय भी है। बसंत के वैभव के अद्वितीय चित्र इसमें कवि की रागात्मकता को परिपुष्ट आधार देते हैं—

शाखायें हो उठीं खूब छतनार
रोक न पाई आलिंगन की चाह
लतिकाओं ने पकड़ी सुख की राह
दीर्घ प्रलबित थाम लिये भुजदंड।

शिव पार्वती के भावी मिलन की सांकेतिक व्यंजना है यह। नारी संबंधों की स्नेहसिक्त अनुभूति की जितने सहज ढंग से नागार्जुन के काव्य में अभिव्यक्ति हुई है, वह भी देखने लायक है। नारी उनके लिए प्रेरणास्रोत है, अंधकार को चीरने वाली—

कर गई चाक
तिमिर का सीना
जोत की फांक
वह तुम थी।

नागार्जुन ने नारी को सिर्फ आदर्श और पूज्य संबंधों के रूप में ही स्वीकारा हो, ऐसा भी नहीं है। स्नेह की एक दूसरी धुरी भी है प्रेम की, यथा—

झुकी पीठ को मिला

किसी हथेली का स्पर्श
तन गई रीढ़
महसूस हुई कन्धों को
पीछे से किसी नाक की सहज उष्ण निराकुल सांस
कौंधी कहीं चितवन रंग गये कहीं किसी के होठ
निगाहों के जरिये जादू घुसा अन्दर।

कहा जा सकता है कि नागार्जुन के काव्य में रागात्मक संवेदनों की अभिव्यंजना प्रकृति बनकर आई है। चूंकि संस्कृत की शास्त्रीय धारा से नागार्जुन की पूरी काव्य-चेतना विकसित हुई है अतः पुरातन का प्रवर्त्तन, मिथकों का पुनः प्रस्तुतिकरण नागार्जुन की प्रकृति बन गये है। शृंगारिक अनुभूतियां यद्यपि उनके स्वरचित काव्य में गौण रूप में उभरी हैं पर नागार्जुन का मन सौंदर्यानुभूति के उस सागर से हमेशा आप्लावित रहा है जिससे सस्कृत के महाकवि कालिदास, रसिक विद्यापति, या राधा कृष्ण शृंगार संस्कारी कवि जयदेव काव्य-सृजन के लिये उत्प्रेरित होते रहे। 'मेघदूत' नागार्जुन के लिए एक प्रेरणास्रोत का कार्य करता है। वह कहते है कि मेघदूत भारतीत काव्य-जगत् मे नवीन परम्परा का आरंभ था क्योंकि कालिदास ने मेघदूत को दूत बनाकर विरही यक्ष का संदेशा ही उसकी प्रेयसी तक नहीं पहुंचाया अपितु रास्ते मे नगरों, पर्वतों और नदियो के माध्यम से या लोकोपकार और यथार्थ की भूमि पर उस क्षेत्र के जन जीवन के सजीव चित्र भी प्रस्तुत किये है। विश्व-साहित्य में 'मेघदूत' का सम्मानजनक स्थान है। कई भाषाओं मे इसके अनुवाद हो चुके है। हिन्दी मे भी इसके कई अनुवाद हुए हैं पर उन्होंने स्वयं भी इसका अनुवाद किया। इसी से ग्रंथ के लिये उनका गहन लगाव तथा कालिदास के लिये गहन श्रद्धा देखी जा सकती है। हाँ, उन्होंने यह भी कहा है कि उन्होंने जो अनुवाद देखे उनमें से कुछ उन्हें पसंद तो आए पर इन अनुवादो में कहीं ढिलाई अवश्य रह गई है। इस ढिलाई को दूर करने के लिये उन्होंने मुक्तवृत्त छद का उपयोग किया। उन्ही के अनुसार, "मैं बहुत दिनों से सोचता रहा, सोचता रहा कि किस प्रकार कालिदास की मूल भावना को ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचा दिया जाए। हिन्दी कविता का आधी शताब्दी का विकास-क्रम सामने था। निराला थे, तारसप्तकों की झंकार थी, सरदार जाफरी का शृंखलित मुक्तवृत्त था। कई कृती कलाकारों के गद्य काव्य थे। प्रयाग के नये साहित्यकारों की हमारी अपनी गोष्ठी तो खैर थी ही।"

इस सारे हिन्दी के विकास क्रम से नागार्जुन ने मुक्त छंद को 'मेघदूत' के अनुवाद के लिये सर्वथा उपयुक्त माना। वह कहते हैं, "मगर इसमे भी स्वरों की गुंजाइश रहती हैं। घनाक्षरी, मनहर जैसे वार्णिक छंदों के पाये पर मुक्त वृत्त के इस प्रभेद को मजे में खड़ा किया जा सकता है। कभी-कभी लोक कथा की तुकान्त शैली भी इसमे आकर भिड़ जाती है तो पंक्तियों की पूंछें जगमगा उठती है।

भावनाट्य के लिये यह शैली खूब ही उपयुक्त बैठती है। इसे मैं 'निर्बंध मुक्तवृत्त' कहूंगा।" और आगे लिखा है कि—

"कहना नहीं होगा कि मेघदूत का प्रस्तुत अनुवाद भी इसी शैली में किया गया है। आरभ में कुछ एक श्लोकों तक अनुवादक की चेतना पर निराला छाये रहे, बाद को उसने उनसे छुटकारा पा लिया।"

'मेघदूत' की लम्बी भूमिका मे इस ग्रंथ की लोकप्रियता के कई कारण नागार्जुन गिनाते है और रूसी अनुवादक पी० रित्तेर के द्वारा एस्थेटिक एंजॉयमेंट (सौदर्य मूलक रसोपलब्धि) के अन्तर्गत स्वयं कालिदास का कथन उद्धृत कर देते हैं। पर इसी से उन्हें संतोष नहीं होता। आगे वह कहते है कि "कहने को यों इस काव्य का नायक है यक्ष परन्तु मैं तो मेघ को ही कवि की विलक्षण कल्पना का नायक मानता हूं। विश्वविदित कुल मे उसका जन्म हुआ। उसकी अन्तरात्मा करुण एवं आर्द्र है। दान मे कोई उसकी बराबरी नही कर सकता। वह काम रूप है, चाहे जब जैसा रूप धारण कर लेता हैं। वह प्रकृति पुरुष है, असामान्य व्यक्तित्व वाला! वह ऐसी उत्तम कोटि का है कि उसके समक्ष हाथ फैलाते वक्त किसी को लज्जा या ग्लानि का अनुभव नहीं होता। सतप्त प्राणी उसी की शरण मे आकर शान्ति प्राप्त करते है। इतना प्यारा है वह, इतना भला कि उससे अनुचित प्रार्थना भी की जा सकती है। और चुपचाप मित्रो का काम कर लाता है। बिजली ठहरी मेघ की प्राणवल्लभा।"

यहां नागार्जुन के 'मेघदूत' अनुवाद का लक्ष्य भी स्पष्ट हो जाता है। लेकिन यह तो एक पक्ष है। वह कहते हैं कि [प्रेयसी-विरह की प्रत्यक्ष अनुभूति का यह विवरण कोरा कविधर्म नही बल्कि कालिदास की निजी संवेदनाओ का सहज परिपाक था। यात्रा निर्देश के प्रसंग मे भी धरती, आकाश, नदियां, पहाड़, जंगल, मैदान, खेत, खेतिहर, वृक्ष, वनस्पति, उद्भिद और घास फूस, गाव, नगर, उपनगर, बाग-बगीचा, नर-नारी, पशुपक्षी, देव देवी सभी कुछ तो आ गया है। इसके बाद यक्ष की अलका नगरी जहा सिर्फ एक ही वेदना है, मदन बेदना और उसका इलाज होता है प्रियतम प्रियतमा का परस्पर समागम। सिवाय प्यार की छेड़खानियों के, अन्य प्रकार की कोई कलह नहीं और वहां धनपतियों की नगरी में सारी की सारी आयु जवानी ही होती है।

नागार्जुन ने इसे भारतीय मन की यूटोपिया कहा है। उनका कहना है विश्व कल्याण की कामना में व्यग्र आज का हमारा मानव समुदाय, स्थायी शांति और सर्वमंगला सृष्टि के लिये अधीर आज का हमारा सचेत सुधी वर्ग क्या यही कुछ नही चाहता? यहां पर डा० मेघ का नागार्जुन को रोमांटिक कालिदास प्रेमी कहना सही लगता है। उन्होंने भूमिका मे कालिदास का मंतव्य विश्व कल्याण की भावना बताया है पर क्या विश्व कल्याण महज यूटोपिया है? और क्या मदन-कामना व्यक्ति की अतिम इच्छा होती है। सब कुछ पाने के बाद मात्र यही एक

काय भर शेष बचा रहता है ? लगता है, फ्रायड सही है । नागार्जुन की प्रगतिशीलता यहां गच्चा खा जाती है । उन्होने नाना प्रकार के तर्कों से यह प्रमाणित करने की कोशिश की है । मेघदूत यथार्थवादिता, यथार्थ आदर्श और घनात्मक रुझान को प्रस्तुत करने वाली कृति है । नागार्जुन का कहना है कि कालिदास को मानवीय हृदय की भारी पहचान थी । इसी से उनके साहित्य में हम तत्कालीन समय एवं उत्तम वर्ग के समग्र लोकमानस की ये झांकियां पाते है । स्पष्ट है, कालिदास के मन मे निम्न वर्ग की अहमियत कुछ नही थी क्योंकि वह दरबारी कवि थे पर नागार्जुन ? वह तो सर्वहारा के कवि हैं। उनकी सौंदर्य-चेतना एक पक्षीय क्यों हो जाती है ? वह समग्र भारतीय साहित्य को कालिदास की तुलना मे हेय मानते है । वह कहते हैं कि यदि एक ही व्यक्ति का नाम भारतीयता के प्रतीक के रूप मे लेने को कहा जाये तो मैं कालिदास का ही नाम लूंगा । कालिदास साहित्य के बेजोड शिल्पी थे, यह सही है पर उनकी सौदर्य चेतना एकांगी थी । यह भी उतना ही सच है । नागार्जुन की अतिशय श्रद्धा कालिदास के प्रति, कही स्वय कवि की एकांगी मनः स्थिति को उजागर करती है । अलबत्ता हिमालय को गरिमा प्रदान करने वाले भौगोलिक ज्ञान को यथा रूप दिखाने वाले प्रकृति प्रेमी शृंगारिक कवि कालिदास निश्चित रूप से महान काव्य-शिल्पी कहे जायेगे और नागार्जुन का काव्यानुवाद निश्चित ही उत्तम है क्योंकि पढ़नेमे वह आनन्द तो देता ही है। सुस्पष्ट और सरल भी है।

कालिदास के प्रति आदर, कालिदास की विद्वत्ता और उनकी संस्कृत की अभिनव सृजन परंपरा के कारण तो ठीक है पर विद्यापति के गीतों को काव्य-रसिक जनता के मध्य अलक्ष्य देखकर नागार्जुन खिन्न हो रहे थे जबकि उन्होंने कवि परिचय में लिखा है कि "यह नही कि राधाकृष्ण की लीलाओ से सम्बन्धित ये गीत कवि ने स्वांतः सुखाय लिखे थे । यह भी नही कि उन्होने वैष्णव भावना के आवेग में यह पद लिखे हों। विद्यापति वैष्णव थे या शैव थे या शाक्त थे, समालोचकों की खींचातानी सामान्य पाठको का अवश्य ही मनोरजन प्राप्त करेगी । मुझे तो विरह-शृगार वाले ये कोमल गीत तत्कालीन सामन्तवर्ग के मनोविनोद की सामग्री प्रतीत होते हैं।" नागार्जुन का विद्यापति के गीतों के प्रति आकर्षण उनकी कोमलता के कारण था। पर विद्यापति के गीत विरह-शृंगार के ही कोमल गीत होते तो कोई बात नहीं थी। कुछ गीतों में काम और उद्दीपन इस हद तक व्याप्त है कि उन्हें कामशास्त्र की संज्ञा भी दी जा सकती है । नारी के शारीरिक विकास का पूरा जैववैज्ञानिक चित्र, किशोरावस्था से लेकर युवावस्था तक का इन गीतों मे है । विद्यापति के व्यक्तित्व और चरित्र का भी इससे पता चलता है—"जीवन के अन्त में मेरे सामने निराशा ही निराशा नजर आ रही है । आधी जिंदगी मैंने सोचकर गंवा दी है । बुढ़ापा और बचपन ने न जाने कितने दिन हड़प लिये होगे । शेष आयु मैंने स्त्रियों के साथ

रंगरेलियां मनाते हुए मदमस्त जवानी के हवाले कर दी।" विद्यापति का आत्म-स्वीकार काफी सगत था। उनकी पोर-पोर मे निराशा अटी हुई थी क्योंकि उन्होंने एक अन्य पद मे कहा है, "बड़ी मुश्किल से मैंने पाप की कमाई बटोरी। घर वाले मिल-जुलकर उस धन का उपभोग कर रहे है।" विद्यापति के इन गीतों का अनुवाद करके नागार्जुन ने काम-रसिकों को तो प्रसन्न किया ही है, नियतिवाद को भी प्रश्रय दिया है।

राधाकृष्ण केलि को जयदेव के गीतों मे खोजकर 'गीत गोविंद' के माध्यम से पाठकों के सामने लाने का श्रेय भी नागार्जुन को ही है। इससे नागार्जुन का अतिशय शृंगार-प्रेम विदित होता है। रीतिकालीन साहित्य मे नागार्जुन की गहरी रुचि उनकी शृंगारिक अभिरुचि की परिचायक है। 'मेघदूत' मे कालिदास ने ठीक कहा है कि यक्षों की नगरी मे प्रियतम के मिलन के सिवा कुछ भी नहीं होता। पर हिन्दुस्तान यक्षों की भूमि नही है। यहां तो यक्षों की संख्या बहुत थोड़ी है। मेहनतकशों, गरीबों, किसानों और मध्यवर्गीय नौकरी पेशा लोगों की सख्या ज्यादा है। यहां मदन वेदना से पहले भूख की वेदना सताती है। नागार्जुन प्रगतिशील कवि हैं। उन्हे भी यह मालूम है। पर ये अनुवाद करते समय उनके मन में पटना, कलकत्ता के यक्ष और धनपति ही बसे। पता नही ये अनुवाद भारतीय जनता के लिए कब उपयोगी सिद्ध होंगे और हमारी यूटोपिया उस दिन पूरी हो सकेगी? फिलहाल इसे विश्वकल्याण की पृष्ठभूमि का निराशाजनक तथा विकृत पक्ष ही माना जायेगा और नागार्जुन की अनुभूति एकांगी। क्रान्ति और काम के बीच झूलता नागार्जुन का साहित्य सर्वहारा और प्रभुवर्ग दोनों के लिए लाभदायी है। हमारी प्रगतिशीलता की इससे बड़ी विसंगति और कुछ नही हो सकती।

नागार्जुन की प्रकृति-कविता

—छेदी साह

यद्यपि नागार्जुन की कविता प्रमुख रूप में समसामयिक समाज राजनीतिक संदर्भ की कविता है, तथापि इससे इतर सदर्भों की भी अनेक कविताएँ उनके यहां प्राप्त होती हैं। उन इतर संदर्भपरक कविताओं पर बिना विचार किये उनके काव्य के समग्र स्वरूप का समीचीन रेखांकन और मूल्यांकन नही किया जा सकता।

एक समीक्षक ने उनकी कविताओं में रोमान का बार-बार निषेध किया है किन्तु नागार्जुन के पूरे काव्य-संसार को देखने से उस निषेध का सहज ही खंडन हो जाता है।

उक्त समीक्षक के अनुसार रोमांस को केवल नारी-सौदर्य के उद्दाम आकर्षण में रेखांकित किया जाता है। किन्तु यह सत्य नही है। सच्चा रोमांस अतीत के प्रति विकल स्मरण में भी उजागर होता है। वह भाव विह्वल उद्गारों के प्रस्फुटन मे भी झांकता है और गहरे रागात्मक सबन्ध के अभाव की तिलमिला देने वाली व्यथा से भी उद्भूत होता है। रोमान ही कवि को प्रकृति की ओर खींचकर ले जाता है और रोमान ही अमूर्त्त भावों को मूर्त्तता प्रदान करने का साधन भी बनता है। निश्चय ही नागार्जुन एक समसामयिक समाज-राजनीतिक कवि हैं, किन्तु उनकी व्यष्टि चेतना बिल्कुल ही सुषुप्त नही है। इतना अवश्य है कि उनकी काव्य-विकास-प्रक्रिया में यह व्यष्टिमूला सवेदनशीलता मन्द पड़ने लगती है। यदि हम मैथिली में लिखी उनकी कविताओं को देखें तो अधिकांश में रोमान का सूत्र दीख पड़ेगा और उनकी व्यष्टि चेतना से विकसित अनेकानेक रोमान भरे सदर्भ हमें मिल जायेंगे। अत: केदारनाथ अग्रवाल का यह कहना उचित नही है कि "यह एक खास बात है कि रोमांटिक स्वभाव पाकर भी नागार्जुन रोमांटिक कविताएं नही लिखते। उनके रोमांटिक स्वभाव का परिचय तो मिल जाता है किन्तु वह यत्र-तत्र ही। इसका कारण यह है कि वह स्वाभाव से युगधर्मी भी हैं यथार्थधर्मी भी।"

नागार्जुन के समग्र काव्य का अध्ययन करते हुए उनकी कविता को संदर्भों की दृष्टि से दो बृहत्तर संदर्भो मे विभक्त किया जाता है—

(1) समसामयिक सामाजिक–राजनीतिक संदर्भ-इतर कविता।

(2) समसामयिक सामाजिक–राजनीतिक संदर्भों की कविता।

इन दोनो सदर्भों पर व्यापक और गहन रूप में विचार करने पर ही उनकी कविता का सही मूल्याकन किया जा सकता है।

इतर संदर्भों मे नागार्जुन की कविता मे व्यष्टिपरक सदर्भ, सांस्कृतिक संदर्भ, ऐतिहासिक संदर्भ, पौराणिक संदर्भ आदि की कविताएं प्राप्त होती है। नागार्जुन का कवि इन संदर्भों मे व्यष्टि-चेतना से अधिक उन्मथित हुआ है। उनकी आरम्भिक कविताओं मे इस प्रकार के संदर्भ सहजता से प्राप्त होते हैं।

व्यष्टिपरक संदर्भ की उनकी कविताओं को कई वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—

मानवीय प्रेमपरक संदर्भ,

पशुपक्षी प्रेमपरक संदर्भ,

जीव-विशेष से प्राप्त त्रास-परक सदर्भ,

प्रकृति प्रेमपरक सदर्भ,

वैयक्तिक अनुभावन के विशेष सदर्भ।

नागार्जुन की कविता मे प्रकृति-प्रेम के दो प्रकार के संदर्भ प्राप्त होते है। पहला प्रकार वह है, जहां नागार्जुन ने अपनी स्फुट कविताओं मे शुद्ध रूप में प्रकृति-प्रेम का निरूपण किया है। इसके विपरीत दूसरा प्रकार वह है, जहां कवि ने स्फुट-कविताओं अथवा कथा-काव्य की रचना करते हुए उददीपनात्मक अथवा पृष्ठभूमि निर्माण के रूप मे प्रकृति को प्रस्तुत किया है। पर इन प्रकार के प्रकृति-चित्रण मे उनकी व्यष्टि-चेतना के दर्शन होते है। निश्चय ही ऐसे संदर्भ में उनकी वैसी प्रकृतिपरक कवितायें परिगम्य नहीं है, जिनमें उन्होने प्रतीकन करते हुए उन्हें समाज-राजनीतिक चेतना की अर्थवत्ता से अनुप्राणित कर दिया है।

शुद्ध रूप में प्रकृति निरूपण के सन्दर्भ के अन्तर्गत नागार्जुन की निम्न-लिखित कविताएं आती है—

बलाका[1]

'बलाका' शुद्ध प्राकृतिक संदर्भ की व्यष्टि-चेतना मूलक कविता है। इस कविता मे कवि नील गगन मे पवन के पख पर उड़ी जा रही विमल बलाका का चित्रांकन करता है। कवि इसकी उत्प्रेक्षा यमुना के श्यामल जल में बही जा

1. हजार-हजार बाहो वाली, पृष्ठ 98

रही श्वेत सहस्र पद-पद्मो की लम्बी माला के रूप में प्रस्तुत करता है। लगता है, पावस के आगमन की सूचना पाकर प्रकृति सुन्दरी अपनी धवल पताका फहरा रही है। कवि काले बादलों को हाथी जैसा झूमता पाता है। उसे लगता है कि विरही कालिदास के मन मे मेघदूत का ध्यान आ रहा है। आषाढ़ी बून्दों को पाकर झीलों में मुक्तावलियाँ खिल उठी है। आसमान मे परियाँ ग्राम्य-बालिका का शरीर धारण कर पृथ्वी पर झूला झूलने के लिए उतर आयी हैं। कवि कहता है मैंने दूर से आयी वंशी-ध्वनि मे 'श्री राधा' का नाम सुना है। मैंने हाथ जोड़ कर 'विद्यापति' को प्रणाम किया है तथा बागमती के तट पर बैठे-बैठे नील गगन में उड़ी जा रही विमल पताका को देखा है।

इस कविता मे कालिदास और विद्यापति की स्मृति मे, बलाका की उड्डयन शीलता मे, पावस की आगम-प्रसन्नता में, प्रकृति की वैयक्तिक सवेदनशीलता ही व्यक्त है।

सफेद बादल[2]

बादल कवि नागार्जुन के चित्त के उन्मथित करते है। कवि आकाश में छाये बादल को निरखकर मुग्ध हो उठता है। उसके मानस मे, अन्तश्चेतना मे बादल और कालिदास एक रूप हो उठते है। इन सफेद बादलों को निरखकर कवि कहता है कि हिमालय के शिखरो पर बादल छाये हुए है। नीचे बर्फानी चोटी है, ऊपर नीला आकाश है और बीच मे श्वेत बादल है। कवि इन सबको देखकर आनन्द मग्न है। कवि कहता है कि ये न जाने किस विरही का संदेश लाये है? न जाने, ये किस कुबेर की कल्पित अलका जायेगे? न जाने, ये किस विरहिणी के नयन-नीर छलकायेंगे? न जाने, किसका दिल शीतल होगा, किसका दिल तापित होगा? ये बादल कालिदास का साथ छोडकर और मंदाक्रांता छन्द का बंधन तोड़कर न जाने हिमालय की गोद में कब के थके उतर आये हैं?

इस कविता के मूल मे कवि की हृदय-मग्नता, उसकी वैयक्तिक आह्लाद परकता की संवेदनशीलता विद्यमान दीखती है।

महामना मेघराज[3]

कवि ने इस कविता में बादल को 'मेघराज' और 'महामना मेघराज' के रूप में संबोधित किया है। आसमान से झुक आए बादल से वह चार-छह दिन उसी तरह झुके रहने का आग्रह करता है। वह महामना से कहता है कि तुम झुक आये हो। बस अब इसी तरह झुके ही रहना--और धीरे-धीरे निश्चिन्त होकर

---

2. वही, पृष्ठ 102
3. वही, पृष्ठ 107

बरसते रहना। हड़बड़ी क्या है? ओ मेघराज! तुम्हारी 'छाया छत' सारा दिन, सारी रात तनी रहे। कवि बादल की 'छाया छत' को विराट, अछोर, स्निग्ध, धूसर शामियाना के रूप में देखता है। इसलिए वह मेघराज से कहता है कि तुम अपनी छाया हटा नही लेना, नही तो धरती रानी को तुम्हारा यह मखौल बुरा लगेगा। सूरज और चाँद को तुम आराम करने दो। यहाँ कवि 'मेघ' को भाई कहकर संबोधित करता है। वह कहता है कि देखो भाई! तुम कहीं और मत भाग जाना। वृष्टि से जो थोड़ी बहुत तकलीफ होगी, हम उसे खुशी-खुशी झेल लेगे। पर तुम अपना खेल बन्द मत करना। निश्चय ही उस वर्षा से होने वाले कष्ट की अपेक्षा वर्षा से प्राप्त होने वाला आनन्द और आह्लाद कवि को अधिक स्वीकार्य और ग्राह्य है।

इसका हौले-हौले बरसना कवि को पसन्द है। वैयक्तिक चेतना की इस आत्मीय कविता के स्वरों मे आग्रह की प्रगाढ आत्मीयता है। मातृ-प्रकृति नये सिरे से गर्भ-धारण कर चुकी है। ऐसे मे वह बादल के झुकने की मुद्रा को रेखाकित करता हुआ अपने संबोधन से उसके 'महामानत्व' को भी अवरेखित कर उठता है।

दो पंचक[4]

नागार्जुन ने इस शीर्षक के अन्तर्गत पाँच-पाँच पक्तियो के दो चरण बादल पर लिखे हैं। पाँच पंक्तियों के इन्ही चरणों को यहाँ 'पचक' कहा गया है। पहले पंचक मे बादल के बरसने से नवशाल के धुले-पुंछे पत्ते के चमकने का बिम्ब अंकित किया गया है।

कवि कहता है कि बादल बरस रहे हैं। नवल शाल के पात चमक रहे है। लू के झोंके चले गये हैं। उसकी जलन बुझ गयी है। कल भीषण गर्मी थी, पर दीरघ दाघ निदाघ को नष्ट करने के लिए भू पर बरसात उतर पड़ी है। इस प्रकार यहाँ वह एक आनुभाषिक चित्र की सृष्टि कर उठा है।

दूसरे पंचक मे मेघ-मेदुर विनम्र आकाश का जयगान किया गया है। बादलो से भरे आकाश को यहाँ कवि ने कृषक-वधू की आँखों का उद्भास कहा है, साथ ही जनपदों की लक्ष्मी का आवास भी बताया है। कवि सजल मेघ-मेदुर की प्रशस्ति कर रहा है। कवि कृषक-वधू की आँखों के उद्भास बादल की जय मानता है। वह कहता है कि हे व्यक्ति के नेह-छोह में रहने वाले बादल! तुम्हारी जय हो। हे जनपद की लक्ष्मी के आवास बादल! तुम्हारी जय हो।

इन दोनों ही पंचको मे कवि की व्यक्तिगत चेतना के दर्शन होते है, जिनके मूल मे बादल के छाने से कवि के हृदय पर पड़ने वाले आह्लादक प्रभाव की संवेदना निहित है।

---

4. वही, पृष्ठ 106

बदलियाँ हैं[5]

'बदलियाँ है' नागार्जुन की प्रकृति-विषयक और उसमे भी बादल विषयक एक अत्यन्त मनोरम कविता है। इसमे बदलियों का मानवीकरण किया गया है तथा उन्हें मेघ-कुल की पुत्रियों के रूप मे वर्णित किया गया है। कवि ने इन बदलियों की साभिप्रायता का अनुपम चित्रण किया है। हवा इन मेघकुल की पुत्रियो को बहलाकर ले जाती है। मेघकुल की ये पुत्रियाँ बड़ी भोली हैं, पर ये बिजलियाँ भी गिराती है। इनका गन्तव्य अनिश्चित है। इनकी फौज बदनाम भी है। पवन इन पुत्रियो को अक्सर बहका लिया करता है। ये कहीं भी आकर बरस पड़ती हैं। ये किसी को भी भिगो सकती है। कवि बताता है कि ये कब किधर सैर करेंगी, कब किधर खिसक जायेगी, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। ये उन्मुक्त मन की मौज मे इधर-उधर घूमने वाली है। कवि इनसे एक दुआ मागना चाहता है तो दूसरी ओर उन्हें खूटियो पर टाग लेने की बात भी करता है। यहाँ कवि का वह अन्तर्मन अपने वैयक्तिक रूप में खुलकर स्पष्ट हो पड़ता है, जो इन बदलियों को घेर कर स्थिर रूप मे रखना चाहता है।

बेतवा किनारे[6]

दो भागों मे लिखी इस कविता में वर्षा के बाद निखरी धूप का एक चित्र उपस्थित किया गया है, जिसमे कवि के अहसास को वाणी मिली है। कवि कहता है कि बदली के बाद बेतवा नदी के किनारे धूप खिल पड़ी है। सर्दी का रूप निखर उठा है। इस धूप की उष्णता ने शिरा-शिरा मे स्पन्दन दौड़ा दिया है। अहसास के इस बिन्दु पर उस क्षण विशेष मे, जो प्रकृति की इस वेला मे सम्भव हो पाया है, वाणी बिल्कुल मौन हो गई है, प्रकृति का सब कुछ भरा-भरा है, राजा भी इस प्राकृतिक पूर्णता के सामने रंक है। यहाँ कविता का यह आनुभूतिक अभि-व्यंजन नितान्त वैयक्तिक रूप में प्रस्तुत हुआ है।

दूसरे खंड में बेतवा नदी के किनारे की सौदर्य-प्रभाव-परक आह्लादक अनुभूति का निरूपण किया गया है। कवि कहता है कि बेतवा के किनारे मन के मृदंग पर लहरों की थाप उठ रही है। गीत के संग पर गीतों में फुस-फुस हो रही है। कवि कहता है कि बेतवा नदी के किनारे पिकनिक के रंग है। बेतवा के किनारे अंग-अंग पुलकित हो रहे हैं। इन पर मालिश फिजूल है।

इस प्रकार यहाँ बेतवा के सौंदर्य ने मन और तन दोनों को प्रभावित कर रखा है। पिकनिक और गीतों ने पूरे परिवेश को ही मादक बना दिया है। मन

---

5. वही, पृष्ठ 176
6. वही, पृष्ठ 177-78

के मृदंग की मुखरता और अंग-अंग की पुलकन के बिम्ब के मूल में स्पष्ट ही यहां नागार्जुन की व्यष्टिपरक चेतना विद्यमान है।

फूले कदंब[7]

यह कविता कदंब पुष्प के पुष्पित होने का प्रीतिकर और मनोरम अनुभव प्रस्तुत करती है। यहाँ एक ओर कदम्ब फूला है, दूसरी ओर मेघबिम्ब गहराया है। बादल लगातार बरस रहा है। जाने उसमे कितनी निरन्तरता है। उसका कोष रीतना ही नहीं जानता। इधर कदम्ब है कि उसे ललचायी आँखों से स्पर्श करने को मन तरस रहा है। वृष्टि इसमे बाधक बनती है, पर नहीं, मन कहता है कि इस वृष्टि निरन्तरता मे कदम्ब का स्पर्श कर लो।

इस प्रकार पुष्पित कदम्ब को निरखकर उसकी आह्लादक स्पर्शाकांक्षा को यहाँ कवि ने वाणी प्रदान की है। वस्तुतः यह कवि या भावक के व्यक्ति-मन की उत्फुल्ल लालसा का ही अभिव्यंजन है।

घन कुरंग[8]

यह कविता भी कवि की व्यष्टि-चेतना को ही समर्थित करने वाली है। यहाँ भी सन्दर्भ प्रकृति के प्रेम-सौदर्य का ही है। यह प्रकृति में ऋतु और ऋतु में घन घटा का सन्दर्भ है। कवि कल्पना करता हुआ घन को मृगछौने के रूप में देखता है। वह उसे शिशु-हिरण कहता है।

यहाँ कवि ने बादल को मृग के रूपक मे बाँधा है। उसे बादलरूपी शिशु नभ में चौकड़ियाँ भरते दीखते हैं। बादलो के आगमन पर शिशु-हिरण आनन्द में छलांग मारने लगते हैं, चौकडियाँ भरने लगते हैं। अपने समूह मे शिशु घन-कुरंग खेलते होते है। बादलों के जल में शिशु घन-कुरंग डूब जाते है। बूँदे पडने लगती है, तो शिशु-घन कुरंग मे उल्लास की लहर दौड़ पडती है। कितनी पुरानी सुधियाँ जाग्रत हो जाती है। पुरवा ज्योंही बहती है, त्योंही शिशु घन-कुरंग शरमाना सीख जाते है। ऐसे निरूपण से स्पष्ट है कि यहाँ भावक की नितान्त वैयक्तिक प्रतीति को वाणी प्रदान करते हुए प्रकृति-सन्दर्भ को संजीवित किया गया है।

मेघ बजे[9]

यह कविता भी प्रकृति के सन्दर्भ में मेघ पर ही लिखी गई है। यहाँ मेघ का श्रोत्र बिम्ब उपस्थित किया गया है। हृदय इस सांगीतिक ध्वनि की प्रीतिकर अनुभूति करता है। मेघ-गर्जन 'धिन-धिन-धा, धमक-धमक' की सांद्रमंद्रता को

7. तुमने कहा था, पृष्ठ 86
8. वही, पृष्ठ 87
9. वही, पृष्ठ 88

लेकर उपस्थित होता है। बादल ज्योंही गरजने हैं, त्योंही बिजली भी दीप्त हो उठती है। बिजली का दीपना भी कवि को मेघ का बजना लगता है। मेढक टर्राने लगते है तो उसकी टर्राहट में भी मेघ बज उठता है। धरती का हृदय जब वर्षा से धुल जाता है, तब भी मेघ ही बजता है। कीचड यहाँ हरिचन्दन की सज्ञा प्राप्त कर लेता है। ऐसे मे भी मेघ ही बजता प्रतीत होता है। ऐसे बादलों की वाद्य धुन के सामने हर प्रकार का अभिनन्दन हलका पड़ जाता है।

यहाँ प्रकृति के मेघ खण्डो मे सागीतिक नाद को सुनना तथा उसके प्रभाव-वश होने वाले एक-एक जागतिक क्रिया व्यापार मे उसकी भाव-मुखरता को रेखाकित करना भावक की व्यष्टि-चेतना का ही मनोरम उच्छ्वास है।

धूप में खिले पात[10]

कवि नागार्जुन की प्रकृति मे एक ओर वर्षा प्रिय है तो दूसरी ओर वर्षा के बाद निकलने वाली वह धूप भी, जिसमे वृक्षो, पादपो के पत्र धुल-पुंछ कर निखर उठते हैं। इस कविता मे वर्षान्त के बाद की निकली धूप का मनोरम चित्रांकन किया गया है। इसमे अनावृत पात धुले-धुले दीखते है। पात का फीकापन मिट गया है। ये पात निखर उठे है। कवि को धूप मे यह जादू-सा प्रतीत होता है।

वह कहता है कि धूप के आकर्षण मे पत्ते खिल उठते हैं। मस्त पवन का स्पर्श पाकर ये पुलकित हो उठते है। हवा जब मस्ती में भरकर बहती है, तब ये हिल-हिल पड़ते हैं। ये जादू के सांचे में ढले लगने है। विगत ऋतु मे दाह से भी ये मुक्त हो चुके है। कहना न होगा कि यहाँ भी कवि के व्यष्टि मन का मुग्धकर प्रभाव ही रूपायित हुआ है।

फिसल रही चाँदनी[11]

'फिसल रही चाँदनी' नागार्जुन की ऐसी प्रकृतिपरक कविता है जिसमें चतुर्दिक् व्याप्त हो रही, फैल रही चाँदनी का मनोरम मानवीकृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह ऐसी चाँदनी है, जो पीपल के पत्तों से लेकर आँगन के पिछ-वाड़े में, नालियों और बोतलों के टुकड़ों पर तथा दूर उधर बुर्जी तक पर फैल रही है।

कवि ने अपने क्रिया-प्रयोगों द्वारा चाँदनी की विशेषताओं को उजागर किया है। जमने, घुलने, पिघलने, चमकने, मचलने, उछलने, नाचने और कूदने की क्रियायें यहाँ चाँदनी को स्वरूपित कर रही हैं।

उपर्युक्त सारी क्रियाओं के मूल में कवि की निजी दृष्टि को बड़ी सरलता से

10. वही, पृष्ठ 89
11. खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृष्ठ 78

देखा जा सकता है, जिसके मूल मे नागार्जुन की व्यष्टि-चेतना क्रियाशील है।

ध्यातव्य यह है कि चाँदनी यहाँ प्रतीक नहीं बनी है, शुद्ध प्रकृति रूप में ही निरूपित हुई है। पर ऐसा नही है कि "इस कविता के प्रत्येक चित्र से, जो चाँदनी के क्रिया-व्यापार से युक्त है, चाँदनी का सौदर्य फटा पडता है। चाँदनी का ऐसा उद्दाम रूप इसके पहले हिन्दी कविता मे चित्रित नही हुआ है।"[12] पहली बात तो यह है कि यहाँ कवि द्वारा वर्णित-निरूपित सारी क्रियाये सौदर्यपरक नही है। दूसरी बात यह कि यह 1976 मे लिखी गई है और 'निराला' तथा 'मुक्तिबोध' ने अपनी कई कविताओ में चाँदनी को इससे अधिक उद्दाम रूप में प्रस्तुत किया है। 'निराला' के यहाँ तो चाँदनी की मुस्कान कहर ढाती है और 'मुक्तिबोध' के यहाँ चाँद ी शोख और बदमाश भी है।

हरे-हरे नये-नये पात[13]

'हरे-हरे नये नये पात' कविता में प्रकृति का सन्दर्भ एक ओर वसन्त की हरीतिमा का है, तो दूसरी ओर चाँदनी रात का। कवि ने पकडी के वृक्ष को यहाँ आलम्बन बनाया है। यह आलम्बन मानवीकृत रूप मे उपस्थित होता है।

कवि कहता है कि पकडी ने सारा गात ढक लिया है। हरे-हरे, नये-नये पात से पकडी आच्छादित हो उठी है। ऋतुपति ने इसकी पेट-पीठ और तने के विशाल दायरे तक को अपनी हरीतिमा से आत्मसात् कर लिया है। पकड़ी का वह सयाना पेड चुपचाप बात करता प्रतीत होता है। पकड़ी के वृक्ष के वर्णन का यह सन्दर्भ चाँदनी रात का है। कवि पूनम की फागुनी रात की हिलनी डुलती, खिलती-खुलती, उसकी पूरी गत्यात्मकता में प्रकर्ष पर उपस्थित होता है। इस रात ने पकड़ी के शरीर को चमका-दमका दिया है।

यह वर्णन कवि के उस आत्मिक अनुभव संसार से हमे परिचित कराता है, जिसमें कवि की व्यक्तिगत संवेदना निहित है।

अब के इस मौसम मे[14]

इस कविता में प्रकृति-प्रेम का आलम्बन वह कोयल है जो वसन्त ऋतु आने पर आरम्भ ऋतु में बोल नहीं पाती, कुछ दिन बीत जाने पर वह पहली बार बोलती है। तभी कवि उल्लास से भरकर अपने को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि 'अब के इस मौसम मे/कोयल आज बोली है/पहली बार।'

ऐसा लगता है कि वसन्त के आने पर कवि कोयल के बोल सुनने की प्रतीक्षा आरम्भ से ही करता रहा है पर उसे निराशा ही हाथ लगती रही। आज

---

12. नन्दकिशोर नवल : प्रकृति और हिन्दी कविता, पृष्ठ 47
13. खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृष्ठ 81
14. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि (सं० प्रभाकर माचवे) पृष्ठ 57

पहली बार जब कोयल बोली है, तब वह आह्लाद और उल्लसित सन्तोष से भर उठा है। पेड़ों और उनकी टहनियो मे कई दिनों पहले टूसे उग आए थे, टेसू सुलग उठा था, अलमी फूल गई थी और बौर भी महक उठे थे। अब तो पछिया के झपट से केलो के पात भी दरखने लगे। सूरज के तेज अकस ने कलियों को बेधना शुरू कर दिया। कलमुंही कोयल यह सारा खेल देखती रही। अब उसका जी भर गया। तब वह कूक पड़ी।

इस कविता मे कोयल के बोल सुनने की कवि की हार्दिक लालसा को और उसकी विलम्बित कूक के कारण असन्तोष को वाणी प्राप्त हुई है। कवि की व्यष्टि-चेतना यहाँ स्पष्ट है।

बसन्त की अगवानी[15]

इस कविता में नागार्जुन ने वसन्त की अगवानी के प्रतीक रूप में खिलने वाली आम्र मंजरियों के सौदर्य और उनके क्रिया-व्यापार का मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है।

कवि रंग-बिरंगी अधखिली, पूरी खिली और किस्म-किस्म की गन्धों तथा वैविध्यपूर्ण स्वादों-भरी आम्र मंजरियों के तरुण सहकार वृक्ष पर, उसकी टहनियों पर झूमने का उल्लेख करता है। वह आम्र मंजरियों की अनेकानेक विशेषताओ की बड़ी सूक्ष्मता से आनुभविक स्तर पर रेखाकित कर जाता है।

नागार्जुन इन मंजरियों का मानवीकरण करते है। प्रकृति उनके लिए आलम्बन रूप में ही उपस्थित होती है। इसलिए कवि को लगता है कि ये मंजरियाँ ऋतुओं के राजा वसन्त का चुम्बन कर रही है। कवि उन्हें 'उद्भिज जग की किन्नरियाँ' के रूप में देखता है। कोमल कच्ची डारों की मनोहारी सन्धि-भंगिमा इनको नर्तनशील बना जाती है।

इस कविता में आम्र-मंजरियों के प्रति कवि की व्यष्टि-चेतना का मनोरम अभिव्यंजन दृष्टिगत होता है।

बादल को घिरते देखा है[16]

नागार्जुन की इस प्रसिद्ध कविता मे पर्वतीय प्रकृति पूरी तरह रूपायित हुई है। यहाँ बादल हैं, झील है, तालाब है, तलहटी है, चकवा-चकई हैं, हंस हैं, हरिण हैं और हैं वे किन्नरियाँ, जो अपनी मृदुल अंगुलियों से वंशीवादन कर रही हैं, पर इस सारे चित्रण के बीच कवि पर बादल का ही सघन प्रभाव स्पष्ट होता है। कवि ने बादल के घिरने का मोहक वर्णन किया है। उसने पर्वत के शुभ्र शिखर पर

15. खिचड़ी विप्लव देखा हमने, पृष्ठ 76
16. युगधारा, पृष्ठ 67

बादल को घिरते हुए देखा है। कवि के लिये यह दृश्य नितान्त सहज नहीं है। कवि समतल प्रदेश का रहने वाला है। अतः ऐसे दृश्य का चाक्षुष बिम्ब ग्रहण करने के साथ ही वह 'देखा है' क्रिया का व्यवहार कर उठता है, जिससे उसके इस मेघ-दर्शन की वास्तविकता पूरी तरह स्थायी हो जाए। दूसरी ओर इस 'देखा है' में आह्लाद के साथ-साथ सुखद आश्चर्य का भाव भी निहित है।

पर्वतीय प्रदेश में बादल छोटी-छोटी बूंदों मे बरसता है। कवि कल्पना करता है कि ये शीतल तुहिन कण मोती जैसे हैं। कवि इन्हें मानसरोवर मे खिले हुए सुनहले कमलों पर गिरते देखता है। बादल के साथ ही कवि को तुंग शिखर की झीलें दिखती हैं, जहाँ समतल देशों से उड-उड कर आने वाले हस मृणाल-तन्तु खोजते हुए तैरते हैं। कवि इस परिवेश मे उन चक्रवाक और चक्रवाकी को भी देखता है, जो विरह निशा के बाद अभी-अभी मिले है और तालाब मे सेंवार की बिछी चादर पर प्रणय-क्रीड़ा कर रहे हैं। कवि पर्वत की बर्फीली तलहटी में सौ हजार फुट की ऊँचाई पर अपनी ही नाभि के परिमल-वास से उन्मत्त तरुण-मृग को अपने पर चिढते देखता है। वह इस तुंग-शिखर पर कुबेर और उसकी अलका और व्योम-प्रवाही गंगाजल को भी खोजता है। वह उस मेघदूत को खोजता है, जिसे कालिदास ने संदेश पहुंचाने का दायित्व दिया था, पर उसे इनमे से कोई भी नही मिल पाता है और उसे कालातिक्रमण का पहलू नही मानकर कवि कल्पित जानकर इसे छोड़ने की बात करता है। कैलाश की चोटी पर छाये घिरे बादलों को देखकर कवि को प्रतीत होता है कि ये 'महामेघ' झंझानील के साथ गरज-गरज कर भिड़ रहे हैं। यहाँ कवि मेघ का मानवीकरण कर देता है तथा उसे वीर भाव से अभिषिक्त रूप में उपस्थित करता है।

अन्तिम चित्र के रूप मे कवि सैकड़ों कल-निर्झर भरे देवदारु जंगल में लाल, सफेद भोजपत्रों से छायी कुटी के भीतर रंग-बिरंगे और सुगन्धित फूलों से केशराशि का विन्यास करने वाली किन्नर-किन्नरियो को वशीवादन करते हुए देखता है। इन किन्नरियों के सौन्दर्य का कवि ने मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है। ये शंख जैसे सुघड़ गलों मे इन्द्रनील की माला पहने हुए हैं। कानों मे इन्होंने कुवलय डाल रखे हैं। इनकी वेणी मे लाल कमल हैं। वे मृगछालों पर बैठी हैं। ऐसी उन्मद किन्नरियों के एक ओर वीणावादन हो रहा है और दूसरी ओर बादल घिर रहे हैं।

इस प्रकार कवि ने यहाँ जिस सम्पूर्ण प्राकृतिक परिवेश का चित्रण प्रस्तुत किया है, उसके मूल में प्रकृति के प्रति उसका अदम्य प्रेमाकर्षण विद्यमान दिखता है।

इस कविता के आनुभविक और आह्लादपरक व्यक्ति संवेदन को नहीं समझने के कारण आलोचको ने जगह-जगह पर भूलें की है और आरोपित रूप में इसमें यथार्थ के स्वर ढूंढने की गलत चेष्टा की है। डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव और डॉ० विश्वनाथ तिवारी ने लिखा है कि इस कविता मे कवि "चित्रों के यथार्था-

नुभव से दृश्य बनाता है।"[17] पर पूरी कविता यह बताती है कि कवि ने इसमें अपनी कल्पना का और रोमानी दृष्टि का भरपूर उपयोग किया है।

अंतिम चरण मे किन्नरियों के वंशीरव टेरने के चित्रण में रोमान बहुत स्पष्टरूप में मुखर हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस कविता मे कवि का तथ्यगत-चयन व्यष्टि चेतना के रोमानी संदर्भ का स्पष्ट गवाह है।

कल और आज[18]

नागार्जुन की यह कविता प्रकृति के दो रूपों को तुलनात्मक ढंग से स्पष्ट करती है। कवि ने बीते कल के ग्रीष्म से आज के पावस की तुलना की है। कल तक बादल के न घिरने के कारण हताश खेतिहर उन्हे गालियाँ देते थे, गोरैयो के झुण्ड धूल में नहाते रहते थे, धनहर खेतो की माटी पथराई हुई थी, मेढ़क धरती की कोख म ग्रीष्माकुल मे दुबके पड़े थे। आसमान का रंग बदरंग था। पर अब घटा घिर आई है। कवि पूर्व खण्ड मे बादल के नही घिरने की हताशा, निराशा और विकलता का वस्तुगत वर्णन प्रस्तुत करता है, किंतु कविता के द्वितीय खण्ड में उसका भावाभिव्यजन आत्मनिष्ठ हो उठता है। तभी उसे आज बादल का तम्बू तना दीखता है। पावस रानी पायल छमकाती दीखती है। झीगुरों की शहनाई अविराम बजती सुनाई पड़ती है। मोर नाचते-थिरकते कूक पड़ते है। दूब की फुनगियो मे प्राण का संचार हो जाता है और ग्रीष्म अपने लाव-लश्कर समेटकर चुपचाप जाने लगता है।

इस कविता के सहज प्रकृति-प्रेम के शुद्ध संदर्भ की उपेक्षा करते हुए प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा ने यथार्थवादिता और प्रगति-वादिता के व्यामोह में यह लिख दिया है कि "यह हिन्दी कविता का नया यथार्थवाद है।"[19] और "यहाँ लोक-सस्कृति की सहज आत्मीयता है।"[20] और "धरती की कोख मे दुबके पड़े मेंढक जो तुच्छ और नगण्य है, प्रकृति की समूची कार्यवाही मे वह भी कवित्वपूर्ण बन जाते है।"[21] साथ ही साथ इसे "वर्षा के उद्दीपन विभावों की रीतिवादी फौज के बदले एक सीधी-सी आये दिन की बात'[22] कहा है। पर सत्य यह है कि इस कविता में कहीं यथार्थवाद नहीं है। 'पायल', 'शहनाई' और 'मोर' रोमान के शब्द हैं तो 'तम्बू' और 'लाव-लश्कर' सामंतवादी राजसी शब्द है।

---

17. दिशान्तर : सम्पा० परमानन्द श्रीवास्तव, विश्वनाथ तिवारी, पृष्ठ 95
18. हजार-हजार बाँहो वाली, पृष्ठ 114
19. नई कविता और अस्तित्ववाद, पृष्ठ 151
20. वही, पृष्ठ 151
21. वही, पृष्ठ 151
22. वही, पृष्ठ 151

'खेतिहर' और 'धनहर खेतों की माटी' का उल्लेख कवि ने कल के संदर्भ मे तो किया है, पर आज के संदर्भ मे इनका कही कोई जिक्र नहीं हो पाया है। मेंढक और वर्षा का प्रसिद्ध सहभाव संबध है। यहाँ तुच्छ और नगण्य का बोध नहीं है। हिन्दी की असंख्य बर्षा परक कविताओं में मध्यकाल मे यह सहभाव कवित्वपूर्ण रूप में उपस्थित हुआ है। कवि ने मेढक के साथ-साथ मोर का भी उल्लेख किया है। शर्मा जी ने इसे रीतिकालीन उद्दीपन विभावों की फौज से दूसरी कोटि की कविता माना है। आश्चर्य होता है। निराला के 'बादल-राग' मे विप्लव का प्रखर स्वर मुखर हुआ है। उन्होंने तुच्छ और नगण्य का चित्रण किया है। वहाँ यथार्थवाद है पर नागार्जुन की इस कविता में वर्षागम का उल्लसित अभिसूचन और ताप की पृष्ठभूमि मे उसके आगमन का एक वर्णनात्मक भावात्मक चित्रभर है।

स्फुट कविता और कथा-काव्य में पृष्ठभूमि **निर्माण-रूप में प्रकृति-निरूपण संदर्भ** भी नागार्जुन में मिलते है।

इस संदर्भ मे स्फुट कविता मे नागार्जुन की 'बसंत की अगवानी' शीर्षक कविता प्राप्त होतीं है तथा कथा-काव्य के रूप मे 'भस्माकुर' के प्रकृति-निरूपण के कई अंश सामने आते है।

बसन्त की अगवानी[23]

स्फुट कविता में पृष्ठभूमि-निर्माण के रूप मे नागार्जुन ने प्रकृति का निरूपण 'बसन्त की अगवानी' शीर्षक अपनी दूसरी कविता में किया है। जिसमे सरस्वती संसार मे प्रचलित उस मिथ्या धारणा का खण्डन करती है कि सरस्वती और लक्ष्मी में शत्रुता है। यह परस्पर पूरक रूप मे दोनो की सत्ता का ज्ञापन करती है तथा कहती है कि बुद्धि और वैभव के कारण साथ-साथ रहने से ही जन-जीवन का यान आगे बढ पायेगा।

यहाँ सरस्वती के आविर्भाव की इस पृष्ठभूमि में बसन्त का वर्णन किया गया है। अमराई मे कोयल की कूक, झींगुरों की शहनाई, वनस्पतियों की हरीतिमा, टूसे और मुकुलों की बहार, अलसी के खिले हुए नीले फूल—सबका संसार कवि ने सजा दिया है। सहजन की तुनुक डालों पर मधु-मक्खियो का समूह और रसाल मञ्जरियों पर भ्रमरों की गुञ्जार निछावर है। बसन्त का वैभव अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और संगीत के साथ इस कविता में साकार हो गया है।[24]

इस कविता में बसन्त के प्रति कवि का भावन नितान्त नया और व्यष्टि चेतनामूलक है। कवि को ऋतु को देखने का अवकाश है। तभी वह शीत समीर, गुलाबी जाड़ा और सुनहली धूप को देख पाता है। व्यावहारिक और भौतिक

23. तालाब की मछलियाँ, पृष्ठ 115
24. केदारनाथ अग्रवाल : विवेक-विवेचन, पृष्ठ 100

समस्याओं में उलझे संसार को वह समय निकालकर उसकी अगवानी मे बाहर ले जाता है। यद्यपि यहाँ प्रकृति का वर्णनात्मक निरूपण किया गया है, पर इस वर्णनात्मकता मे प्रकृति की गत्यात्मकता की प्रभावान्विति भी मिली हुई है।

भस्मांकुर[25]

'भस्मांकुर' कवि का कथा-काव्य है। इसमें सारा कार्य-व्यापार कैलाश प्रदेश में घटित होता है। कवि ने कामदेव, शिव की मुख्य कथा की पृष्ठभूमि निर्माण के रूप में यहाँ वसन्त का चित्रण किया है। पृष्ठभूमि के निर्माण के साथ-साथ वह वसन्त—निरूपण उद्दीपक बनकर भी उपस्थित हुआ है। बड़ी बात है कि आरम्भ मे जिस वसन्त के दर्शन होते है, वह मानवीकृत और आलम्बन रूप मे सामने आता है तथा अपना परिचय स्वयं प्रस्तुत करता है—

> 'मैं धरती का यौवन, मैं शृंगार,
> ऋतुएँ करती है मेरा मनुहार।'[26]

'भस्मांकुर' मे वसन्त 'असमय' आया है। अतः यहाँ 'असमय' क्रियाविशेषण के स्पष्टोल्लेख द्वारा कवि ने असामयिक होने पर भी वासन्तिक सौंदर्य-चित्रण मे कमाल कर दिया है। कवि कहता है कि असमय में अंकुर उत्पन्न हो गया। लता-वितान असमय झूमने लगा। वृद्ध वनस्पतियों ने असमय में नवपरिधान धारण किया। कलियों के मुख असमय मे खुल गये। चारों ओर उन्मत्तता एवं मादकता का वातावरण असमय ही उपस्थित हो गया। भौंरे गुञ्जार करने लगे। कलिका-कोर कंम्पित होने लगे। शीतल-मद-सुगन्ध हवा बहने लगी। वासन्तिक पवन लहराने लगा। असमय हरियाली का पारावार छा गया। असमय कोयलों की मधुर-ध्वनि मुखर होने लगी।

इस प्रकार यहाँ असमय छाये वसन्त की एक-एक गतिविधि का कवि ने सूक्ष्म निरूपण प्रस्तुत किया है। वसन्त की इस पृष्ठभूमि का निरूपण करते हुए नागार्जुन ने 'नर-कोकिल', 'चटुल भ्रमर', 'झिल्ली', 'हरिणी' और 'शशक-युग्म' पर पड़ने वाले वसन्त के आह्लादक प्रभाव का भी चित्रण किया है।

नर-कोकिल[27]

कवि ने नर-कोकिल का आत्म-परिचय प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि मैं नर-कोकिल हूं। मेरी पंचम-तान को पीने के लिए दुनिया उत्सुक रहती है। मेरे स्वर का संधान अचूक है। मेरे पंचम-वाण लगते ही वियोगी जनों में मिलन की कामना प्रबल हो उठती है। विरहियों के प्राण मेरे वाण से दीप्त हो उठते हैं। मेरे

---

25. भस्मांकुर : राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित
26. वही, पृष्ठ 36
27. वही, पृष्ठ 36

कुहू-कुहू की मधुर-ध्वनि से लोगों का मन शीघ्र ही पिघलने लगता है और मान धुल जाता है।

इस प्रकार नर-कोकिल यहाँ अपनी वाणी को वसन्त के श्री-संसार में अत्यन्त उद्दीपक रूप मे प्रस्तुत करता है।

चटुल भ्रमर

'भस्मांकुर' मे वसन्त-चित्रण में भ्रमर के प्रति भी कवि का आकर्षण प्राप्त होता है। भ्रमरो का गुञ्जन वसन्त के आगमन की सूचना देता है। भ्रमर वसन्त की श्री मे चार चाँद लगा देता है। यह मानव-मन मे मादकता भर देता है। उसके सातों स्वरों का स्वाद गन्धर्व की याद दिलाता है।

कवि ने इस रूप में वसन्त वर्णन की एकतानता में चटुल-भ्रमर को उचित महत्त्व प्रदान किया है।

झिल्ली[29]

कवि 'भस्माकुर' मे 'झिल्ली' को भी वसन्त के शोभा-संभार के अंग रूप मे प्रस्तुत करना है। 'झिल्ली' वसन्त के सौंदर्य को आकर्षक बना देती है। उसकी अविरल झकार स्वर-सहृति को आधार देती है। यह सरसता की गहराई को विस्तार देती है। यहाँ धीर उदात्त सभी एकाकार हो जाते है। इसके स्वरों की झंकार चिन्ता को स्मृति के पार पहुचा देती है अर्थात् मनुष्य चिन्तामुक्त हो जाता है।

---

28. वही, पृष्ठ 37
29. वही, पृष्ठ 37

'नागार्जुन की काव्य-चेतना और 'भस्मांकुर' का कथ्य

—हुकुमचंद राजपाल

आधुनिक लेखकों मे नागार्जुन लेखन प्रतिबद्धता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। कविता और उपन्यास इन दोनो विधाओ मे इनका स्थान अग्रिम पंक्ति के लेखकों में परिगणित किया जाता है। लोक जीवन की गहन समझ एव सही पहचान बाबा नागार्जुन को है। कथनी एवं करनी दोनों ही रूपों मे इन्हे सही अर्थों मे जनवादी लेखक माना जा सकता है। इसीलिए सहज बोलचाल की भाषा में ये राजनीतिक व्यवस्था का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं तथा बड़े से बड़े नेता का वास्तविक चेहरा उद्घाटित करने मे यह सबसे आगे रहे हैं। इनके उपन्यास और कविताएँ समकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। प्रगतिशील कवियो में राजनीतिक समझ का इतना सटीक एवं सपाट कवि मिलना दुर्लभ है। शैली के सीधेपन एवं सहजरूप के कारण इनकी लोकप्रियता कवियों मे विशेष है। पूँजीवादी नेताओं पर तीक्ष्ण व्यंग्य-प्रहार से इनकी राजनीति के प्रति गहन समझ का परिचय मिल जाता है। वस्तुतः नागार्जुन प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा के कवि हैं। इनका रूमानी भावों से कोई सरोकार नही रहा है। हालाकि 'भस्मांकुर' नाट्य-काव्य मे इन्होने काम समस्या को वैचारिक धरातल पर प्रस्तुत किया है परन्तु इनकी अधिकाश कविताएँ व्यग्यात्मक है जो समकालीन समस्याओ को सहज रूप मे प्रस्तुत करती है।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि नागार्जुन की नजर से शायद ही कोई राजनेता बच निकला हो! नेहरू, इन्दिरा, अटल, देसाई, विनोबा तथा जय प्रकाश सभी इसकी पकड़ में आए है। हाँ, समय एवं स्थिति-बदलाव के साथ कही-कहीं कवि का दृष्टि में भी सहज रूप से परिवर्तन आया है। प्रशसा और व्यंग्य (निंदा) में अधिक अंतर दृष्टिगोचर नही होता है। इससे यह भ्रम नही होना चाहिये कि कवि की दृष्टि केवल नेताओ पर रही है। समाजवादी, जनवादी लोक कवि का विश्वास आम आदमी की ओर विशेष रहा है। श्रमिक, किसान, छात्र, अध्यापक तक को उसने

कविता में सम्बोधित किया है। मूलतः साम्राज्यवादी शक्ति के सम्मुख समाजवादी चेतना का आह्वान—यही नागार्जुन का लक्ष्य एवं काव्योपलब्धि रही है। आशा और विश्वास के साथ एक संगठन का भाव कवि मे सदैव रहा है।

सही है कि राजनीतिक समस्याओ के प्रति कवि की दृष्टि विशेष रही है, सामाजिक बदलाव उसकी काव्य-चेतना का मूलाधार है। उसकी दृष्टि मे 'वियत-नाम' सघर्ष के व्यापक प्रतीक का व्यजक है, ऐसी जनशक्ति की कर्मठता का परिचायक है जिस का लक्ष्य साम्राज्यवादी शक्तियों से जूझना है।

हिन्दी समीक्षा मे गत कुछ दशको से कविता के कथ्य और शिल्प (रूप) के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर काफी विवाद होता रहा है। कविता में प्रगतिशीलता के पक्षधर कथ्य को महत्त्व प्रदान करने की घोषणा निरन्तर करते हैं जबकि शिल्प, शैली अथवा रूपवादी कविता के बाह्य अथवा आकार की चर्चा पर बल देते हैं। अब इस प्रकार की विशिष्टता अथवा महत्त्व का प्रश्न लगभग बेमानी लगने लगा है, क्योंकि किसी भी कविता की काव्य-चेतना को 'कथ्य' तक सीमित नही किया जा सकता है। चेतना में 'वस्तु' के साथ शिल्पगत विलक्षणता का उल्लेख भी रहता है। काव्य-चेतना कवि की रचना-प्रक्रिया की समग्रता का द्योतक है इसलिए जब हम नागार्जुन की कविताओं मे प्रतिपादित चेतना का विश्लेषण करना चाहते हैं तो यहाँ उसके काव्यरूप, भाषा शब्दावली, लय, प्रवाह, अलकार, छंद इत्यादि के संकेतों के साथ नाटकीयता का सकेत भी करते चलते है। वस्तुतः यह पद्धति किसी भी कृतिकार को समझने अथवा उसके सही मूल्यांकन का आधार होनी चाहिए।

नागार्जुन का लक्ष्य आम बात आम आदमी तक पहुंचाना है। इसीलिए लोक भाषा (बोल चाल की भाषा) के साथ तुकबंदी, लय-प्रवाह तथा नाटकीय इत्यादि काव्य गुणों के प्रति वह सचेत रहा है। यहाँ हम यदि नाट्य काव्य के संदर्भ में यह बात और स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते है कि इस प्रकार की रचनाओं के सृजन के लिए कवि का नाटकीयता के प्रति जागरूक रहना अनिवार्य है। कविता और नाटक दो पृथक् साहित्यिक विधाएँ समान तत्त्वधर्मिता के कारण सम्मिलित एक नया काव्य रूप निर्मित कर लेती हैं। नागार्जुन एक कवि होने के साथ नाटकीयता से भली भाति परिचित है, लोक मानस तक अपनी बात को सम्प्रेषित करने के लिए वे नाटकीयता का आश्रय लेते हैं। इसे कथ्य से पृथक् कर विवेचित-विश्लेषित करना असम्भव न सही, जटिल समस्या अवश्य है। हमारा विश्वास है कि एक सफल नाट्यकाव्य लेखक के लिए मूल रूप में कवि होना अनिवार्य है, नाट्य के प्रति झुकाव लोक चेतना के कवि मे अपेक्षित है—इतना ही नही, प्रबध काव्यो एवं लम्बी कविताओं के सृजन के मूल मे विषय (कथ्य) व्यापकता कैन्वास-विशालता के साथ नाटकीयता की समझ लगभग अनिवार्य है।

मूलतः कवि होने पर भी नागार्जुन ने 'भस्मांकुर' सरीखे नाट्य-काव्य की रचना की है।

'भस्मांकुर' नागार्जुन की बहुचर्चित नाट्य-काव्य कृति है जिसे भूमिका लेखक एवं अन्य विद्वानो द्वारा 'खण्ड-काव्य' अथवा 'आख्यानक काव्य' नाम दिया गया है। हम हिन्दी नाट्य-काव्य परम्परा मे प्रस्तुत रचना का विशेष महत्त्व स्वीकारते है तथा इसे 'खण्ड नाट्य-काव्य' की श्रेणी मे समाविष्ट करते है। इसे परम्परित ढर्रे का खण्ड, कथा अथवा आख्यानक काव्य मानना हमारी दृष्टि मे उचित न होगा। लेखक ने परम्परित शिव-कथांश प्रसग को आधार बनाकर 'काम' के चिरन्तन पक्ष की पुष्टि करते हुए युगीन सन्दर्भों एवं समस्याओं को उद्घाटित करना चाहा है। इसलिए 'भस्मांकुर' नाट्य-काव्य में एक साथ परम्परा एव काल-सापेक्ष दृष्टि का सम्यक् निर्वाह द्रष्टव्य है जिसे नाट्य कवि की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। 'काम' की जीवन्त समस्या इस कृति का केन्द्रबिन्दु है जिसके चारो ओर प्रस्तुत रचना का कथ्य चक्कर लगाता है यही कारण है कि शिव-पार्वती प्रसंग की अपेक्षा काम, रति तथा बसन्त का सन्दर्भ अधिक उजागर हुआ है।

'भस्मांकुर' के कथ्यांश का आधार देवताओं की रक्षार्थ तपस्वी शिव और पार्वती को वैवाहिक सम्बन्ध मे आबद्ध करना रहा है। इस कार्य का दायित्व 'काम' को सौंपा जाता है। रति तथा वसन्त काम के सहयोगी कार्य करते है। प्रस्तुत रचना का आरम्भ कैलाश पर असमय वसन्त द्वारा निर्मित चारों ओर हरियाली एवं रोमाचक वातावरण से होता है ताकि शिवजी की तपस्या को भंग किया जा सके। वसन्त अपना परिचय देता हुआ कहता है—

"मै वसन्त, मैं मदन सखा सुकुमार
त्रिभुवन पर मेरा अखण्ड अधिकार
मैं मरु-उर में उद्भिज कर अवतार
नवल सृष्टि विधि को मेरा उपहार
मैं धरती का यौवन, मैं श्रृंगार
ऋतुएं करती हैं मेरा अनुहार।"

गीत शैली मे नागार्जुन ने वसन्त का अति विस्तार वैभव उद्घाटित किया है जिसे काम के अभिन्न सखा के रूप में माना गया है। वसन्त के कारण वातावरण में आकस्मिक मोहकता व्याप्त होने लगती है। यहाँ तक कि हिरण तथा खरगोश में भी इसकी मादकता के कारण रोम-रोम से प्यार छलक रहा है। एकाएक इसका प्रभाव कवि गिरिजा पर दिखलाकर कथा और पाठकों का ध्यान केन्द्रित करता है। यथा—

"हुई अचंभित गिरिजा अपने आप
समझ न पायी ऋतु-व्यतिक्रम का भेद

देखा उसने नैसर्गिक विस्फोट।"

पार्वती प्राकृतिक सौंदर्य से आश्चर्यचकित होने के साथ स्वप्न भी देखती है। इन्होंने प्रथम बार तरुण वृषभ पर सवार शम्भु को देखा है। उमाशिव के सौंदर्य (शारीरिक आभा) से स्वप्न में ही इतनी तल्लीन हो जाती है कि उन्हें शंका होने लगती है कि—

' इन आँखों से पाऊँगी क्या देख,
शकर का वह तरुण-मनोहर रूप।"

पार्वती के स्वप्न-प्रसंग को कवि ने सहज रूप मे प्रस्तुत किया है। कथा-विकास के साथ लक्ष्य-सिद्धि के संकेत भी मिल जाते है। उमा का स्वप्न में शिव से मिलन, प्रेम-प्रसंग तथा सखियों—विजया तथा जया द्वारा मृदुल व्यंग्योक्तियां कथ्य की स्वाभाविकता मे विशेष सहयोगी रहे हैं।

पुनः रचनाकार वसन्त-वर्णन करने लगता है। इतने मे काम तथा रति के पारस्परिक वार्तालाप से वसन्त के अनन्य सखाभाव का परिचय मिलता है। काम का अभिमत है—

"सहज-सखा सहयोगी रुचिर वसन्त
अन्तिम क्षण तक देगा अपना साथ
साग सवाहन सायुध मेरा मित्र,
फैलाकर बैठा है माया जाल।"

ऐसी स्थिति मे काम अपनी कार्यसिद्धि के प्रति आश्वस्त होता हुआ कहता है—

"पूरा होगा सुरपति का अभिलाष
गौरी-नंदन, शिव—औरस का पुत्र
वही करेगा तारक का संहार
सुर-समूह की चिन्ता होगी दूर,
यश के भागी, हम होंगे कृतकृत्य।"

इसके पश्चात् कवि की दृष्टि काम तथा रति पर केन्द्रित हो जाती है। रति काम से आलिंगनबद्ध भवितव्य की आशंका का संकेत करती है। उस समय रति का मृदुल शरीर काँप रहा था; मुस्कराहट विलीन थी तथा वह स्पन्दनशून्य प्रतीत हो रही थी पर वसन्त के आगमन से वह पुनः स्वस्थ हो उठती है। यथा—

"लगी छिटकने होंठो पर मुस्कान
मन ही मन हो उठी परम आश्वस्त
कहां दब गया जाने संशय कीट
कुसुमाकर को उसने किया प्रणाम।"

रति तथा काम का वार्तालाप सहज एवं बोलचाल की भाषा में है। पौराणिक

सन्दर्भ अलग से सर्वथा नए ढंग पर अवस्थित है। रति का शिव को बूढ़ा बतलाना, पार्वती द्वारा उसे पसन्द न करना इत्यादि कथनों से काम का रति को खिझाना रचनाकार के नयेपन की पुष्टि करता है। काम वसन्त से कहता है—

"समझाओ अपनी भाभी को मित्र,
दिल-दिमाग है इसके बड़े विचित्र
देती है दुनिया भर को उपदेश
नही भा रहा शिव शकर का भेस···।"

वसन्त के समझाने पर रति शिव के प्रति कहे अनुपयुक्त शब्द वापस लेती है। इतने मे मुख्य कथ्य को कवि गिरिजा को शिव के पास जाने से संयुक्त करता है। पाठक को बार-बार नागार्जुन लक्ष्य का संकेत करने मे कदापि नही चूकते। यथा—

"ठूंठों मे कर दिया स्नेह-संचार !
पक्के जादूगर हो बधु वसन्त
पूर्ण हुआ अब सुरपति का अभिलाप
गौरीशंकर होगे स्मरशरबिद्ध
परिणय होगा, होगी अब संतान।"

नए दृश्य मे शिव चिर जागरूक व्याघ्र चर्म पर पद्मासन मे सुशोभित है। शिव-वैभव एवं उनके समाधिस्थ रूप से स्वयं कामदेव भी आतंकित होने लगे तथा उन्हें अपना अन्त निकट आता प्रतीत हुआ। पर रति से उन्हें इस बार विशेष प्रोत्साहन मिलता है। रति काम से थोड़ा दूर रहकर उन्हे लक्ष्य-संधान का संकेत करती रहती है। पूर्व आशकित रति उन्हें यहाँ तक कहती है—

"तुम भी मन्मथ बौड़म हो क्या खूब,
लक्ष्य भेद की युक्ति गये हो भूल ?"

अन्ततः शिव की दृष्टि काम पर पड़ जाती है। फिर क्या था ? वह उसी समय भस्म हो जाता है। शिव का गण समेत अन्तर्धान होना तथा गिरिजा का बेसुध अवस्था मे गिर जाना स्थिति को और भी आशंकित बना देता है। यही रति का विलाप चरम रूप में देखा जा सकता है। वसन्त भी रति का विलाप सुनकर आ जाता है—उसी बसन्त की स्थिति अब यह है—

"मूक हतप्रभ किंकर्त्तव्यविमूढ़
लुटा-पिटा-सा उत्पीड़ित संत्रस्त
यह वसन्त था शायद वही वसन्त।"

रति काम क साथ चिता मे समर्पित होना चाहती है। वह काम के साथ जन्मान्तर का साथ निभाना चाहती है।

नये दृश्य मे आकाशवाणी होती है जिसमे काम की जयजयकार सुनाई पड़ती है—

"कौन मदन तुमको कर सकता नष्ट ?

जयति जयति भस्मांकुर, जयति अनंग" !

यही काम की व्यापकता प्रतिपादित की गई है। रति तथा वसन्त मे इससे विशेष साहस मिलता है। थोड़ी देर मे हिम-स्तूप निर्मित हो जाता है तथा रति-वसन्त भी विलुप्त हो जाते है। इतना ही नही, स्वयं तपोनिरत शिवशंभु भी मदन-दहन से अनुतप्त दीख रहे हैं। निम्न स्थिति के चित्रण के साथ प्रस्तुत नाट्य-काव्य समाप्त होता है--

"शमित हो चुका रूप सुधा का दम्भ
(यदि तिल भर भी था उसका अस्तित्व)

तरुण तापसी का प्रशान्त सौंदर्य

खीच सकेगा निश्चय अपनी ओर

महारुद्र की महिमा को इस बार।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भस्माकुर-रचयिता का लक्ष्य प्रचलित शिव-प्रसंग (शिव-पार्वती-मिलन) का पुनराख्यान करना नही रहा है। वस्तुत: प्रस्तुत नाट्यकाव्य मे तो शिव तथा पार्वती की अपेक्षा काम, रति तथा वसन्त का प्रसंग अधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। इतना ही नही, नागार्जुन शिव-प्रसग का तो संकेतमात्र करते हैं जबकि काम, वसन्त तथा रति के परम्परित एव नवीन रूप को उद्घाटित करने मे अधिक रुचि लेते है। यही कारण है कि नाट्य कवि प्रस्तुत रचना मे अनेक मौलिक उद्भावनाएं करने मे सक्षम रहा है।

जहाँ तक 'भस्मांकुर' के कथ्य के प्रेरणा स्रोत का प्रश्न है, सर्वथा स्पष्ट है कि कालिदास कृत 'कुमारसम्भव' इसका आधार है। हालाकि इसी प्रकार के सांकेतिक कथ्य की समाविष्टि 'लिंग पुराण' एवं 'बाजसनेयी संहिता' मे भी हुई है। रचना की भूमिका में नागार्जुन ने मूल कथ्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए कालिदास के प्रभाव को स्पष्टत: अंगीकार किया है। पर कथ्य को मूल रूप मे ग्रहण करके भी रचनाकार ने अपनी कल्पना एवं सृजन-क्षमता के आधार पर नवीन स्थितियों को उद्घाटित किया है। कथ्य के सहज विकास एव पात्रों की प्रतीकात्मक स्थिति उद्घाटन मे कवि सफल रहा है। विशेषकर रति-विलाप परम्परा एवं युग-सापेक्ष दृष्टि-निर्वाह की सफलता के कारण द्रष्टव्य है। अवसरानुकूल रचनाकार ने अपनी विशिष्ट धारणाओ का संकेत भी सहज रूप मे दिया है। कृति का नामकरण भी

नवीन दृष्टि का द्योतक है। वस्तुतः जो भस्म हो चुका है वह पुनः वहीं से अंकुरित होगा, इसीलिए इसे 'भस्मांकुर' नाम दे रचयिता ने काम को चिरन्तन रूप मे माना है कि इसका सर्वनाश सम्भव नही है। मनोवैज्ञानिक आधार पर यह नाम सार्थक है। नागार्जुन का लक्ष्य न तो प्रसंगो की पुनरावृति करना रहा है और न ही पात्रों का परम्परित स्वरूप-उद्घाटन। लेखक ने तो काम, जिसे पुरुषार्थों अथवा जीवन-मूल्यों में महत्त्वपूर्ण मूल्य माना गया है, की सहज स्थिति को काव्यात्मक ढग से प्रस्तुत किया है। इसीलिए परम्परित ढंग से यदि कृति का नाम रखा जाता तो 'मदन-पराभव', 'कंदर्प-दर्प हरण', 'मन्मथ मथन' तथा 'स्मर-विजय' इत्यादि नामों में से कोई नाम रखा जाना चाहिए था। वस्तुतः नागार्जुन प्रस्तुत 'खण्ड नाट्य-काव्य' में कई समस्याओं को एक साथ प्रस्तुत करते है—काम-सम्बन्धित आकाश-वाणी द्वारा कही गई निम्न पक्तियां कवि मन्तव्य को स्पष्ट कर देती है—

> "जयति जयति भस्म कुर, जयति अनंग।
> जिजीविषा के मूल, सृष्टि के उत्स !
> जयति जयति रतिनाथ, अजेय-अमेय !
> जयति जयति कन्दर्प कामना बीज ••• ।"

मेरे विचार मे प्रस्तुत पंक्तियाँ काम की व्यापकता की द्योतक है जिसके अभाव में सृष्टि का विकास असम्भव है। इसे कामनाबीज, सृष्टि का उत्स एवं जिजीविषा का मूल स्वीकार कर तो कवि ने अपने बहुविध ज्ञान का परिचय भी दिया है। 'अजेय' से 'भस्मांकुर' की सार्थक अभिव्यक्ति हो जाती है।

अतः कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाट्य-काव्य का कथ्य अत्यन्त संक्षिप्त एवं गठित है जिससे कवि की मौलिक उद्भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। पार्वती का स्वप्न में शिव-मिलन तथा रति-विलाप के प्रसंग अधिक रोचक बन पड़े हैं। काम समस्या को रचयिता ने अत्यन्त सहज एव स्वाभाविक ढंग से सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

संक्षिप्त एव संश्लिष्ट कथ्य के कारण सभी पात्रों का सविस्तार चरितोद्-घाटन सम्भव न था—पर रति, पार्वती, काम एवं बसन्त की चारित्रिक विशिष्ट-ताओं का बोध सहज ही हो जाता है। शिव को कवि परम्परित रूप में उद्घाटित करते हुए भी नवीन दृष्टि का परिचय देता है—समाधिस्थ शिव के हाड़-कपाल की मालाओं से युक्त बीभत्स रूप की अपेक्षा मंजुल मुखकांतियुक्त आकर्षक रूप-सृष्टि कृतिकार को युग-सापेक्ष प्रभावित करती है। उनका तरुण रूप में वर्णन प्रथम बार हुआ है। इसी प्रकार पार्वती का किशोरी रूप मे प्राकृतिक वैभव से चकित होना तथा स्वप्न में शिव के रूप सौंदर्य का साहचर्य अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से वर्णित हुआ है। यथा—

"रात्रि शेष में देखा अद्भुत स्वप्न !
तरुण वृषभ पर दोनो हुए सवार
मैंने उनकी कमर रखी है थाम

\+ + +

"मेरे प्रियतम मुझे लग गयी प्यास
बोली मैं, छलका उनका मृदु हास

\+ + +

"हंसकर प्रिय ने थपकाए थे गाल
इतने भर से मैं हो उठी निहाल
तरुण वृषभ की त्वरित हो उठी चाल ।'

वस्तुतः ऐसी स्थितियों द्वारा रचयिता का शिव-पार्वती को केवल अलौकिक रहस्यमयी शक्तियों की अपेक्षा मानवीय धरातल पर अवस्थित करने का उपक्रम रहा है। बहुत ही सहज, बोधगम्य भाषा मे नागार्जुन ने गम्भीर विषय का प्रतिपादन किया है। इतना ही नही, प्रस्तुत नाट्य-काव्य मे शिव-पार्वती मुख्य पात्र नही है वरन् काम, रति तथा वसन्त के चरित्राकन मे लेखक की विशेष रुचि रही है। नागार्जुन ने काम, रति, वसन्त वर्णन इतने विस्तार से किया है कि उन्हें बीच-बीच मे कृति-लक्ष्य का संकेत करना पड़ा है ताकि पाठक मूल कथ्य को विस्मृत न कर बैठे। इसलिए काम तथा रति, काम एव वसन्त और वसन्त-रति के वार्तालाप में कवि ने अनेक बार लक्ष्य-सिद्धि का संकेत करवाया है।

काम, रति तथा वसन्त का वर्णन मुख्यतः तीन रूपों मे हुआ है। प्रथम इन्हें प्रकृति के वैभव सम्पन्न उपकरण/आयाम माना गया है। दूसरे, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ये तीनों मानव मे स्थित भाव विशेष है। तीसरे, सामाजिक दृष्टि से काम तथा वसन्त अभिन्न सखा है, रति काम की पत्नी है। नागार्जुन ने प्राकृतिक वैभव (जिसे कृत्रिम नाम दिया है) से रचना का आरम्भ एव चारो ओर तुषार की व्याप्ति से अन्त भी किया है। प्रत्येक जीव प्राणी मे काम (कामना) का उत्स सहज होता है तथा रहता है—इसे सृष्टि का मूल एवं कामनाबीज माना गया है। काम के तथाकथित भस्म होने पर पत्नी रति का विलाप एवं वसन्त का खिन्न होना स्वाभाविक है। वस्तुतः काम ही व्यक्ति को गतिशील बनाता है, प्रेरित करता है इसका मन मे किसी प्रकार का अभाव अथवा भस्म का समाप्त होना जड़ता के चिह्न हैं। इसलिए भस्म काम का अंकुरित होना अवश्यम्भावी है—वह होगा ही ऐसा स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है। तीसरा पक्ष सामाजिक है जिसके सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। हमारी दृष्टि में यह पक्ष कवि को समाज का जागरूक नागरिक प्रमाणित करता है। वैसे भी नागार्जुन की चेतना प्रगतिवादी (समाजवादी)

है। एक पौराणिक काव्य मे पति-पत्नी का, मित्र-मित्र का तथा देवर-भाभी का इतना सहज एवं स्वाभाविक वर्णन महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जाना चाहिए।

काम-रति एक सुखी परिवार (पति-पत्नी) के प्रतीक स्वरूप है। पति-पत्नी का परस्पर चिन्तन-साम्य, आयु-अनुपात अपेक्षित है। बेमेल विवाह अधिक समय तक नहीं चल पाता। प्राचीनकाल से अब तक ऐसी कितनी कहानिया प्रचलित है— सुनने, देखने मे आती हैं। प्रायः किशोरी-तरुणी को प्रौढ़ या वृद्ध से सम्बन्ध सूत्र में आबद्ध कर दिया जाता है। इसके मूल में धन-लालसा हो अथवा विवशता। परिणाम अनैतिक एवं अनिष्टकर हो सकता है। इसलिए नागार्जुन ने इस बेमेल विवाह (सम्बन्ध) का अप्रत्यक्षतः तिरस्कार किया है। काम तथा रति का वार्तालाप इस समस्या की साकेतिक अभिव्यक्ति करता है। इससे पूर्व बसन्त ने शिव को बूढा कहा है जो कि हास्य प्रधान प्रसग होते हुए तथ्य का संकेत अवश्य करता है। यथा—

"तुम जाओ बूढे का करो इलाज
भाभी को चाहे ले जाओ साथ
मगर इन्हे तुम रखना अपने पास
मत करना उस खूसट पर विश्वास
पकड़ लिया यदि शिव ने रात का हाथ
सोचो, गौरी का होगा क्या हाल ···।"

रति भी शिव को बूढा मानती हुई इस बेमेल सम्बन्ध का विरोध करती हुई कहती है—

"······ उमा का यह सौंदर्य
लगता है मुझको भी विरल अपूर्व
···   ···   ···
मुझको तो प्रिय, लगता है बेकार
सारा नाटक ! आखिर वह सुकुमारि
क्यों बूढ़े को करने लगी पसन्द ?
क्या अनमेल समागम है अनिवार्य ?
सुर-समाज की बुद्धि हो गई भ्रष्ट !
करते है कैसे-कैसे खिलवाड़
बस यों ही ये ब्रह्मा-विष्णु-महेश।"

अन्तिम पंक्ति मे स्पष्टतः आदि शक्ति महेश को शिव से पृथक् बतलाकर कवि ने मर्यादा का निर्वाह कर लिया है। मूलतः नागार्जुन ने इस प्रसंग की योजना बेमेल विवाह के विरोध-प्रदर्शन हेतु की है।

भारतीय दृष्टि से परिवार में देवर-भाभी सम्बन्ध में पवित्रता और घनिष्ठता

रही है। ज्यों-ज्यों हमारा विदेशीकरण हो रहा है, इस सम्बन्ध मे दूरी आने लगी है। वैज्ञानिक प्रगति की इसे भी एक देन माना जा सकता है। रति शिव को बुरा-भला कहती है तो काम फटकारता हुआ कहता है—

"बकती क्या-क्या बातें ऊटपटांग !
पगली तू होती है इनके कौन ?
हां, हा निश्चय, अधिक पी गई आज···।
खींचूंगा मै तो बसंत के कान"···

पर रति देवर का पक्ष लेती हुई कहती है कि 'क्यो खींचोगे उस गरीब के कान ?' पर पति-पत्नी में प्रगतिवाद की स्थिति मे मव्यस्थ देवर (छोटा भाई) रहता है। काम जब पत्नी रति को चुप कराने मे स्वय को असमर्थ पाता है तो वसंत को कहता है—

"शिशु समान होती है नारी जाति
मृदुमति, तरल स्वभाव, रूप-रस-गंध
शब्द-स्पर्श के प्रति अर्पित आप्राण !
पी जाती यह हलाहल चुपचाप
कठ नही होते है इनके नील
खंडित होने देती अपना शील
चुकता करती भावुकता का मूल्य
तन-मन-धन सब कुछ देती है झोक···।"

काम के भस्म होने पर वह (वसंत) रति को सामान्य स्थिति मे लाने का उपक्रम करता है। वसंत के द्वारा नागार्जुन की नारी संबंधी व्यापक एवं भारतीय दृष्टि का परिचय सहज मिल जाता है। इस प्रकार यह कहना सर्वथा उचित है कि 'भस्मांकुर' मे नाट्य काव्य के तत्त्वों का समावेश सहज रूप मे हुआ है। किसी एक तत्त्व पर कवि केन्द्रित नही रहा है। न ही यह रचना एक खण्ड-काव्य की भाँति लिखी गई है। संवादो मे नाटकीयता की समायोजना इसे खण्ड नाट्य-काव्य के गुणों से पुष्ट करती है। साथ ही नागार्जुन ने जीवन एवं समाज विशेषकर नारी सम्बन्धी अपनी व्यापक, उदार एवं सहज दृष्टि का परिचय भी बीच-बीच मे दिया है। इस प्रकार नाट्य-काव्य के तथाकथित तत्त्वों कथा, पात्र, संवाद, नाटकीय वातावरण, उद्देश्य एवं भाषा तथा शैली के आधार यह एक सम्पूर्ण कृति सिद्ध होती है। हालांकि अभिनय के लिये इसमे कुछ परिवर्तन, दृश्य एवं पात्रो के लिए, आवश्यक है। विशेषकर स्वयं कवि-कथन, मचीय सज्जा एवं पात्रों के बाह्य विधान की दृष्टि से उल्लेख्य है। दृश्य विधान भी संश्लिष्ट रूप मे हुआ है।

जहाँ तक 'भस्मांकुर' के काव्य-रूप का प्रश्न है—हम इसे खण्ड-नाट्य स्वीकार कर चुके है। इसके प्रमाण अथवा पुष्टिहेतु हमने संकेत रूप मे कथा एवं

पात्रों की चर्चा में कुछ उद्धरण भी दिए हैं। वस्तुत: नाट्य-काव्य एक ऐसी साहित्यिक कृति होता है जिसकी मूल चेतना काव्यमयी होती है—कविता इसका प्राण होती है, इसके अभाव में इसकी रचना सम्भव ही नहीं। यही कारण है कि नाट्य-काव्य के रचयिता का कवि होना अपेक्षित है। हाँ, इसका बाह्य विधान नाटकीय होना चाहिए। दृश्य, मंच एवं पात्रों की वेश भूषा (आतरिक एवं बाह्य सज्जा) का स्थूल अथवा संश्लिष्ट विधान भी होना चाहिये। इस प्रकार से काव्य एवं नाटक के गुणो का मणिकाचन योग होना चाहिए। इसलिये काव्य तथा नाटक की रचना पृथक् से करना सहज है पर नाट्य काव्य (वह भी सफल) का निर्वाह उच्च कोटि का नाट्य कवि ही कर पाता है। नागार्जुन मूलत: कवि है—वह भी प्रगतिवादी। पर इन्होने पौराणिक प्रसंग को आधार बनाकर जहाँ अपने व्यापक ज्ञान का परिचय दिया है, वहाँ एक सफल नाटककार होने का प्रमाण भी दिया है। विशेष संवादों मे भाषा का अनेक स्थानो पर सहज एवं बोलचाल का रूप उसे नाटकीय गुणों से सम्पन्न बनाता है। इस प्रकार के प्रसगों का उल्लेख रति, बसन्त एवं काम के सन्दर्भ मे हम कर चुके है। अत: शिव-प्रसग को आधार बनाकर भी नागार्जुन ने युग-बोध की सार्थकता को दृष्टि से ओझल नही होने दिया है। भाषा सरल, सहज होने के साथ प्राकृतिक वैभव के प्रसगों मे साहित्यिक संस्कृतनिष्ठ रूप को भी आत्मसात् किए है। 'भस्माकुर' में रचयिता की काव्य-प्रतिभा के स्पष्ट दर्शन होते है। निम्न पंक्तियों मे नागार्जुन की प्रकृति के प्रति सजीव मनोरम एवं व्यापक दृष्टि को देखा जा सकता है—

> "पग-पग पर ऋतुपति का छवि-संभार
> दिशा-दिशा मे किसलय-कुसुम-प्रभार
> विविध गंधबंधुर समीर-संचार
> पिकरव, अलि-गुञ्जन, झिल्ली-झंकार
> स्निग्ध-सुकोमल सतरंगी संसार
> मुखर हिमालय, पिघले तरल तुषार
> प्रकृति परी ने सजा हरित शृंगार
> स्वरा-भरित झरने हो उठे उदार।"

प्रस्तुत पंक्तियों मे प्रकृति को परी रूप में चित्रित कर कवि का लक्ष्य परम्परित प्रकृति-चित्रण करना नही रहा ह वरन् यहाँ वह इसके द्वारा ऐसे वातावरण का सृजन करता है, जिससे वसन्त (कृत्रिम) व्याप्ति का बोध हो, साथ ही समाधिस्थ शिव को वातावरण की मोहकता एवं पार्वती का रूप-सौंदर्य मिलकर आकृष्ट कर सके। यहाँ प्रकृति लक्ष्य-संधान मे सहायिका रूप में चित्रित हुई है।

'भस्माकुर' में जहाँ कहीं कवि को उपयुक्त अवसर अथवा प्रसंग उपलब्ध

हुआ, युगीन समस्याओं, घटनाओं एवं स्थितियों की ओर संकेत करता चला है। काम, रति एवं वसन्त की चर्चा में हम इनके तीन रूपों का सविस्तार निरूपण कर चुके है। शिव-पार्वती का मानव पक्ष भी उद्घाटित कर चुके हैं। पुनरावृत्ति दोष से मुक्ति होने की कामना से इतना कहना पर्याप्त होगा कि नागार्जुन ने इतने सरस, शृंगारिक एवं रौद्र प्रसंगों की योजना में किस प्रकार हास्य एवं व्यंग्य का मर्यादित निरूपण किया है, यह विचारणीय प्रश्न है। सामाजिक सम्बन्ध-निर्वाह विशेषकर देवर-भाभी के सम्बन्ध की पवित्रता का उद्घाटन कृति को चरम लक्ष्य की ओर ले चलता है। वस्तुतः आकाशवाणी की योजना कवि ने लक्ष्यपूर्ति हेतु की है। रचयिता का मन्तव्य काम की व्यापकता, सार्वभौमिकता एवं चिरन्तनता प्रतिष्ठित करना रहा है। इसीलिए रति को कहा जाता है—

> "जल्द खत्म होगा तप का यह दौर
> हर-गौरी का परिणय है आसन्न
> पनपेगा तेरा पति अपने आप
> संग-सुखो मे मदन आएगा याद —
> मथित करेगा प्रभु के मन-मस्तिष्क
> सच, मनोज है सर्वाधिक दुर्दान्त
>
> \+ \+ \+
>
> भस्म हुआ है बाहर-बाहर, ठीक
> पर, वो तो है प्राणि मात्र मे व्याप्त।"

अन्ततः हम कह सकते है कि हिन्दी नाट्य-काव्य परम्परा में 'भस्मांकुर' एक महत्वपूर्ण नाट्य-काव्य है। परम्परित शिव पार्वती मिलन (सम्बन्ध) को आधार बनाकर नागार्जुन ने युग-बोध की सार्थकता अभिव्यक्त की है। काम की जीवन्त एव चिरन्तन समस्या को प्रस्तुत नाट्य-काव्य मे सविस्तार चर्चायित (काव्यात्मक ढंग से) करते हुए उसे आन्तरिक एव बाह्य दो रूपों में प्रतिष्ठित किया गया है। बाह्य रूप मे यह भस्म होने पर पुनः अकुरित होगा, ऐसा कृति से स्पष्ट है। वैसे भी यह सर्वमान्य तथ्य है कि काम-चेतना कभी भी भस्म नहीं होती है। स्थिति, अवसर के अनुरूप इसका अकुर प्रस्फुटित होता रहता है। अन्तर में मूलतः काम, जिजीविषा, कामना, इच्छा, वासना किसी न किसी रूप मे अवश्य रहता है। प्राणी-मात्र मे इसकी व्याप्ति निर्विवाद स्वीकार्य है। अतः जीवन्त एवं कालजयी समस्या को आधार बनाकर भस्मांकुर-रचयिता ने काव्य एवं नाटक के संयुक्त तत्वों का सम्यक् निर्वाह इसमें करने का प्रयत्न किया है। कहीं-कही रचना में अवरोध की स्थिति का संकेत अवश्य मिलता है पर नागार्जुन वाणी-चातुर्य एव काव्य प्रतिभा से ऐसे दोषो से मुक्त हो सके हैं।

नागार्जुन की काव्य-चेतना एवं भस्मांकुर के कथ्य को दृष्टि मे रखते हुए निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि ने अपनी रचनाओं में अनेक समस्याओं को संजोया है। अधिकांश कविताएँ सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं से सम्बद्ध होते हुए भी कविता के स्थायी महत्त्व की परिचायक हैं। कविता का यह गुण नागार्जुन की काव्य-चेतना में प्रत्यक्ष है। काव्य-संग्रहों में संकलित कविताओं मे सेक्स, काम तथा रोमानी भावों का लगभग नकार होने पर भी 'भस्मांकुर' नाट्य-काव्य में मूल समस्या 'काम' है जिसे अत्यन्त व्यापक संदर्भ में इस कृति में प्रस्तुत किया गया है। पौराणिकता एवं वर्तमान युग की समस्याओं के प्रति सम्यक् दृष्टि इनकी काव्य-चेतना की विलक्षणता है।

तालाब की मछलियाँ : मुक्ति के मार्ग पर

—विश्वनाथ मिश्र

बाबा नागार्जुन एक सामान्य कृषक परिवार में उत्पन्न हुए थे, जो अपठित भी था। अभाव का आसव उन्हें ठेठ बचपन से पीना पड़ा। इसीलिए उन्होंने अपने को 'दबी हुई दूब का रूपक' दिया है जो हरी हुई नहीं कि लोग चरने को दौड़ पड़ते हैं। इसीलिए उनके जीवन का प्रतिपल संघर्ष मे गुजरा है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "उनका क्षुद्र व्यक्तित्व/आटा-दाल, नमक-लकड़ी के जुगाड़ में/रुद्ध और सीमित रहा है।" लेकिन थोडा बहुत पढने का सुअवसर पाकर काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न होने के कारण उन्होंने कलम को ही अपना हल और कुदाल बनाया। उनका यह निश्चय उनके काव्य-दर्शन की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर को सम्बोधित करते हुए उन्होने आग्रह किया है—

"आशीष दो मुझको—
मन मेरा स्थिर हो;
नहीं लौटूँ, चीर चलूँ, कैसा भी तिमिर हो
प्रलोभन मे पड़कर बदलूँ नहीं रुख
रहूं साथ सबके, भोगूँ साथ सुख-दुःख।"

अपने इसी निश्चय को लेकर उन्होंने अपने कवि से कहा है—

"चाहते हो—
अगर तुम निर्विघ्न होकर
शान्तिपूर्वक
शिल्प-संस्कृति-कला का, साहित्य का निर्माण करना
+ + + +
इतर साधारण जनों से अलहदा होकर रहो मत,
कलाधर या रचयिता होना नही पर्याप्त है
पक्षधर की भूमिका धारण करो ··
विजयिनी जनवाहिनी का पक्षधर होना पड़ेगा·· "

नागार्जुन ने इस प्रकार जन-साधारण का, इस संसार में जो पीड़ित और प्रताड़ित है, आतंकित और शोषित हैं, दुःख और दर्द से आक्रांत है, उनका पक्षधर

होने का निर्णय लिया है। अपना यह निर्णय उन्होंने अपनी रचनाओं में भली प्रकार निबाहा है।

नागार्जुन ने जनसाधारण के साथ अपने को एकात्म करने के अनन्तर उनके मुक्ति के संघर्ष में अपने कवि को सम्पूर्ण मन से संलग्न कर दिया है। स्वभावतः उनके इस निश्चय से भ्रम होता है कि उन्होंने अपने को वामपंथी विचारधारा के साथ पूर्णतः बांध लिया है। लेकिन वास्तव मे ऐसा नही है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद राष्ट्रपिता बापू की हत्या से क्षुब्ध होकर उन्होंने अनेक कविताओं में उनका तर्पण किया है। इस संदर्भ की इनकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

इसे न कोई कविता समझे
यह तो पितृ-वियोग व्यथा है
+ + +
रोता हूं लिखता जाता हूं
कवि को बेकाबू पाता हूं

और फिर वे उस आसुरी शक्ति को खोजने की बात कहते है जिसके कारण यह दुर्योग घटित हुआ—

भस्मासुर को खोज रहा है
पुंजीभूत प्रकोप हमारा

अपनी इसी रचना में उन्होंने कहा है कि अत्याचारी लाख छिपने का प्रयत्न करें, अब वे बच न सकेगे। उन्होने यह भी कहा है कि अब उन्हें दूसरा चक्रव्यूह रचने का अवसर भी नहीं दिया जायेगा। आगे उन्होंने लिखा है—

"हां बापू निष्ठापूर्वक मैं शपथ आज लेता हूं
हिटलर के पुत्र-पौत्र जब तक निर्मूल न होंगे
... ...
लौह लेखनी कभी विराम न लेगी।"

और सचमुच उन्होंने अपनी लेखनी को विराम नहीं लेने दिया है। शोषक और प्रताड़ितों के संघर्ष मे उन्होंने बराबर पीड़ा के आक्रोश स्वरों को अपनी वाणी और लेखनी से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

नागार्जुन के मन में समाज के पीड़ितों के प्रति सहज वेदना और सहानुभूति का भाव रहा है। तभी तो उन्होंने रिक्शा वाले के प्रति सहानुभूति अनुभव करते हुए लिखा है—

खुब गये
दूधिया निगाहों में
फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैर

इसी प्रकार जाड़े की ठण्डी रात में सिकुड़े बैठे हुए एक मामूली आदमी को देखकर उन्होंने कहा है—

गठरी बना गई
माघ की ठिठुरन
अद्‌भुत यह सर्वांग-आसन

इसी तरह किसी बेकार आदमी के प्रति उनका संवेदन-शील मन सहज मुखरित हो उठा है—

खाली है हाथ, खाली है पेट
खाली हैं थाली, खाली है प्लेट

इस प्रकार के अनुभव कवि के मन में आज की व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश जगा गये है और यह आक्रोश 'प्रेत का बयान', 'मंत्र कविता', 'जयति जय सर्वं मंगला' आदि रचनाओ मे अभिव्यक्त ुआ है।

नागार्जुन के जीवन मे अनेक ऐसे दुःखी-प्रताड़ित लोग भी आए है जिनके प्रति उनके मन मे विशेष आत्मीयता उत्पन्न हो गई है। जया नाम की एक बहरी गूंगी लड़की को देखकर उनका कविमन विशेष मुखर हो उठा है—

"छोटे-छोटे मोती जैसे दाँतों की किरणें बिखेर कर
नीलकमल की कलियों जैसी आँखो में भर
अनुनय सादर
पहले; पीछे शासक-सी तर्जनी उठाकर
इंगित करती : नहीं तुम्हें मैं जाने दूंगी
चार साल की चपल चतुर वह बहरी गूंगी
कितनी सुन्दर, नयनाभिराम
उस लड़की का है जया नाम।"

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि जो व्यक्ति किसी दूसरे की बच्ची को देखकर इतना भावविह्वल हो उठता है उसके मन में, स्वयं अपने बच्चों के प्रति कितना वात्सल्य का भाव होगा—

तुम्हारी यह दन्तुरित मुस्कान
मृतक में भी डाल देगी जान
धूलि धूसर तुम्हारे ये गात…
छोड़कर तालाब मेरी झोंपड़ी में खिल रहे जलजात
परस पाकर तुम्हारा ही प्राण,
पिघलकर जल बन गया होगा कठिन पाषाण
छू गया तुमसे कि झरने लग पड़े शेफालिका के फूल

नागार्जुन जब अपने बच्चों के प्रति इतने स्नेहशील हैं तो उनके मन में अपनी अर्धाङ्गिनी के प्रति विशेष अनुराग होना स्वाभाविक है। तभी तो जब जीवन की परिस्थितियों ने उन्हें निर्जन मे डाल दिया है, तो उन्हें अपनी प्रिया का 'सिंदूर तिलकित भाल' याद हो आया है। उसके बाद तो स्वजन-परिजन सभी की याद उनके मन में जाग उठी है—

'याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख
स्मृति-विहङ्गम की कभी थकने न देगी पाँख'

अपने स्वजनो का स्मरण करते-करते कवि को अपना 'तरउनी' ग्राम याद हो आया है, और उसकी प्राकृतिक शोभा के प्रति उसका मन अभिभूत हो उठा है।

नागार्जुन ने स्वजनों को जिस प्रकार याद किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के दुःख-दर्द ने उनकी सौंदर्य-चेतना को कुण्ठित नहीं किया है। उनका यह भावुक और स्नेहशील मन प्राकृतिक सुषमा को देखकर भावविभोर होता रहा है। तभी तो उन्होंने लिखा है—

"याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और ताल मखान।"

प्रकृति की सहज शोभा उनके मन को कितना भाव-विभोर करती रही है, यह उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से भी प्रकट होता है—

"शिप्रा तट पर, तमसा तट पर,
चम्पक वन में, नीप कुञ्ज में,
सादी डालों तुनुक टहनियों वाले जामुन के जंगल में
मेरा कवि
चितकबरी ज्योत्सना का अभिसार किया करता है।"

कवि को लगा है कि पीड़ितों और प्रताडितो के पक्षधर कवि की प्राकृतिक शोभा के समक्ष यह विवशता शायद अपराध समझी जाए और इसीलिए वह दण्ड स्वीकार करने को भी तैयार हैं। कवि के मन में नैसर्गिक शोभा के प्रति कितना अनुराग है, यह जेल के सीखचों के बीच रात की रानी की 'सुगन्ध के' अभिनन्दन मे लिखी उनकी इन पंक्तियों से भी प्रकट होता है—

"प्रहरी के बूटों की कर्कश टापें
रह-रहकर बहुधा नींद तोड़ जाती हैं

इतने में ही अनुपम सुवास से सुरभित
शीतल समीर का हल्का झोंका आता
सारे अभाव-अभियोग भूल जाता हूं
यह आकुल मन इतना प्रमुदित हो जाता।

कवि की यही सौंदर्य-चेतना बरफ पड़ने के दृश्य को देखकर भी मुखर हुई है—

"देख रहा हूं बरफ पड़ रही कैसे
बरस रहे हैं आसमान से धुनी रुई के फाहे
या कि विमानों से भर-भरकर यक्ष और किन्नर बरसाते
कास कुसुम अभिराम
ढके जा रहे देवदारु की हरियाली का अर दूधिया झाग"

और जब हिमपात समाप्त हो चुका है तो उसे सर्वश्वेत पार्वती प्रकृति किसी रूपसी की भाँति उस रमणीय दृश्य को देखकर निस्तब्ध दिखाई देती है।

सौंदर्य चेतना से अभिभूत नागार्जुन का कविमन इस प्रकार के रमणीय दृश्यों में खोकर भी पीड़ित और प्रताड़ित मानवता के प्रति बराबर जागरुक रहा है। तभी तो उसने तालाब की मछलियों की पीड़ा को भी समझा है। मछलियों की व्यथा-कथा कहते-कहते उसे उन रूपसियों का भी स्मरण हो आया है जो सात-सात ड्योढ़ियों वाली हवेलियों में पुरुष की काम-पिपासा की संतृप्ति के लिए बन्दी बनाकर रखी जाती रही हैं। संवेदनशील कवि को देखकर यह प्रसन्नता हुई है। नदी की बाढ़ ने तालाब की सीमाओं को तोड़ दिया है और जैसे मछलियाँ मुक्त जीवन के पथ पर अग्रसर हो रही हैं, वैसे ही नये विचारों का सैलाब समाज के बन्धनों को तोड़ डालेगा। तब नारी भी मुक्ति के पथ पर अग्रसर होगी।

नागार्जुन का संवेदनशील मन केवल अपने देश के ही पीड़ितों—प्रताड़ितों के प्रति सहानुभूति से परिपूर्ण नहीं रहा है, वरन इस विराट जगत में जहाँ कहीं भी शोषण है, अनाचार है, अत्याचार है, उसके प्रति सजग रहा है। इसी व्यापक जागरुक चेतना के कारण नागार्जुन को बराबर लगा है कि विश्व के अमरीका जैसे साम्राज्यवादी देश जो एटम और हाइड्रोजन बमों के निर्माण में तत्पर हैं, अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के उत्पादन में लगे हुए हैं वे एक दिन उनका प्रयोग देश-विदेश के साधारण जनों की सांस्कृतिक उपलब्धियों के विनाश के लिए ही करेंगे। इसीलिए अमरीका के न्यूयार्क नगर के समीप एक द्वीप में प्रतिष्ठित स्वतंत्रता की देवी की मूर्ति को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा है—

'देवि लिबर्टी तुमको प्रिय है कटे सिरों की चर्वित मालिका
अपनी ओर जरा तो देखो, बनी हुई हो विश्व-पालिका।

निज तरुणों की ही कलेजियाँ चबा रही हो वियतनाम में
लगता, कोई और न होगा, तुम्ही रहोगीं धरा धाम मे

कवि ने उसके बाद आग्रह किया है—

'पहिचानो तुम निज सपूत को, उसे दया की भीख नहीं दो' अमरीका में भी युद्ध-विरोधी आंदोलन जोर पकड़ रहा है और उसकी ओर सकेत करते हुए कवि ने कहा है कि लो अब तुम्हारे 'धरती पुत्र' स्वय जाग रहे हैं और वे इस उग्र हिंसात्मक प्रवृत्ति का दमन करने में निश्चित रूप से समर्थ होंगे।

नागार्जुन ने देश-विदेश में जहाँ कही भी मनुष्य को अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हुए देखा है तो उसे प्रोत्साहन दिया है। और जिन्हें न्याय की, औचित्य की स्थापना में तत्पर पाया है, उनका अभिनन्दन किया है। पटना के बी० एन कॉलिज के एक छात्रकी, जो जन-जागरण के लिए आन्दोलन कर रहा था, पुलिस द्वारा नृशंस हत्या को लेकर उनका मन विक्षुब्ध हो उठा है—

"रक्त तीर्थ के अजर अमर देवता
तुम्हारी पावन स्मृति मे
जन कवि की आंखों मे आँसू बहे जा रहे है।"

इस स्थल को जहां वह नवयुवक गोली खाकर गिरा था, कवि ने क्रांति का रक्त तीर्थ, कहा है। इसी जनवादी क्रांतिकारी चेतना को लेकर हम उन्हे उस 'आजाद छापेमार दल' का अभिनन्दन करते हुए देखते है, जो अपने प्राणों को होम करके व्यवस्था को बदलने के लिए प्रयत्नशील है।

कवि नागार्जुन को सर्वाधिक विश्वास देश के नवयुवकों पर है। उनकी धारणा है कि वे ही निर्भीकता के साथ व्यवस्था से टकरा सकते हैं और उसे समाप्त करने में समर्थ हैं। इसीलिए उन्होंने नवकिशोरों से आग्रह किया है—

"लो मशाल, अब घर-घर को आलोकित कर दो
सेतु बनो प्रज्ञा-प्रयत्न के मध्य
शान्ति को सर्वमंगला हो जाने दो।"

उनका दृढ़ विश्वास है कि एक दिन ये गाँव और नगर, ये खेत और कारखाने सभी आजाद हो जायेगे, मशीनों पर, उपज के सभी साधनों पर जन-साधारण का अधिकार होगा, और फिर सरस्वती और लक्ष्मी, विद्या और समृद्धि दोनों साथ साथ रहेगी। कवि की प्रार्थना है कि वह शुभ दिन शीघ्रातिशीघ्र आए—

"हटे दनुजदल, मिटे अमंगल
जल थल नभ सर्वत्र शान्ति हो।"

और हमारी यह भूमि स्वर्ग का सुख और ऐश्वर्य प्रदान करे।

नागार्जुन ने अपने इस काव्य-संकलन का नाम 'तालाब की मछलियाँ' रखा है। तालाब प्रतीक है—प्रतिबद्ध जीवन का, जहाँ जीवन दमित है, कुण्ठित है, क्षुब्ध है, बाधित है, और जहां की मछलियाँ केवल अपने मालिक के स्वार्थ की सिद्धि के लिए है। कवि ने तालाब की तुलना मे नदी को अप्रतिबद्ध, स्वच्छद और स्वतन्त्र जीवन के प्रतीक के रूप मे उपस्थित किया है। उन्होने नदी की बाढ से तालाब के तट-बन्धो के टूटने का वर्णन किया है, जिससे मछलियाँ आजाद हो गईं। कवि चाहता है कि हम भी स्वाधीन चेतना को लेकर व्यवस्था द्वारा खड़े किए गए उन तट-बन्धों को तोडे जो हमारे जीवन को विक्षुब्ध, दमित, कुण्ठित और बाधित कर रहे है। नागार्जुन इस प्रकार इस काव्य सकलन मे हमारे सामने नयी व्यवस्था के विधायक कवि के रूप मे आते है।

नागार्जुन का नया काव्य

—प्रेमशंकर

नागार्जुन की प्रतिनिधि कविताओं का संकलन 'तालाब की मछलियाँ' 1975 में प्रकाशित हुआ था जिसमे 'युगधारा', 'सतरगे पंखों वाली' तथा 'प्यासी पथराई आँखें', सकलनो की विशिष्ट कविता आ गई थी। तभी से उनके अगले कविता-सग्रह की प्रतीक्षा थी क्योंकि उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओ में आ रही थी और हम आश्वस्त थे कि नागार्जुन की रचनाशीलता जनान्दोलन के भीतर से निरन्तर सक्रिय है। नागार्जुन संस्कृत, पालि आदि प्राचीन भाषाओ के प्रकाण्ड पण्डित है और अपने रिवथ को गहरे स्तर पर पहिचानते हैं। पर अपनी रचना की सामग्री वे जीवन से सीधे ही उठा लेते है, बिना किसी लाग-लपेट के। कई बार वे हमें फक्कड कबीर के बहुत निकट लगते हैं-निर्भीक और बेलाग। नागार्जुन ने 'कालिदास सच-सच बतलाना' / 'बादल को घिरते देखा है' जैसी कविताए रची है जहाँ वे रिवथ की गहरी पहिचान का बोध कराते है, पर यही कवि जब सामयिक जीवन का अपनी रचनाओं मे सीधे ही उतारता है तो रचना का एक द्वन्द्व सामने आता है। नागार्जुन मे प्रतिक्रियाएं बहुत तेजी से आती हैं—लगभग त्वरित, पर इसका कारण कोई तात्कालिक विवशता नही है, वरन् कवि का जागृत सवेदन है जो चोट खाकर तिलमिला उठता है। वे साम्यवाद से जुड़े रहे है पर भारत पर चीनी आक्रमण के लिए दल से उनका तीव्र मतभेद हुआ और उन्होंने कविता मे अपनी तीखी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। नेहरू को सम्बोधित कविता में व्यंग्य-भरी पंक्तियां है—डोंगे हो जाते राज्यपाल। इसी प्रकार जिस क्रान्ति में उन्होने सक्रिय भाग लिया था, उसकी असफलता पर 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' की कविताएं लिखी गई। इन्हें नागार्जुन के अन्तर्विरोध के रूप में प्रस्तुत करना, स्थिति का सरलीकरण होगा। 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' की एक कविता मे नागार्जुन ने स्वयं को 'तरल आवेगों वाला, अति भावुक, हृदय-धर्मी जनकवि' कहा है, और यही उनके व्यक्तित्व का केन्द्रीय आधार हमें मिल जाता है जिसके आलोक में हम उनकी रचनाशीलता की सही पहिचान कर सकते है।

'तुमने कहा था' और 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' दोनों 1980 के प्रकाशन हैं और इनकी पीठिका में पिछले कुछ वर्षो का परिवेश मौजूद है। ये कविताए

एक साथ दो दुनियां सामने लाती हैं : पहले कवि संवेदन के साथ क्रांति की स्थितियों से जुड़ता है, यहां मुख्य रूप से वह तानाशाही के विरोध में है और फिर मोहभंग से गुजरते हुए वह तथाकथित क्रांति की खिल्ली उड़ाता है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि राजनीति के सामयिक संदर्भ कविता में क्या शक्ल लेते हैं ? हम स्वीकारते हैं कि नागार्जुन ने सामग्री सीधे ही राजनीति के मंच से प्राप्त की है, वक्तव्यबहुल भी हो गए हैं। कई बार आक्रोश इतना तीव्र और त्वरित है कि हमें डायन, चुड़ैल जैसे शब्द भी सुनने को मिलते है, पर यहाँ कवि का मुख्य विरोध तानाशाही से है जो बर्बर हुआ करती है। प्रायः हम नागार्जुन की ऐसी मुखर राजनीतिक कविताओं के मूल में विद्यमान आहत संवेदना, गहरी जीवन दृष्टि, निरीक्षण का पैनापन और बड़ी मानवीय चिंता नहीं देख पाते पर जिन्दगी से आंख मिलाते हुए कई बार नागार्जुन कविताओं में सघन रेखाचित्र प्रस्तुत करते हैं--बाढ़, अकाल, कर्फ्यू, जुलूस आदि के। 'बाढ़ : 67—पटना' का दृश्य है जहां कविता स्थितियों को बिम्बों में पेश करती है, पूरा दृश्य जीते-जागते रूप में आता है 'नफीस ये नफीस—कारों को होगया है जुकाम/तरावट में डूबी सड़कें कर रहीं थीं आराम।'

नागार्जुन की वे राजनीतिक कविताएं निश्चित ही लंबी यात्रा करेंगी जहां वे अपने संवेदन को बिम्बों में प्रक्षेपित करते हैं और गहरे उतरकर स्थिति का जायजा लेते हैं। वे एक प्रतिबद्ध कवि हैं और 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' में इस शीर्षक से उनकी कविता भी है जहां वे अपनी प्रतिबद्धताओं को महज राजनीतिक चौहद्दी तक सीमित न करके उसे व्यापक मानवीय आयाम देते हैं—रूप-रस-गंध और स्पर्श से, शब्द से—नाद से, ध्वनि से, स्वर से, इंगित-आकृति से। मार्क्सवाद को सौन्दर्य-शास्त्र के स्तर पर पाने की कोशिश में हिन्दी कवियों की नयी पीढ़ी निराला, नागार्जुन या मुक्तिबोध की ओर देखती है। नागार्जुन प्रतिबद्ध हैं, पर मानवीय चिन्ता के साथ और वे 'पोलेमिक्स' से आगे भी जाते हैं, उनके जड़ पूर्वाग्रह नहीं हैं। 'तुमने कहा था' की आरंभिक कविता 'तुम रह जाते दस साल और' का मुहावरा व्यंग्य का है, पर अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिक। अगली कविताओं में नागार्जुन नेहरू के व्यक्तित्व को अपने संवेदन की स्वीकृति देते हैं—खिलता है गुलाब/करेगा प्यार कौन/कंटकित वृन्त को ? खिलता है गुलाब/समझेगा कौन/-अन्तर्भेदी मुकुलित सौरभ ? नागार्जुन का पूर्वाग्रहरहित कवि अपनी यायावरी, घुमंतू प्रवृत्ति से निरन्तर सामग्री पाता है—प्रकृति के विराट सौन्दर्य से लेकर मानव जीवन के उतार चढ़ाव तक और जीवन से उनकी ऐसी अन्तरंगता है कि कुछ भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता—मछुआरे की तरह जाल डालकर वे मछलियां पकड़ ही लेते हैं। और यह गहरी जीवन सम्पृक्ति उनकी रचनाशीलता का केन्द्रीय तत्व है।

नागार्जुन की कविताओं का ताना-बाना देसी है, सम्पूर्ण रूप से देसी, कई बार कबीर की तरह अनगढ। आधुनिक रचनाशीलता मे दृष्टि के पार्थक्य के बावजूद वे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निकट आते है—दोनो ही परम्परा मे निष्णात होकर भी जीवन के नये संदर्भों से जुड़े हुए : सहज, देशज, कबीर की तरह फक्कड, मनमौजी। जब आधुनिकता के नाम पर रचना के शहरीकरण के खतरे हों तब नागार्जुन के रचना-ससार का देसी परिवेश अलग से अपनी पहिचान बताता है। सामान्यजन यहा वक्तव्य के माध्यम से नही, संवेदन के स्तर पर उपस्थित हैं जैसा उन्होने अपने आंचलिक उपन्यासो में किया है—लगभग ग्राफिक चित्र। नागार्जुन खतरो की राह चलते है और उनमे रचना-कर्म का द्वैत नही है, इसीलिए उनकी रचनाए मुखौटा लगाकर नही आती। उनकी प्रामाणिकता हमे आश्वस्त करती है और उनकी अभिव्यक्ति विश्वसनीय लगती है। यह विश्वसनीयता किसी भी रचना को सार्थकता देती है, अभिव्यक्ति की सीमाओं के बावजूद। नागार्जुन जब किसी मोहभग मे अपना रास्ता बदल देते हैं तो लगता है जैसे वे अपने ही पिछले वक्तव्य के विरोध में खड़े है। पर यह दलबदल अथवा प्रतिक्रियावादी रुख नही है, बल्कि एक ईमानदार कवि की आत्मस्वीकृति है। नागार्जुन के प्रजातात्रिक जनवादी कवि को अन्याय, तानाशाही से घृणा है और वे इसका हर स्तर पर विरोध करते हैं। एक दृश्य के माध्यम से इसे कहा गया है : **लगता है/हिन्द के आसमान में/अब सूरज सहम कर उगेगा/अपनी किरणें बिखेरेगा डरता-डरता कांपता।** हम स्वीकारते है कि कविताओं में कही-कही गाली-गलौज तक है, पर इसके मूल में कवि की आक्रोश भरी पीड़ा है और जहा कही नागार्जुन बिम्बो का सहारा लेते हैं, वहां कविता काफी ऊपर उठती है, रुकती है, ठहरती है।

लोकजीवन की सम्पृक्ति ने नागार्जुन की कविताओ में लोकउपादानों का प्रवेश कराया है : सामान्यजन से अपने कथ्य की सामग्री प्राप्त करना, संवेदन को गहराना और देसी मुहावरे में अपनी बात कहना। लोकधुनों का उपयोग करते हुए वे कविता की अभिजात्य सीमाओं को तोड़ते हैं, कबीर की तरह। क्या हुआ आपको ? किसकी है जनवरी, किसका अगस्त है ? आदि कई कविताओं में लोकगीतों की शैली का उपयोग किया गया है और नागार्जुन का कवि पाठक के साथ-साथ श्रोता की तलाश करता भी दिखाई देता है, बिना अपने आशय का अवमूल्यन किए हुए। ये लोक उपादान कविता को रूमानी तेवर नहीं देने देते क्योंकि नागार्जुन सामाजिक यथार्थ के कवि हैं और वे अपना आक्रोश व्यंग्य के रूप में व्यक्त करते है। सचाई यह है कि व्यंग्य उनकी कविता की एक मुख्य प्रवृत्ति है और वह मारक है—निर्मम और बेमुरौवत, हरिशंकर परसाई की तरह। व्यंग्य और नागार्जुन कई बार पर्याय जैसे लगते हैं, पर इस व्यंग्य के मूल में

कवि की संवेदनशीलता है जो मानवीय चिन्ता से परिचालित है। एक ही कविता : अब तो बंद करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' में व्यंग्य के कई टुकड़े हैं : सुस्त प्रतिपक्षी, पूजन करते निर्वाचित प्रभु, गुण गाते चारण, मुग्ध-विभोर गीदड़-भालू, शेर-सांप, वीराने में मुखर ठूंठ, दिन में खिलती रजनीगंधा, महंगाई की सूपनखा, सोशलिज्म की नयी ऋचाएं, दस बांहों वाली देवी, कारतूसों की माला, मतवाले पंडों की थिरकन आदि। नागार्जुन का व्यंग्य सपाट नहीं है, वह गहरे उतरता है। टिकट पाने का एक दृश्य है, जिसमें रसलीन के प्रसिद्ध मुहावरे को नये सन्दर्भ में रखा गया है श्वेत-स्याम-रतनार अंखिया निहार के। सिण्डकेटी प्रभुओं की पग-धूर झार के/लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के खिले हैं दांत ज्यों दानें अनार के/आये दिन बहार के। व्यंग्य सामाजिक विद्रूपता का पर्दाफाश करता है, मुखौटे उतारता है, पर चुनौती भी देता है। 'शासन की बंदूक' की पंक्तियां हैं : जली ठूंठ पर बैठकर गयी कोकिला कूक/बाल न बांका कर सकी शासन की बंदूक।' मुंहफट कविता में स्पष्टवादिता के लिए नागार्जुन बराबर याद किये जायेंगे। 'प्रजातंत्र का होम' में कुंडलिया शैली की पंक्तियां हैं : सामन्तों ने कर दिया प्रजातंत्र का होम/लाश बेचने लग गये खादी पहने डोम।

सामाजिक यथार्थ की गहरी पकड़ में नागार्जुन की कविताएं कहानी का रूप ले लेती हैं—स्थिति का प्रमाणीकरण करती हुई, और अपने संवेदन के साथ उपस्थित। इस दृष्टि से यों तो कई कविताएं विचारणीय हैं, पर 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' की अन्तिम कविता 'हरिजन गाथा' सबसे प्रभावी है। ऊंची जातियों वाले लोगों ने कई हरिजनों को एक विराट चिताकुंड में जिन्दा झोंक दिया। और पिता के चले जाने पर बंधुआ मजदूरी के यहां अभागे हरिजन नवजातक के आने की बात। उसके विषय में भविष्यवाणी कि : सबके दुख में दुखी रहेगा/-सबके सुख में सुख मानेगा/समझ बूझ कर ही समता का/असली मुद्दा पहचानेगा। इसे कवि अग्निपुत्र कहता है और : दिल ने कहा अरे यह बालक/निम्न वर्ग का नायक होगा/नई ऋचाओं का निर्माता/नये वेद का गायक होगा। हरिजन गाथा' को हम हम इस दृष्टि से एक सम्पूर्ण कविता कह सकते हैं जो बात कभी निराला ने पंत की 'परिवर्तन' कविता के लिए कही थी। यह कविता अपने समय की एक मर्मान्तक त्रासदी से उपजी है और इसने कवि को झकझोर दिया है। आहत संवेदन हरिजन की दयनीय दशा को सहानुभूति के साथ उरेहता है—सामाजिक यथार्थ को पूरी स्वीकृति देता हुआ : जीवन गुजारेगा हैवान की तरह/-भटकेगा जहां तहां बनमानुस जैसा/अधपेटा रहेगा अधनंगा डोलेगा/तोतला होगा कि साफ साफ बोलेगा। यहां नागार्जुन एक लोकप्रचलित प्रयोग करते हैं कि रैदासी कुटिया के अधेड़ संत गरीबदास से भविष्यवाणी कराते हैं और चमर टोली में जन्म लेने वाले भावी शिशु के विषय में क्रांतिकारी भविष्यवाणी कराते

हैं। यह कवि की प्रतिबद्धता है और उसका काव्य-स्वरूप भी : **श्याम सलोना यह अछूत शिशु/हम सबका उद्धार करेगा/आज सही सम्पूर्ण क्रांति का/बेड़ा सचमुच पार करेगा।**

नागार्जुन ने व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर भावुक कविताएं रची हैं और 'प्यासी पथराई आंखें' की आरंभिक दो कविताएं निराला के व्यक्तित्व की सही अभिव्यक्ति है—रामविलास शर्मा अथवा शिव मंगल सिंह 'सुमन' की तरह। 'आए कोई तुमसे सीखे' की पंक्तियां है : **कोई आए तुमसे सीखे/वह द्वापर वाली शरशय्या की चुभन आज/आए कोई तुमसे सीखे/युग का हालाहल पीना/आए कोई तुमसे सीखे यह रक्तदान/आए कोई तुमसे सीखे यह स्वाभिमान।** निराला ने अपने अंतिम काव्य संकलन 'साध्य काकली' में अपने विषय में स्वयं कहा है : **ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर**···। नागार्जुन ने गांधी, नेहरू, लेनिन, शास्त्री, राजकमल, बल्लभौल, शैलेन्द्र आदि पर कविताएं लिखी है जहां उन्होंने व्यक्ति के केन्द्रीय तत्व को पकडना चाहा है। व्यक्ति के इर्द-गिर्द रची गई कविता कितनी निर्वैयक्तिक हो सकती है, इसका प्रमाण है शास्त्री जी को समर्पित आरंभिक पंक्तियां : **सब खड़े रहे उसकी बलिवेदी के समीप/लौ चली गयी बिल्कुल ऊपर/रह गया रिक्त आकाशदीप। अथवा वह परम अकिंचन, कर्मवीर, वह सत्यसध/वह बारूदी बदबू पर ताजी मलयगंध।** यहां कवि युद्ध की भर्त्सना करता हुआ शांति का पक्ष लेता है। राजकमल को समर्पित उनकी लंबी कविता, 'अच्छा किया उठ गए हो दुष्ट', एक कविमित्र के प्रति संवेदना से उपजी है जहां कविकर्म के संकट का संकेत है, निराला की 'सरोज स्मृति' जैसा। यहां नागार्जुन जर्जर व्यवस्था पर चोट करते है और मूल्यों की लडाई लड़ने वाले कवि को अपना स्नेह देते हैं : **'निर्धूम अग्नि के मध्य/तुम्हारा यह आत्मदाह।** और कवि स्वयं को धिक्कारता है: **पा गये हो छुटकारा भवसागर के थपेड़ों से/अपना तो भई थेथरई है/निर्लज्ज, बेहया, कठजीव/मरेंगे नहीं जल्दी।** मनुष्यों की परिधि से आगे जाकर नागार्जुन ने मोतिया नेवला, मधुमती गाय को अपनी कविताओं में बांधा है जो उनके जेल-जिन्दगी के साथी थे। इससे कवि के व्यापक संवेदन का पता चलता है।

सामाजिक, राजनीतिक कविताओं के बीच एक और यात्री नागार्जुन हैं जो आज भी प्रकृति-दृश्यों में रमते-झूमते हैं। आज जब शहरीकरण के कारण कविता प्रकृत से दूर होती जा रही है तब नागार्जुन के इन प्रकृति-चित्रों की ओर ध्यान दिलाना और भी जरूरी है। पावस, कदंब, धनकुरंग, मेघ, खिले पात, जादुई परस (तुमने कहा था), बसंत, सुबह, चांदनी, हरे पात (खिचड़ी विप्लव देखा हमने) आदि प्रकृति-दृश्य हैं। यहां कवि अपनी पूरी संलग्नता के साथ एक दृश्य को सघनता से बांधता है, लगभग चित्र

बनाता हुआ, संवेदन के स्तर पर : **हिल रही, डुल रही, खिल रही, खुल रही/- पूनम की फागुनी रात/पकड़ी ने ढक लिए अपने सब गात/था चिर आकुल रोते प्राणों में/भर गया न जाने कितना रस/हिय आंगन में उतरे जाने/किन सुधियों के छौने सारस/जादुई परस/जादुई परस।** प्रकृति नागार्जुन की चिरपरिचित है और राजनीति यदि उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता का आक्रोश झेलती है तो प्रकृति उनके विराट मानव-संसार का अविभाज्य हिस्सा है जिसमें वे अब भी डूबते-उतराते है। सचाई यह है कि प्रकृति उन्हें नयी-नयी सामग्री देती है जिसका वे दृश्यों, बिम्बों, प्रतीकों के रूप में उपयोग करते हैं और अपने रचना-संसार को निरन्तर समृद्ध करते चलते है। नागार्जुन अपनी कविता का मुहावरा जिन्दगी से सीधे ही उठा लेते हैं और उसे कविता में अपनी सर्जनात्मक क्षमता से खपा देते है। कविता के गद्य का संस्करण बनते हुए समय में नागार्जुन की छंद और लय की सही पहिचान विशेष रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है—छन्द पर नियंत्रण की क्षमता। नागार्जुन की कविता भाषा के आभिजात्य को ललकारती हुई आगे बढ़ती है, जिन्दगी के बीच से पाए गए मुहावरे में अपनी बात कहती हुई, और यही हमें आश्वस्त करता है कि उनकी रचनायात्रा स्वयं को निरन्तर नये सन्दर्भों से जोड़ती रहेगी।

हजार हजार बांहों वाली

—आनन्द प्रकाश दीक्षित

नागार्जुन के इस कविता-संकलन मे सन् '42 से' 80 के बीच, चालीस साल के दौरान और स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व से लेकर अब तक, रची गयी 110 कविताएं संकलित हैं। अनुक्रम मे कविता-शीर्षको के साथ दिये गये सन् भले ही इस बात के सूचक है कि कविताएं रचना-कालक्रम से नही दी गयी है, रचनाओं के बीच एक आंतरिक भाव-संबध और विषयगत सुसंगति की उपस्थिति संकलन को एक प्रबंध का-सा रूप प्रदान करती है। अपनी पृथक् सत्ता रखकर भी कविताओं मे गूंजनेवाला अकेला स्वर पूरे प्रभाव मे गंभीर जन-रव मे बदल जाता है।

हजार हजार बांहो वाली विपन्न जनता से अंतरंग भाव से जुड़े और तत्काल प्रतिक्रिया करने वाले नागार्जुन अपनी रचना शक्ति को देश-काल को समर्पित कर देते हैं। तात्कालिकता के दबाव मे वे उस सैनिक की-सी मुद्रा अपना लेते हैं जो शत्रु-पक्ष की हर गतिविधि पर कड़ी नजर रखे हुए है और मौका पाते ही उस पर जोरदार हमला करके उसे ध्वस्त कर देता है। प्रतिहिंसा का भाव उनमें इतना प्रबल है कि वे एक बिल्ली की-सी सतर्कता से शत्रु को अपने पंजे मे दबा लेते हैं और उसके साथ खिलवाड़ करके उसकी मृत्यु पर उनमें सिर्फ एक संतोष नही जागता बल्कि उनके अंदर से कहीं अट्टहास उभरता है। तीखे और कठोर व्यंग्य के साथ वे इस-उस-सबकी धुनाई करते है। संग्रहकर्ता का इसे कौशल ही कहा जायेगा कि उनके इस व्यक्तित्व को उजागर करनेवाली दो कविताएं संग्रह में पहली और अंतिम है और बीच की सारी कविताएं इस कथन के व्यावहारिक प्रमाण। पहली कविता 'प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है' मे वे अपने आपको 'नव दुर्वासा' और 'महासिद्ध नागार्जुन' घोषित करते हुए 'अष्टधातुओ के चूरे की छाई में फूंक' भरने और सौ-सौ बार मरकर सौ-सौ बार जीने का प्रण और आत्मविश्वास भी व्यक्त करते है और प्रतिहिंसा को अपने कवि का स्थायिभाव बताते हुए जन-जन में ऊर्जा भरनेवाले रवि के उद्गाता बनने की अभिलाषा संजोते हैं। और अंतिम कविता में अपनी विरोधी भूमिका स्पष्ट करते हुए कहते है :—

विदेश के। पंचशील, पंच-वार्षिक योजना और देश की व्यवस्था से लेकर कांग्रेस, नेहरू, मोरार जी, नन्दा, रजनी पामदत्त, शेख, रंगा, मसानी, कामराज, सुखाड़िया, मिश्र, सहाय, संजय गांधी और अरविन्द हों या आइजन हावर तथा जानसन आदि, सभी उनके विष-बुझे तीरों का निशाना बने हैं। सहानुभूति मिली है तो जनता, लेखक और मास्टर को और फिर गाँधी, निराला, रुद्रदत्त भारद्वाज, स्टालिन, लेनिन, गोर्की, दंपति रोजनबर्ग, जोमो केन्याता, लूथर किंग, तैलंगाना के विद्रोहियों, संघर्ष-रत छात्रों और वियतनाम को। भगवान और आत्मा, धनपति और प्रकाशक, अत्याचारी पुलिस और तिकड़मी व्यक्ति, समान रूप से तिरस्कृत है।

भौतिकता के एकांत आग्रही नागार्जुन 'कल्पना के पुत्र' भगवान से वरदान के नहीं, शांति के विरुद्ध जलन, संताप, सदेह, उलझन, भ्रांति और बेचैनी के अभिशाप के आकांक्षी हैं, 'आग बरसाते रहें ये नैन / करूं में उद्दण्डता के काम / लूं न भ्रम से भी तुम्हारा नाम' के प्रार्थी हैं—बिगड़े हुए लड़के की तरह नहीं, पीड़ित और विद्रोही की तरह।

योगिराज अरविन्द और आत्मा की बांसुरी, दोनों ऐसी कविताएँ हैं जो अध्यात्म को नकारती हैं। अरविन्द के अध्यात्मवाद को चक्रव्यूह, उनके केन्द्र को बुद्धिहत्या का बढ़िया केन्द्र, स्वयं अरविन्द को विभ्रांत बुद्धिजीवी,' 'भारी भ्रम भगवान' और 'पाप' की संज्ञा देते हैं और 'आत्मा की बांसुरी' बजाने वाले 'चतुरचचा चिंतक' की बड़ी तनख्वाह, प्रचुरतम रायल्टी मारते हुए 'एकमात्र शाश्वत सत्य के प्रति लायल्टी' दिखाने के लिये खबर लेते हैं। नागार्जुन की लड़ाई रोटी-कपड़े के लिये है, इस सर्वतोपरि और प्रमुख लड़ाई के साथ उनका दूसरा मोर्चा आचरण-भ्रष्टता के विरुद्ध है। कविता को वे इसके विरुद्ध एक हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं। सौम्य या मुखौटे वाली शब्दावली में वे अपनी नाराजगी प्रकट नहीं करते, प्रतिपक्षी का मुंह नोच लेने या उसके कपड़े उतार लेने की मुद्रा में सामने आते हैं और स्वयं भी दिगम्बर हो जाते हैं, 'मुर्दा भगवान' की अंत्येष्टि भी उसे नंगा दफना कर ही करते हैं। 'यों भी क्या कपड़ा मिलता है? धनपतियों की ऐसी लीला!'

उन्हें 'फिलहाल' अमन का कबूतर छटपटाता और 'प्रजातन्त्र का बुरा हाल' दिखाई देता है। वे इस चिन्ता से ग्रस्त हैं कि मंहगाई के टैंक कौन तोड़ेगा? घास ढूंढते, दिन गिनते घिनौने बूढ़े शेर या सड़ी लाश के रूप में कांग्रेस को देखकर उनका मन उसे वोट देने के पछतावे से भर उठता है। नेहरू उन्हें ऊलजलूल बोलते दिखाई पड़ते हैं। अस्तु, उनकी कविताएँ समकालिक इतिवृत्त की कविताएँ हैं, समय का इतिहास हैं। वे वैयक्तिक अनुभव की आधारशिला पर रची गयी हैं, चाहे फिर वे राजनीति की हों या 'सौदा' की तरह प्रकाशक की दुर्नीति की या 'तिकड़म के ताऊ' की भांति तिकड़मी लेखकों-नेताओं के नंगपन की।

प्रकृति के चितेरे के रूप में भी नागार्जुन की एक विशिष्ट भूमिका रही है। पहली भूमिका में उनकी भाषा जितनी ही प्रखर और धारदार होती है, दूसरी भूमिका में उतनी ही तरल और लहरदार। बलाका, देवदारू, सफेद बादल, पीपल के पत्ते, करवटें लेंगे बून्दों के सपने, महामना मेघराज, जय हे कीचड़, आज मैं बीज हूं, हजार बाहों वाली शिशिर, दौड गयी है पुलकन रोम-रोम में, बदलियाँ हैं और बेतवा-किनारे 1 तथा 2, प्रकृति की ही कविताएं हैं। इन कविताओ का कवि 'बादल राग' के कवि निराला का समीपी तो नही है, यद्यपि अपनी पहली भूमिका के सहारे वह वैसा बन सकता था, पर शुद्ध प्रकृति के कुछ गीतमय, रागभीने और कुछ अपने मूलभाव की लपेट में आने वाले अन्योक्तिपरक अच्छे चित्र और प्रभावक उक्तियाँ अवश्य हैं। प्रकृति के सामीप्य में नागार्जुन बड़े सौम्य, भावनामय और मृदु हो उठते हैं। झीलो में स्वर्ण-कमल की अविकच कलियो के खिलने को खिलखिलाने से जोडकर नागार्जुन सहसा सारे वातावरण को उल्लास और रूप-तरग से आदोलित कर देते है। सफेद बादल दृष्टिपथ में आते ही कवि कालिदास और उनके 'मेघदूत' की स्मृति उन्हे बादलो के प्रति रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने मे सहायक हो जाती है। 'पीपल के पत्ते' कविता अपनी अन्योक्ति-भंगिमा मे कवि पंत की 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र' की आग्रहशील उत्सुकता की त्वरा से ही युक्त नहीं है, पीले पत्ते के प्रति उसमें सहज संवेदनशील मंथ रता भी विद्यमान है। 'लाल गुलाबी पत्तों' को जगह देने का आग्रह करते हुए नागार्जुन सहज आत्मीय वातावरण की सृष्टि करते हैं: 'हट जाओ, इनको अवसर दो / छोटे हैं, बढ़ने का वर दो / पूर्ण हो रही आयु तुम्हारी / तुम हलके, इनका दिल भारी / राह रोककर खड़े न होना / झूठमूठ के बड़े न होना / सारा श्रेय तुम्हें ही देंगे / अपने पूर्वज की उदारता / जीवन भर ये याद रखेंगे।' 'करवटें लेंगे बून्दों के सपने' कविता में रमणीय दृश्यावलि भी है, ग्रामांचल की भाषा की सोंधी उसास भी, सक्रिय चेतनता भी और गीत-लय की थिरकन भी। भविष्य के प्रति आस्था सम्पूर्ण कथन में मूल शक्ति की तरह व्याप्त है। पूरी कविता का अपना अलग व्यक्तित्व है, जैसे 'बदलियाँ हैं' कविता का। छोटे-छोटे भाव-बिन्दुओं से निर्मित 'बदलियाँ हैं' कविता प्यार और सम्मोहन की कविता है। भोलापन, अल्हड़ता, सादगी और मस्ती का आलम कवि ने बदलियों की बांहों मे भर दिया है। बरसात से नागार्जुन को कुछ खास ही लगाव है। 'महामना मेघराज' के साथ वे मुक्त छन्द में सहज संवाद स्थापित करते हैं: 'देखो भाई महामना मेघराज, / भाग न जाना कहीं और अब / आये हो तो जमे रहना चार-छै रोज / थोड़ी-बहुत तकलीफ होगी— उसे हम खुशी-खुशी लेंगे झेल··· / देखो भई, बन्द न करना अपना खेल।'

असल में नागार्जुन की कविताओं में जीवन की ऊष्मा है और उनकी कविताओं में प्राण भरती है आस्था और उनका विश्वास। कवितायें मोहभंग और आक्रोश की भी हों तो क्या हुआ? उनका विश्वास नहीं डगमगाता, वे निराशा से खीझ नही जाते। इसीलिए उनकी रचना-शक्ति बहुआयामी और उनका रचना-शिल्प

वैविध्यपूर्ण है। संप्रेषण उनके लिए विद्वद्चर्चा का विषय नहीं है, उनकी कविता का व्यवहार-धर्म है। गीत हो या मुक्त छंद, दोनों के मूल स्वरूप को धक्का पहुंचाये बिना वे सरल और सहज भाषा मे अपनी बात बड़े प्रभावशाली ढंग से कह लेते हैं। दुरूहता, अर्थ-वैविध्य, सूक्ष्मतम अर्थप्रसार, अन्तरतर के उलझाव को अभिव्यक्त करने वाली रूपक और प्रतीक-रचना उनकी कविताओं में कहीं नही दिखायी पड़ती। फिर भी उनका खिलंदरा मन जनता के बीच प्रचलित शब्दों और लयों की पकड़ से कविता में नित नया आवेग और अर्थ भरता रहता है। तुक के मेल, शब्दों की द्विरुक्ति, वाक्यों की अथवा वाक्यांशों की दुहराहट, लोकगीतों अथवा सिने-गीतों की प्रचलित लय, शब्दों की नादमयता, विशेषणों के प्रयोग, अपभ्रष्ट शब्द-रूप आदि के प्रयोग, कुछ ऐसे कौशल और लटके हैं जिनके सहारे नागार्जुन कविता की सपाटता में भी रंजकता, अर्थगर्भता और बिम्बात्मकता की योजना कर लेते हैं। अदेस उनके लिए वर्जित नहीं है, बल्कि प्रतिहिंसा और घृणा की सशक्त अभिव्यक्ति और अनुभूति के लिए बड़ा प्रबल माध्यम है। प्रचलित किसी भी शब्द का हुक्का-पानी उनके यहाँ बन्द नहीं है, चाहे वह किसी भाषा का हो। आये और तहजीब से अपनी जगह पर सुशोभित हो जाय। संस्कृत की सामासिक पदावली का अनवरुद्ध किन्तु भावानुकूल प्रवाह और सीधी खड़ी बोली की प्रांजलता, दोनों पर उनका समानाधिकार है। प्रस्तुत संग्रह की कवितायें इन विशेषताओं की प्रमाण हैं।

———

नागार्जुन के उपन्यास

—बेचन

नागार्जुन प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास परम्परा के एक ऐसे समर्थ कलाकार हैं जिनके उपन्यासों में ग्रामाचल परिवेश के कथा-वृत्तान्तो का सहज स्वाभाविक वर्णन मिलता है। उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम नागार्जुन के उपन्यासों के प्रकाशन के बाद ही हिन्दी में प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यासों का विवाद उठ खडा हुआ था।[1] दरअसल हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों को सच्चे अर्थों में जन्म देकर उस परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय विहार के उपन्यासकारो को ही मिलना चाहिए और उनमें सबसे पहला नाम आता है—हिन्दी के प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यासकार नागार्जुन का।[2] इनके उपन्यासों में आचलिकता के साथ प्रेमचन्द की औपन्यासिक परम्परा को जीवन्तता प्रदान करने की सक्रियता भी है। सच तो यह है कि जब प्रेमचन्द एवं प्रेमचन्द परम्परा की मांग आलोचक एक स्वर से कर रहे थे,[3] उसी समय आंशिक रूप मे प्रेमचन्द की सी प्रतिभा नागार्जुन के रूप में हिन्दी में आयी।[4] नागार्जुन के उपन्यासों के द्वारा न केवल प्रेमचन्द की औपन्यासिक परम्परा जी उठी वरन् इनके कुछ उपन्यास एवं चरित्र विकास प्रेमचन्द की परम्परा का विकास लेकर आये।

रुद्र ने जिस प्रकार 'बहती गंगा' में काशी क व्यक्तित्व विकास दिखाया है, उसी प्रकार नागार्जुन ने मिथिला का चरित्र विकास उपस्थित किया है। मिथिला अचल के परिप्रेक्ष्य में फैले असंख्य नर-नारी, बाल-वृद्ध, पशु पक्षी, तालाब-पोखर, पेड़-पौधे आदि को लेखक ने सजीव कर दिया है। आंचलिक उपन्यास कहते ही उसे हैं जिसमें किसी स्थान-विशेष का सम्पूर्ण जन-जीवन अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ प्रतिबिम्बित हो उठता है। नागार्जुन के सभी चरित्र मिथिला से सम्बद्ध है, जो मिथिला का व्यक्तित्व विकास करते हैं। मिथिला के ग्रामीण जीवन से उनका इतना घनिष्ठ परिचय है कि हम उनके प्रत्येक उपन्यास में एक ऐसा आत्मीय भाव पाते हैं जो बहुत थोडे कथाकारों को सुलभ हो पाता है। अतएव नागार्जुन के चरित्रों को मिथिला अंचल के परिप्रेक्ष्य मे रखकर अध्ययन किया जाना चाहिए।

1. कल्पना (मार्च 1954), प्रो० प्रकाश चन्द्र गुप्त।
2. साहित्यिक निबन्ध (राजनाथ शर्मा), पृ० 808
3. नयी समीक्षा (अमृत राय), पृ० 136
4. अध्ययन के विचार (बेचन), पृ० 20

नागार्जुन ने उपर्युक्त भाव भूमि पर उपस्थित होकर जिस उपन्यास परम्परा को जन्म दिया है, उसमें 'रतिनाथ की चाची' उनका पहला उपन्यास है। बाबा बटेसरनाथ, बलचनमा, नई पौध, वरुण के बेटे, दुखमोचन, हीरक जयन्ती, उग्रतारा, इमरतिया आदि उपन्यास इसी परम्परा को आगे बढाने वाले उपन्यास है। बलचनमा इनमें सर्वश्रेष्ठ उपन्यास हैं। कला और शिल्प की दृष्टि से उनके उपन्यासो में आदर्श आंचलिक उपन्यास के सारे गुण सहज ही मिल जाते है।

नागार्जुन का पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' (1948) आजादी के प्रथम प्रहर का उपन्यास है जिसमें वे विकृत सामन्ती संस्कारो एवं जीवन-व्यवस्था के चित्र उतारते हैं। नागार्जुन के भीतर जिस सामाजिक दुर्व्यवस्था की पीड़ा वर्षों से थी, उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति इस उपन्यास में हुई है। नागार्जुन ने मिथिलाचल को आधार भूमि बनाकर 'बाबा बटेसरनाथ' के माध्यम से अपनी नवीन औपन्यासिक स्थापनाएं एवं नवीन चरित्र प्रयोग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। रुपउली ग्राम का बूढा बटवृक्ष जब उसके नीचे सोये हुए जैकिसन के सामने बड़े-बड़े सफेद बाल, भारी सिर और लम्बी घनी दाढ़ी के साथ एक विशालकाय मानव के रूप में गोरैया का चूजा गोद में लिये हुए उपस्थित होता है और अपनी, जैकिसुन के पूर्वजों की, रुपउली ग्राम की, मिथिला प्रदेश की और समूचे देश की कथा सुनाने लगता है तो पाठक का कुतूहल आकर्षण उसी में बंध जाता है, भले ही बाद में वह बिखर कर भटकने लगे। किन्तु जैकिसुन के स्वप्न की यह कथा जो उपन्यास की मुख्यकथा की पृष्ठभूमि उपस्थित करती है, 148 पृष्ठों के उपन्यास में पूरे 101 पृष्ठों तक चलती है। उसके बाद जैकिसुन और जीवनाथ जागकर कर्म प्रवृत्त होते हैं और कम्युनिस्ट पार्टी की सहायता से कांग्रेस शासन के विरुद्ध विजय प्राप्त करते हैं। 48 पृष्ठों की यह शेषकथा ही मुख्य है और इसी की समाप्ति 'स्वाधीनता', शांति और प्रगति' के नारे के साथ होती है इसीलिये बाबा बटेसरनाथ नवीन कथा प्रयोग है।[5]

'बाबा बटेसरनाथ' में लेखक ने बेदखली के विरुद्ध किसानों के एकजुट जनवादी चरित्र का चित्र खींचा है। किसान संघर्ष में विजयी होकर स्वतन्त्रता, शान्ति और प्रगति की पताका फहराते हैं। इस उपन्यास का चरित्रतत्व भी नये औपन्यासिक मूल्य की स्थापना करता है। एक बूढ़ा बटवृक्ष इसके मुख्य नायक की भूमिका का पार्ट अदा करता है। वटवृक्ष का मानवीकरण किया गया है। अवश्य ही यह लोक चरित्र को नवीन साहित्यिक संस्कार प्रदान करने का प्रयास है।[6]

हिन्दी के एक समर्थ आलोचक ने शायद नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' के प्रकाशन के कुछ दिनों पूर्व ही लिखा था—"हिन्दी के साम्यवादी साहित्यिक

5. आलोचना (17), पृ० 34
6. कल्पना (मार्च 1954), प्रो० प्रकाश चन्द्र गुप्त

किसान मजदूर लेखक के रूप में प्रेमचन्द की पूजा करते हैं। इस वर्ग के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सचमुच ही आश्चर्यजनक ज्ञान और अनुभव के साथ लिखा भी है। उनके बाद किसी भी उपन्यासकार ने किसान मजदूर वर्ग से सम्बद्ध उल्लेख्य उपन्यास नहीं लिखा है—घोर समाजवादी उपन्यासकारों ने भी नहीं।"[7] इस घोषणा के एक साल के अन्दर ही साम्यवादी कवि उपन्यासकार नागार्जुन का बलचनमा (1952) प्रकाशित होकर जनता के समक्ष आया। आलोचकों ने भिन्न-भिन्न राय इस पर जाहिर की लेकिन इस बात को कोई नही झुठला सका कि "प्रेमचन्द की परम्परा में यदि सचमुच जन साधारण के दर्द को, जन साधारण की पीड़ा को उसने अनुभव किया है तो 'बिल्लेसुर-बकरिहा' के बाद 'बलचनमा' उपन्यास में ही हमें वह जनदृष्टि देखने को मिलती है।[8]

नागार्जुन के उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा को स्थापित कर जन साधारण को भी वाणी देने मे समर्थ हुए हैं, बल्कि उन्होने प्रेमचन्द की परम्परा को बढ़ाया है। नागार्जुन ने ऐसे सामाजिक यथार्थवादी चरित्रो को चित्रित किया जो प्रेमचन्द के 'होरी' और 'गोबर' की तरह आज न केवल सामाजिक विकृतियो और पिशाचों का शिकार होकर मर जाता है बल्कि उससे मुक्ति के लिये वह संघर्ष भी करता है। वह जाग रहा है, उसमे दृढ़ता आ गई है। बलचनमा, बिशेसरी, दुखमोचन और गांव के नौजवान इत्यादि टूट सकते हैं, पर झुक नही सकते हैं। यही आज के चरित्र की विशेषता है–उनका गौरव और उनकी मानवता है। नागार्जुन ने 'बलचनमा' के रूप में भारतीय जीवन के एक ऐसे पात्र को लिया है जो कभी भारतीय साहित्य का विषय नही बना था।[9] प्रेमचन्द ने होरी ऐसे निम्न वर्ग के पात्र का वर्णन किया पर वह एक अच्छा किसान भी नजर आता है। बलचनमा उससे भी निम्नकोटि का है और वस्तुतः ऐसे भूमिहीन निम्नकोटि मजदूरो की संख्या भारत में बहुत है। ऐसे पात्रों को खोज निकालना बतलाता है कि नागार्जुन को दृष्टि कितनी तीव्र है। भारतीय किसान एवं जनसाधारण की असीम शक्ति को नागार्जुन ने पहचाना और अपने उपन्यासो में चित्रित किया।[10]

नागार्जुन के 'बलचनमा' को अगर उसकी पृष्ठभूमि में देखा जाए तो सहज में ज्ञात होगा कि इनके उपन्यास में कितनी संपूर्णता है। अगर किसान मजदूरों के आन्दोलनों का चित्रण नागार्जुन करते है तो वह सब बिल्कुल सच है। आज मनुष्य मुक्ति की ओर तेजी से दौड़ रहा है। स्वाभाविक राजनीति चेतना (माँग के लिये आन्दोलन और किसान मजदूरों का संघर्ष) अपने आप जनसाधारण मे आ रही है। उनकी परिस्थितियाँ उन्हें उस ओर जाने के लिये प्रेरित कर रही है। उनकी गरीबी

7. आलोचना (इतिहास अक), प्रो० नलिन विलोचन शर्मा, पृ० 118
8. प्रभाकर माचवे (आजकल, मार्च 1953), पृ० 14
9. अध्ययन के विचार, पृ० 21
10. कांटे, पृ० 90

उनसे कैफियत मांगती है कि तुम मेहनत के बाद भी गरीब क्यों हो ? सरकार जब बड़ी-बडी योजनाएँ बनाती है तो हमारा कोशी बांध क्यों नही बनता ? चीन और रूस मे भयकर नदियों को जनता की सरकार ने बांधा तो हमारी राष्ट्रीय सरकार भी इसे बाधने में क्यो समर्थ नहीं होती ? क्यों आज सर्वे (survey) होने पर जमीन से हमें जमींदार और बड़ा जोतदार बेदखल करने के लिये तैयार है ? कुछ समय पूर्व पूर्णियाँ जिले में इनका नग्न रूप देखने को मिला। क्यो आज वे अपनी सारी शक्ति जमीन पर ही लगा रहे हैं ? जमीदारी हटने से आज जमींदार बड़े-बड़े ट्रैक्टरों द्वारा अपनी जमीन स्वयं जोतना चाहते हैं, पर जो किसान शुरू से उसे जोतता आया है, उसे सहज में हटाने से संघर्ष उत्पन्न होने लगता है। आखिर वे जमीन छोड़ेंगे तो खाएँगे क्या ? जाएगे कहाँ ?

नागार्जुन के उपन्यासों को उठते हुए जन आन्दोलन की इस पृष्ठभूमि में रखकर देखना है। अगर ऐसा नही किया जाता, तो बहुत सारी गलतफहमियाँ उत्पन्न होंगी। नागार्जुन के उपन्यास में न केवल बिहार, वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र आज बोल रहा है। घटनाओं का यह जमघट आज जीवन की वास्तविकता है जिसे सम्पूर्णता में लाने का प्रयास नागार्जुन ने किया। पर दुर्भाग्य है कि हिन्दी के आलोचक नागार्जुन के उपन्यासों की इस सम्पूर्णता को नहीं समझ सकने के कारण कहते हैं कि 'उसमें (बलचनमा में) उपन्यास की सम्पूर्णता नही है।'[11] जबकि सच्चाई यह है कि उसमे जो पूर्णता है वह 'गोदान' के बाद किसी उपन्यास में नहीं आ सकी है। पर उस सम्पूर्णता को नागार्जुन बिलकुल इतिवृत्तात्मक ढंग से उभारकर नहीं रखते। उसकी ओर संकेत भर करते हैं, जिसे समझना आलोचकों एवं पाठकों का काम है।

इसी रेडियो वाद-विवाद में अज्ञेय जी कहते हैं कि 'कला की दृष्टि से भी उसमें वह कला नही है जोकि आवश्यक है, बल्कि 'बिल्लेसुर बकरिहा' में निराला जी हमेशा एक सतर्क कलाकार रहे हैं।' अज्ञेय जी की इस आलोचना के सम्बन्ध में मैं कहना चाहूंगा कि कला को जिस अर्थ में वे समझते हैं, उसे नागार्जुन नहीं चाहते हैं। वह उनकी परम्परा से भिन्न पड़ती है। शायद इसीलिए कि उसमें न तो शैली गढ़ने का मोह ही है और न बन्द कोठरी में 'नदी के द्वीप' या शेखर की तरह मानसिक घुटन की कसरत करने की आदत ही है। इसे ही शायद अज्ञेय जी totality कहते हैं, जिससे कि करुणा उत्पन्न की जा सके, पाठक का मस्तिष्क कैपचर हो। पर नागार्जुन का स्वाभाविक सरल चित्रण ही पाठक के मस्तिष्क को झकझोर डालता है। जैसा अस्त-व्यस्त आज का जीवन है, कुछ इसी प्रकार की अस्त-व्यस्तता 'बलचनमा' में है। इसीलिये कभी-कभी उपन्यासों की चमत्कारवादी टेकनीक के अनुसार तोलने पर 'बलचनमा' में तारतम्य नजर नहीं आता और

---

11. एक रेडियो वाद-विवाद में 'अज्ञेय'

डॉक्टर नगेन्द्र जैसे विद्वान आलोचकों को भी इसमें सर्जनाशक्ति क्षीण मालूम पड़ती है। इसमें वर्णन है, सर्जन इसमें बहुत कम है। यह तर्क मानते हुए भी अपूर्ण है। 'बलचनमा' में सर्जन केवल इसीलिये नहीं है कि वह उपन्यासकार के मस्तिष्क की उपज नही है। वह महान् भारत के विशाल भूखण्ड का 'टाइप' है। उसे परिस्थितियों ने उत्पन्न किया है इसीलिए उपन्यासकार उसके उत्पन्न होने की परिस्थिति का ही वर्णन कर सकता है, कर भी सका है, सर्जन नहीं।

डॉ० नगेन्द्र ने आगे कहा है "'बलचनमा' के बलिष्ठ-व्यक्ति का, जोकि कल्पना हम उसके मुखपृष्ठ को देखकर करते हैं, जितना बलिष्ठ वह चित्र चित्रकार ने अंकित मुख पृष्ठ पर खीचा है, उतना बलिष्ठ चित्र नागार्जुन उपन्यास के भीतर नही कर सके हैं। मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि बलचनमा के व्यक्तित्व को लेखक की चेतना अपने गर्भ में सभाल नहीं सकी। भावो और विचारों की गर्मी से उसका अकाल प्रसव हो गया है, ऐसा लगता है।"

डॉ० नगेन्द्र बलिष्ठ व्यक्तित्व किस अर्थ मे लेते है? बलिष्ठ चरित्र (character) से या शारीरिक दृष्टिकोण से? ऐसा जान पड़ता है कि डॉ० नगेन्द्र का अभीष्ठ शारीरिक बलिष्ठता ही है। अगर शारीरिक बलिष्ठता ही मानी जाये तो उसमें भी कोई ऐसी अत्युक्ति नही है। 'बलचनमा' जैसे बलिष्ठ व्यक्तित्व के लिए ही यह सम्भव था कि वह मार खाते-खाते भी बच गया, मात्र बेहोश हुआ, मरा नही। अगर उसके बलिष्ठ व्यक्तित्व का सम्बन्ध चरित्र से जोड़ा जाय तो वह भी खरा उतरता है। श्री श्यामू संन्यासी ने 'बलचनमा' की आलोचना करते हुए कथासार में भी इस ओर संकेत किया है। बलचनमा का आरम्भिक जीवन भारत के औसत अनाथ, किसान बच्चों का जीवन है, जिसकी ईमानदारी, चारित्रिक दृढ़ता और समाजोपयोगी सार्थक परिश्रम को कड़ा से कड़ा अत्याचार भी मिटा नहीं सकता। इसीलिए वय प्राप्त हो जाने पर जब छोटा मालिक उसकी बहन रेवती का हाथ पकड़ता है, तो अपनी मां की बात 'मर जाना अच्छा है, पर इज्जत का सौदा करना अच्छा नही' को गाँठ बाँधकर वह मन में ठान लेता है कि चाहे उजड़ जाना पड़े, चाहे 'जहल दामुल' हो, चाहे फांसी चढ़ूं मगर जालिम के सामने कभी सिर नहीं झुकाऊंगा। और अन्त में पक्का प्रौढ़ घरबारी बन जाने के बाद जब धरती, खेत, फसल और किसान के हितों की रक्षा के लिए सीधे संघर्ष का प्रश्न आता है, तो भी वह कदम पीछे नही हटाता।

सोचता है 'महपुरा में एक किसान जान से मारा गया था, यहाँ भी कितनो की लाशें गिर सकती हैं। उनमे मैं भी हो सकता हूं। किसान और मौत का आमना सामना तो सदा ही होता रहता है। इसीलिये जिस नए रास्ते पर कदम बढ़ाया है, उसे अच्छी तरह समझ लेने के बाद मेरी रीढ़ एकदम सीधी हो गई, एक अनूठी ताजगी महसूस की, सीना तन गया।'[12] और निर्भय हो, संघर्ष में कूद पड़ा,

12. नया पथ (अगस्त 53)

ठेठ किसान जनता के बीच नये किसान नेता का आविर्भाव हुआ। बलचनमा के सबल व्यक्तित्व का इससे बड़ा परिचय और क्या मिल सकता है ? यह बात मान्य है कि नागार्जुन किसानों की हड्डी पसलियां एकत्र कर अन्यान्य लेखकों की तरह करुणा उत्पन्न करना नहीं चाहते।

बलचनमा में कोई रोग नहीं है। वह रोग से नहीं मर रहा है, बदहाली और दमन की चक्की मे पीसा जा रहा है। वह मेहनत करता है, मकई की रोटी और भुजा खाता है, इसलिए उसका शरीर काफी स्वस्थ है। आज बिहार के गांवों में हजारों बलचनमा जैसे राऊत, मुसहर इत्यादि जाति के मजदूर किसान मिलेंगे, जो भूखे हैं, पर उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ मालूम पड़ता है। थोड़ा सा चना चबेना चबाकर भी चौबीसों घण्टे खटते हैं।

नागार्जुन के उपन्यासों की समीक्षा जब उनके व्यक्तित्व के आधार पर की जाती है, तब भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। शायद इसीलिए लॉरेन्स ने लिखा है—'कहानी पर विश्वास करो कहानीकार पर नहीं' पर आलोचकों ने कहानीकार पर ही (नागार्जुन पर) विश्वास करना चाहा है और कथाकार का विशेष राजनैतिक दल से सम्बन्ध होने से उनका उपन्यास भी उनकी नजरों में निकृष्ट साबित हुआ। किन्तु उपन्यास को देखने पर एवं उस पर विश्वास करने पर सारे तर्क टूट से जाते है।

बलचनमा के माध्यम से नागार्जुन ने खुले आम ऐलान कर दिया कि भूमिहीन किसान जाग रहे हैं, उनमें राजनीतिक चेतना आ गई है और इनके द्वारा स्थापित शासन ही शासन हो सकता है, उसी में मानवता का कल्याण है।[13] प्रेमचन्द ने ही पहले-पहल भारतीय जनता को चित्रित करने की चेष्टा की थी।

उसके पहले किसान मजदूर भारतीय साहित्य के प्रमुख पात्र नहीं बन पाये थे। परन्तु प्रेमचन्द के पात्रों में एक द्वन्द्व था जो उन्हें बिल्कुल आगे नहीं बढ़ने दे रहा था। नागार्जुन के चरित्रों में वह द्वन्द्व नहीं है क्योंकि नागार्जुन ऐसे राजनीतिक मतवाद को मानने वाले हैं जिसमें किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है।

उपर्युक्त राजनीतिक चेतना के सम्बन्ध में 'बलचनमा' के चरित्र विकास का एक उदाहरण अपेक्षित है।

—"कामरेड"—यह तो मैंने कभी सुना नहीं था। लाज के मारे उस रोज तो इसका मतलब मैं मालूम नहीं कर सका लेकिन दो रोज बाद मालूम हो गया। कामरेड का मतलब है लड़ाई का साथी। एक ही मोर्चे के दो फौजी जवान एक दूसरे को कामरेड कहकर बुलाते हैं। अपने हक के लिए लड़ने वाले हम गरीबों के लिये कामरेड से ज्यास्ती प्यारा कोई लफ्ज है ही नहीं।"

---

13. अध्ययन के विचार, पृष्ठ 22

प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि "इस उपन्यास के द्वारा नागार्जुन ने भारत के दलित वर्ग हरिजन को छोड़कर खेत मजदूर की कहानी प्रस्तुत की है। इस दिशा मे उन्हे सफलता भी मिली है। बलचनमा मे एक बात मार्के की है। बलचनमा क्रमश: निम्नावस्था से बेहतर अवस्था की ओर बढता है। नागार्जुन की यह खूबी है कि उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि बलचनमा जैसा असभ्य और अपढ़ मनुष्य भी उच्च मानवीय गुणों से भूषित रहता है।" इस प्रकार बलचनमा खेतिहर मजदूर और भूमिहीन किसानो मे एक नवीन क्रान्ति चेतना को जगाने में सफल हुआ है।

बलचनमा की अन्तिम स्थिति के सम्बन्ध मे एक भ्राँतिपूर्ण वाक्य मिलता है कि—"बलचनमा का अन्त एक महान् चरित्र के अन्त जैसा प्रतीत होता है।"[14] अन्त मे उसका गौरवपूर्ण अन्त होता है। आलोचक ने उसे मरा हुआ समझ लिया पर वस्तुत: बलचनमा मरा नही है, वह मार खाकर बेहोश हो गया। 'बलचनमा' में नागार्जुन ने भूत को देखा है (1935 तक की बिखरी राजनीति को) और द्वितीय भाग में वर्तमान को देखेंगे। नागार्जुन ने इस पक्ति के लेखक को बताया था कि 'बलचनमा' का अन्तिम भाग उस दिन लिखा जाएगा जिस दिन बलचनमा अपनी जमीन को स्वय अपने ट्रेक्टर पर चढ़कर जोतेगा। यह कितना विराट स्वप्न है, पर बिल्कुल अतिरंजित नही। इसे तो होना ही है।

भाषा की दृष्टि से भी नागार्जुन का 'बलचनमा' एक नवीन प्रयोग है। चन्द्रगुप्त विद्यालकार ने लिखा है "उत्तर पूर्वी बिहार का चित्रण करते हुए नागार्जुन ने जिस तरह वहाँ के जानदार मुहावरों और अर्थपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है, उससे 'बलचनमा' की शैली और भी सजीव हो गई है।" नागार्जुन में शैली की विशिष्टता का कारण यह है कि मैथिली मिश्रित हिन्दी का प्रयोग हिन्दी साहित्य में नागार्जुन से पूर्व कभी नही हुआ था। इस क्षेत्र में नागार्जुन अकेले हिमालय पर्वत के समान खड़े हैं।

नागार्जुन ने प्रचलित ग्राम्य शब्दों का प्रयोग अत्यन्त कुशलता के साथ किया है। नागार्जुन का बलचनमा कहता है 'गिलेसन घूमते हुए टीसन पर आए।' आज दरभंगा की पढ़ी-लिखी जनता भी ग्रियर्सन बाजार (Grierson Market) को 'गिलेसन' ही कहती है। 'स्टेशन' को टीसन बोलना तो आम बात है, जिसे आसानी से देहाती भाइयों के मुँह से बिहार मे सुना जा सकता है।

मिनिस्टर को 'मलिस्टर', मैजिस्ट्रेट को 'मजिस्टर' और मिलीटरी को 'मलेटरी' इस अंचल (मैथिली) की जनता तो बोलती ही है। इस भाषा का स्वाभाविक यथार्थ प्रयोग क्या मात्र कल्पना है ? प्रकाशचन्द्र गुप्त ने तो नागार्जुन की शैली के गुणों को मानते हुए स्पष्ट रूप से अपनी राय दी है कि नागार्जुन हिन्दी गद्य

---

14. चन्द्रगुप्त विद्यालकार

की शब्दावली को एक नया गुण प्रदान करते हैं ।[15] 'बलचनमा' की भाषा, भाव आदि को नूतन मानकर ही चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने इसे हिन्दी ने नए श्रेष्ठ उपन्यासो मे स्थान दिया है ।

जहा तक नागार्जुन के उपन्यासों में पात्रोचित भाषा प्रयोग का प्रश्न है, नागार्जुन की भाषा मे पात्रो के अनुसार परिवर्तन होता रहता है । सभ्य ब्राह्मण शुद्ध एवं सस्कृत मैथिली एवं हिन्दी बोलते है । गंवार, मुसहर, धानुक और ग्वाले एक प्रकार की भाषा बोलते है, जिसे नागार्जुन गुअर टोली, बभनटोली इत्यादि की भाषा कहते है । नागार्जुन ने नई भाषा-शैली का प्रयोग किया है । उन्होने 'बलचनमा' में जिन नए-नए शब्दो और मुहावरों का प्रयोग किया है तथा एक नई शैली दी है उसे नागार्जुन शैली कह सकते है ।

इस प्रकार 'बलचनमा' नागार्जुन का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है जिसमे दृढ़ समाजवादी चरित्र का विकास दिखाया गया है और समाज मे भूमिहीन किसानों की समस्याओं को एक दृढ़ संचेतना तथा 'नवीन क्रांति साधना' के माध्यम से सुलझाने का प्रयास किया गया है । बलचनमा एक प्रतीक पात्र है जिसमे समष्टि चेतना का विकास सामाजिक व्यवस्था पर दिखाया गया है तथा एक उज्ज्वल भविष्य की कामना हेतु अन्ततः वह मरता नही, अर्द्ध चेतनावस्था मे पड़ा रहता है । नागार्जुन और रेणु के दृष्टिकोण में यही मूल अन्तर है । नागार्जुन 'एक जुट होकर हमें सब करना है' की सामूहिक भावना को उभार कर चले हैं । वह 'परती-परिकथा' के एक जितेन्द्र ही नहीं अपितु संपूर्ण जनता के हृदय परिवर्तन में आस्था रखते है । इसके विपरीत रेणु की जन-चेतना की सामूहिक अपार शक्ति में कोई आस्था नही है ।[16]

इसी प्रकार नागार्जुन के उपन्यास 'नयी पौध' में मैथिल समाज के घृणित परम्परागत कर्मों का पर्दाफाश किया गया है । मैथिल ब्राह्मणों में कच्ची अवस्थावाली कन्याओं के ब्याह बूढ़े से भी होते हैं । कन्या के सम्बन्धी इस प्रकार धनार्जन भी कर सकते हैं । इसी कथा को नागार्जुन ने अपने उपन्यासों का आधार बनाया है । चौदह-पन्द्रह वर्ष की कन्या से बूढ़ा अपना पाँचवाँ ब्याह करना चाहता है । गाँव का तरुण वर्ग इस विवाह का विरोध करता है और पंडित समाज की गहरी सड़ांध और तरुण वर्ग का विद्रोह उभरता है । इसमें वर्णित कथा का निर्वाह सफलता पूर्वक किया गया है ।

'वरुण के बेटे' नागार्जुन का पाँचवाँ उपन्यास है । मछुओं के दुख-सुख की सीधी-सादी कथावस्तु इस उपन्यास का आधार है । गढ़ पोखर सदियों से इन मछुओं की जीविका का सहारा था । देश को तो स्वाधीनता मिली, मगर गढ़ पोखर जैसा महान जलाशय अब भी जमींदारों की व्यक्तिगत जायदाद बना रहा । अपने अधिकारों

15. कल्पना (मार्च 54)
16. साहित्यिक निबन्ध, राजनाथ शर्मा, पृष्ठ 810

के लिये मछुएआगे बढ आए, जमींदारों की मनमानी के खिलाफ एक-एक मछुआ उठ खडा हुआ—भोला, खुरखुन, मंगल, मधुरी, मोहन माझी इस उपन्यास के प्रमुख चरित्र है।

ये सभी चरित्र 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसरनाथ' की परम्परा के चरित्र हैं।[17] नागार्जुन ने भारतीय जीवन के उपेक्षित निम्नवर्ग के चरित्रो को चित्रित किया, जिसका चित्रण अब तक के किसी भी उपन्यास में नही हुआ था। इस प्रकार चरित्र विकास की दृष्टि से नागार्जुन ने समस्त हिन्दी साहित्य के स्तर पर मील स्तम्भ कायम किया है।[18]

इसके बाद नागार्जुन का उपन्यास 'दुखमोचन' आता है। इस उपन्यास में एक ग्राम के नवनिर्माण की कहानी कही गई है। केवल भौतिक नवनिर्माण की नहीं, वहाँ के निवासियो के मन, प्राण, भावना और विश्वास के नवनिर्माण की कहानी। दुख-मोचन उपन्यास का नायक है, जिसकी आत्मकथा के सहारे गाव में सुधार आता है। वह सुधारवादी नायक है। सहकारिता, ग्राम रक्षा, राष्ट्रीय विकास खण्ड, नहर, डेम, रिलीफ, श्रमदान आदि की सरकारी योजना मे सहयोग देने वाला। राष्ट्रीय नव-निर्माण और जागरण का प्रतीक पात्र वह है। रूढ़ियों से लड़ना, रूढ़िवादियों का हृदय परिवर्तन करना और प्रतिक्रियाशील शक्तियों को पराजित करना उसका कर्त्तव्य है। इसी प्रकार गाँव की और भी अनेक समस्याओं का समाधान लेखक ने दुखमोचन से कराया है। लेखक ने जितने सद्गुणों का आरोप अपने इस नायक पर किया है, उनका बोझ वह ठीक-ठीक संभाल नही पाता।

वह व्यक्ति न रहकर एक टाइप बन गया है। ऐसा लगता है कि इस उपन्यास की सृष्टि लेखक ने आज सरकार की ओर से हो रहे प्रचार कार्य के लिये की है।[19]

'हीरक जयन्ती' नागार्जुन का एक श्रेष्ठ व्यंग्यात्मक उपन्यास है। नेताजी का जो रूप यहाँ खड़ा किया गया है, वह सहज ही इसे अंचल विशेष के नेताजी का गुण प्रदान करता है, अतः इसमें आंचलिक नेतागिरी का यथार्थ चित्र मिलेगा। सभी चेहरे हमारे आपके जाने पहचाने से लगते हैं। पिछले कई वर्षों से ऐसा व्यग्यात्मक लघु उपन्यास अपने देश की किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ। सम्मान की तृप्ति में विभोर होकर माननीय मंत्री महोदय ने कहा— "शासन और सत्ता की जरा भी लालसा हमारे अन्दर नही है। हाँ, इस बात की लालसा जरूर है कि जनता जनार्दन की सेवा के लिये अन्तिम क्षण तक हम अपने तन मन का उपयोग कर सकें......" किन्तु नेताजी जनता को ठुकरा कर अपनी हीरक जयन्ती मनवाते है। धन का दुरुपयोग होता है। भारत के अलावा किसी भी अन्य स्वतन्त्र देश मे ऐसा नहीं होता—

17. आलोचना, उपन्यास विशेषांक, पृष्ठ 209
18. मन्मथनाथ गुप्त (सरिता, 1958 फरवरी)
19. नया पथ (अप्रैल 1958), पृष्ठ 169

"ब्रिटेन, अमेरिका और रूस में आज भी मिनिस्टर को न थैली ही दी जाती है, न अभिनन्दन ही होता है उसका। लेकिन हमारे देश में यह नाटक दस वर्ष अभी और चलेगा। अभी तो खैर हमारे व्यापारी समाज को भी यह सब अच्छा लगता है।"[20]

नागार्जुन ने 'उग्रतारा' में नायिका उग्रतारा अर्थात् उगनी के सहारे सामाजिक जीवन को चित्रित किया है। स्वाभाविक रूप से नागार्जुन की सामाजिक यथार्थवादी दृष्टि अर्थात् समाजवाद इसमें उभरा है। इसी तरह 'कुम्भीपाक' में विभाकर, इन्दिरा भुवन आदि की सामाजिक कहानी यथार्थवादी शैली मे कही गई है। उपन्यास के माध्यम से प्रगतिशील नारी चरित्रों का दर्शन होता है, ऐसे नारी पात्र जिनके प्रति आज भी हमारा दृष्टिकोण नहीं बदला है। इसीलिये अक्सर हम उसके सामाजिक संघर्ष को दुराचार की संज्ञा देते हुए नही थकते। कालेजों से पढ़ लिखकर लड़कियाँ निकलती है, पुराने समाज के जंगल में खो जाती हैं। शिक्षा, चिकित्सा आदि कई विभाग हैं, जिनमें स्त्रियाँ अपनी योग्यता के प्रमाण पेश कर चुकी है। शासन और निर्माण के कुछ ही क्षेत्र होंगे जिनमे स्त्रियाँ काम नहीं कर सकती। दरअसल हम ही उन्हें रोके हुए हैं।[21]

1968 में प्रकाशित नागार्जुन के उपन्यास 'इमरतिया' में नायिका इमरतिया ठगों, गिरहकटों और गजेडी साधु संन्यासियों के कुचक्र मे उलझी एक ऐसी औरत है, जिसकी छांव हमें अपने समाज में देखने को मिलती है।

नागार्जुन के उपर्युक्त सारे उपन्यासों का कथा क्षेत्र मिथिलांचल ही रहा है। अपने इन उपन्यासों में नागार्जुन ने इस अंचल विशेष के सम्पूर्ण जन-जीवन को उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक-धार्मिक समग्रता के साथ अंकित किया है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ यह प्रदेश स्वातन्त्र्य के उपरान्त अपनी वर्तमान दीन-हीन स्थिति के प्रति विद्रोह कर किस प्रकार नवीन चेतना से प्रभावित हो नए जीवन के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हो उठा है, इन सबका नागार्जुन ने बड़े यथार्थवादी शिल्प और शैली के द्वारा चित्रण किया है। नागार्जुन के उपन्यास ग्रामांचल के कथा वृत्तांतों की यथार्थता को इस सहज शैली में अभिव्यक्त करते हैं कि उनकी सम्पूर्ण परिस्थितियां पाठकों के आगे झिलमिलाने लगती हैं। नागार्जुन की लेखनी का यही कमाल है।

कला और शिल्प की दृष्टि से उनके उपन्यास आदर्श आंचलिक उपन्यास माने जा सकते हैं। "उनमें वातावरण की चित्रोपमता, सजीव घटनाएँ, पात्रों के चरित्र का स्वाभाविक विकास क्रम, घटनाओं एवं पात्रों के परस्पर सम्बन्धों तथा संघर्षों द्वारा कथा का स्वाभाविक विकास और परिणति आदि विशेषताएँ प्रचुर मात्रा में मिल जाती हैं। इसके साथ ही उन्होंने हिन्दी-उपन्यास को जो नई चीज

20. हीरक जयन्ती, पृ० 104
21. नागार्जुन रचनावली, पृष्ठ 204

प्रदान की है वह है कथा के रूप में वर्तमान जीवन को देखने और समझने वाली नवीन चेतना का युगानुकूल एवं कलात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण।"[22] इन्होने मिथिलांचल के स्त्री-पुरुषों की मनःस्थिति, उनकी पुरानी परम्पराओं, जमींदार किसान संघर्ष, नई राजनीतिक चेतना आदि के साथ-साथ उस शस्य श्यामल भूमि के प्राकृतिक दृश्यों का भी चित्रण किया है। आँचलिक बोलियों के प्रयोग से इनके वर्णित स्त्री पुरुष सजीव हो उठे हैं। समाज के प्रति, व्यक्ति के संकुचित स्वार्थों के प्रति इनकी दृष्टि व्यंग्यात्मक है। इनके उपन्यासो मे मिथिलाचल के भौगोलिक, प्राकृतिक स्थिति के भी जीवन्त चित्र प्रस्तुत किये गये है। इनके उपन्यासों में नवीन सामाजिक जन चेतना को जीवन्त शक्ति प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है और आंचलिक समस्याओं को उभारकर, परिस्थितियों का यथार्थ आकलन किया गया है। निर्विवाद रूप से आंचलिक उपन्यास लेखकों मे नागार्जुन अग्रगण्य हैं.

---

22. साहित्यिक निबध- राजनाथ शर्मा, पृष्ठ 808

नागार्जुन और अन्य आंचलिक उपन्यासकार

—ज्ञानेशदत्त हरित

नागार्जुन बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं। कविता के क्षेत्र में जहां उन्हें एक व्यंग्यकार के रूप में प्रतिष्ठा मिली है, उपन्यास साहित्य में उन्होंने प्रेमचन्द द्वारा स्थापित परम्परा को आगे बढ़ाया है। उनके उपन्यासों मे निम्नवर्गीय समाज की पीड़ा बड़ी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत की गई है। शायद नागार्जुन की सफलता का एक कारण यह भी है कि वह स्वयं वह सब कुछ भोग चुके है जो उनके उपन्यासो का वर्ण्य विषय है। आंचलिक उपन्यासकार के रूप में नागार्जुन को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली है और कई मामलों में तो वे आंचलिक उपन्यास के जनक कहे जाने वाले फणीश्वर नाथ 'रेणु' से काफी आगे हैं। वास्तविकता तो यह है कि नागार्जुन 'रेणु' से पहले आंचलिक उपन्यास लिख चुके थे। 'रतिनाथ की चाची' (1948), 'बलचनमा' (1952), 'नई पौध' (1953) उनके प्रसिद्ध उपन्यास है जो रेणु के 'मैला आंचल' (1954) से पूर्व प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों के जनक 'रेणु' नहीं, नागार्जुन हैं। यह बात दूसरी है कि इस विधा का नामकरण 'रेणु' ने ही किया है।

नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला की शस्य-श्यामला भूमि के जन-जीवन को आधार बनाया गया है और उसके माध्यम से नवीन समाजवादी चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों में आस्था रखते हुए भी उन्होंने अपनी कला को सिद्धांतों के प्रचार से बचाने का सफल प्रयास किया है। डा० सुषमा धवन ने भी स्वीकार किया है कि नागार्जुन के उपन्यास समाजवादी उपन्यासों की श्रेणी में तो आते हैं किन्तु वे मार्क्सवादी सिद्धांतों के बोझ से दबे हुए नहीं हैं।[1] यशपाल की कृतियां मार्क्सवादी सिद्धांतों के बोझ से दबी हुई हैं। 'दादा कामरेड' में रोमांस और राजनीतिक सिद्धांतों का मिश्रण देखने को मिलता है तो 'देश द्रोही' में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रचार है। नागार्जुन के उपन्यासों में राजनीतिक तथा सैद्धान्तिक विचार आरोपित होकर नहीं आये हैं। सामूहिक चेतना को उपन्यासकार ने पात्रों के जीवन से इस प्रकार गुम्फित कर दिया है कि चरित्र-चित्रण एवं कथानक के सहज स्वाभाविक विकास को कोई ठेस नही पहुंचती है।[2]

1. हिन्दी उपन्यास, पृ० 302
2. वही, पृ० 302

व्यंग्यात्मक नूतन शिल्पाग्रह, जनवादी तत्वों में दृढ आस्था, सामाजिक धरातल की स्थापना एव जीवन की सम्पूर्णता और व्यापकता का प्रतिनिधित्व नागार्जुन के उपन्यासो के आधार है जिनसे उनके औपन्यासिक शिल्प की सृष्टि हुई है।

उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम अपने उपन्यासों मे किसान और मध्य वर्ग के जीवन को बडी ईमानदारी और तत्परतापूर्वक चित्रित किया था। नागार्जुन ने प्रेमचन्द द्वारा उठाई गई समस्याओ की आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक व्याख्या को नवीन परिप्रेक्ष्य में देखा है। "प्रेमचन्द के युग की समस्याये नागार्जुन के काल में भी उतनी ही ज्वलन्त रही है, इसमे सन्देह नही किन्तु प्रेमचन्द मे जहाँ उनके निदान के लिये छटपटाहट दिखाई पड़ती है; प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में उन समस्याओं के निदान के लिये सशक्त स्वर मे आवाज बुलन्द करने का प्रयास किया गया है। प्रेमचन्द अपनी परम्परा के जनक स्वयं ही थे। फलत: उनमे प्रारम्भिक पथ-निर्माण की कठिनाइयों के साथ अपनी पूर्व की परम्परागत लीक को त्यागने में कुछ भावात्मक विवशता भी थी, जिससे वे अपने आपको मुक्त नही कर सके थे। पर उसी परम्परा की लीक पर चलते हुए प्रेमचन्दोत्तर कतिपय उपन्यासकारो ने तत्कालीन सामाजिक भाव-बोध की नयी चेष्टा और उसकी समस्याओं को नये निदान से सयुक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। नागार्जुन इस पथ में प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों के बीच सर्वाधिक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में छाये हैं।"[3] नागार्जुन के उपन्यासों मे समाजवादी यथार्थ का चित्रण है। इस समाज के अत्यन्त दीन-हीन पात्रों को उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों का नायक बनाकर प्रतिष्ठित किया है कि पाठक के मानस-पटल पर उसकी अमिट छाप पडती है।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' में जिस निरीह कृषक 'होरी' के शोषण का चित्रण किया है उसी के विकास के रूप मे नागार्जुन ने 'बलचनमा' को प्रस्तुत किया है जो आधा खेतिहर मजदूर है और आधा किसान। 'बलचनमा' की पृष्ठभूमि को अगर नागार्जुन की पृष्ठभूमि मे देखा जाये तो उपन्यास की सम्पूर्णता स्पष्ट हो जाती है। अगर नागार्जुन खेतिहर मजदूर, ग्वाले या मछुओं का चित्रण करते हैं तो इसमे कोई अस्वाभाविकता नही है बल्कि कटु सत्य है। आज अपने अधिकार के प्रति किसान और मज़दूरो में चेतना आ रही है। जिन परिस्थितियों में वे रह रहे हैं, वे उन्हे इस बात के लिये प्रेरित कर रही हैं कि यह अन्याय हमारे साथ ही क्यों ? भाग्य और ईश्वर के आधीन हाथ पर हाथ रखकर बैठने से अब काम चलने वाला नही हैं। सारे दिन एड़ी चोटी का पसीना बहाकर मजदूर भूखा क्यों ? डा० सुषमा धवन ने लिखा है कि "प्रेमचन्द के होरी और नागार्जुन के बलचनमा में अन्तर दो विभिन्न परिस्थितियो तथा दो विभिन्न विचारधारों के अन्तर का सूचक है। प्रेमचन्द मध्यवर्गीय समाज के आदर्शवादी दृष्टिकोण से मुक्ति 'गोदान' में पूरी तरह

---

3. आलोचना (अंक 34) जुलाई 1965, पृ० 198

नहीं पा सके। इसलिये उनके होरी पर भी आदर्शवाद का रंग चढ़ा हुआ है, चाहे वह रंग कितना ही फीका पड़ गया है। बलचनमा का चरित्र यथार्थ के आधार पर खड़ा किया गया है, उसमें आशा और प्रगति के लक्षण मिलते है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवाद की देन है, नागार्जुन की जीवन दृष्टि समाजवादी यथार्थ पर आधारित है।"[4]

बलचनमा भी किसान है और होरी भी। होरी में जहाँ ग्रामीण संस्कृति के ध्वंस की सूचना मिलती है वहाँ बलचनमा ग्रामीण संस्कृति के निर्माण की सूचना देता है।[5] इसका कारण है युगीन परिस्थितियां। होरी अपनी भूमि खो बैठता है, बलचनमा भूमिहीन किसान से आगे बढ़कर भूमि पर अधिकार जमाना चाहता है और इसके लिये वह संघर्ष करता है। नागार्जुन ने बलचनमा मे नई चेतना और स्फूर्ति को भर दिया है क्योंकि सामाजिक धारणायें और आस्थायें तत्कालीन युग मे तेजी से बदलती हैं। यदि प्रेमचन्द के तत्कालीन समाज की परिस्थितियाँ इसी प्रकार बदलती तो निश्चय ही उनकी स्वस्थ सामाजिक चेतना समाजवादी रूप धारण कर लेती और वे ही सब सजीव चित्र उनके उपन्यासों मे मिलते जो नागार्जुन के उपन्यासों में देखने को मिलते हैं। 'बलचनमा' में प्रेमचन्द के उपन्यासों वाला भारतीय राष्ट्रीय पटल विशिष्ट ग्रामीण आंचलिक हो जाता है। इसीलिये होरी का निराशावाद अनिवार्य दशाओं मे बलचनमा का आशावाद हो जाता है। 'बलचनमा' में प्रेमचन्द वाला आरोपित आदर्शवाद लुप्त सा हो जाता है। प्रेमचन्द वाला सामाजिक यथार्थ समाजवादी यथार्थ की प्रवृत्ति से उपेक्षित होने लगता है।[6] 'बलचनमा' प्रेमचन्द के गोदान की परम्परा के अभिनव परिवर्तन की सूचना देता है।

जिस प्रकार नागार्जुन ने बिहार के मिथिला अंचल को अपना कथा क्षेत्र बनाया है, उसी प्रकार रेणु का कथा-क्षेत्र भी बिहार का पूर्णिया जिला है। 'मैला आंचल' में 1942 से लेकर 1950 तक के आस-पास तक की कथा कही गई है। कथा का क्षेत्र है—बिहार के पूर्णिया जिले का मेरीगंज नामक गाँव तथा उसके आस-पास का प्रदेश। मेरीगंज एक पिछड़ा गाँव है जिसमें उच्च, निम्न तथा मध्यवर्ग के लोग रहते हैं। उच्चवर्ग-निम्नवर्ग, धनी-निर्धन, शासक-शासित के बीच होने वाले संघर्ष को कथाकार ने उपन्यास का वर्ण्य विषय बनाया है। अंचल की पूरी जनसंस्कृति अपने समग्र रूप में उपन्यास में मुखरित हो उठी है। रहन-सहन, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, प्राकृतिक सौन्दर्य, लोक संगीत का यथार्थवादी चित्रण हुआ है। नागार्जुन ने भी 'बलचनमा' में 1937 ई० से स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व तक की घटनाओं को कथावस्तु का आधार बनाया है। रेणु ने जहां पूर्णिया जिले को कथा-क्षेत्र बनाया वहाँ नागार्जुन ने दरभंगा जिले को चुना। आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ यह क्षेत्र

4. डा० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास, पृ० 303
5. डा० इन्द्रनाथ मदान : आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० 46
6. डा० रमेश कुन्तल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है, पृ० 282

स्वतन्त्रता के उपरान्त अपनी वर्तमान दीन-हीन स्थिति के प्रति विद्रोह कर किस प्रकार नई चेतना से प्रभावित हो नये जीवन के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हो उठा है, इस सब का नागार्जुन ने 'बाबा बटेसरनाथ', 'नई पौध', 'दुःखमोचन' तथा 'वरुण के बेटे' में चित्रण किया है। रेणु और नागार्जुन की सृजन प्रक्रिया में एक मौलिक अन्तर यह है रेणु ने 'मैला आंचल' तथा 'परती-परिकथा' दोनो उपन्यास यही निश्चय करके लिखे हैं कि उन्हें आंचलिक उपन्यास लिखने हैं परन्तु नागार्जुन ने अपने उपन्यास इस तथ्य को सामने रखकर नही लिखे हैं कि उन्हें आंचलिक उपन्यासों का सृजन करना है। इसी कारण आचलिक उपन्यासों की वे त्रुटियाँ नागार्जुन के उपन्यासों में नही हैं जो रेणु के उपन्यासो मे हैं।

नागार्जुन 'एक जुट होकर हमें यह करना है' की सामूहिक चेतना को अपने उपन्यासों में उभार कर चले हैं। वे सम्पूर्ण जनता के हृदय-परिवर्तन में आस्था रखते हैं। इसके विपरीत 'रेणु' की जन-चेतना की सामूहिक अपार शक्ति में कोई आस्था नही है। इस चित्रण के अतिरिक्त उनके उपन्यासों मे लोक-संस्कृति के सम्पूर्ण पक्ष अतिशय विस्तारवादी शैली के साथ चित्रित किये गये हैं जो प्रायः ऊब पैदा कर देते हैं। पर्व-त्यौहारो-उत्सवो का विस्तृत परन्तु अनावश्यक चित्रण, स्थानीय बोली का अत्यधिक प्रयोग, प्राकृतिक दृश्यों एवं वातावरण के बार-बार विस्तृत चित्रण ने कथा संगठन को शिथिल बना दिया है जिसमें पात्रों के चरित्र पूरी तरह से उभरने नहीं पाये हैं। 'परती-परिकथा' मे लोक सस्कृति तथा वातावरण ही प्रधान बन गये हैं, उद्देश्य गौण एव प्रभावहीन रह गया है। नागार्जुन के उपन्यासों में ऐसा नही है।

नागार्जुन के उपन्यासों मे आंचलिकता संकीर्ण नहीं, व्यापक है। उनके उपन्यासो का फलक छोटा होते हुए भी गम्भीर है। छोटे-छोटे फलकों में छोटे-छोटे और साधारण पात्र उन्होंने चुने हैं। नागार्जुन की आंचलिकता को अनेक आलोचको ने सराहा है। "नागार्जुन के उपन्यास विशिष्ट आंचलिक उपन्यास हैं जो शिथिल कथानक तथा खण्डचित्रो की सुन्दर प्रदर्शनी, आंचलिकता के रोमांटिक अनुबंध तथा आधुनिकता के इर्रेशनल मोहभंग आदि से आजाद रहे हैं। नागार्जुन ने 'आंचलिकता' के केन्द्र को नये एवं अछूते अंचल के मोह से बाहर निकालकर उसे वैज्ञानिक ऐतिहासिक प्रक्रिया और सामाजिक चेतना के समकालीन हाशियों से जोड़ा।"[7] रेणु ने बिहार के पूर्णिया जिले को आधार बनाकर 'मैला-आँचल' प्रकाशित कराया "किन्तु यथार्थ की एक समान गहरी पकड़ के बावजूद भी वे मुतवातिर रोमांटिक मोह और राजनीतिक धुंध में बहते चले गये। नागार्जुन संस्कृत की क्लासिकी परम्परा से प्रयाण करके तथा रोमांटिक आंदोलन का प्रतिरोध करके जी उठे थे। अतः दिशा-पंथी हुए।"[8] उपन्यास की कसौटी में रोचकता भी

7. डा० रमेश कुन्तल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है, पृष्ठ 279-80
8. वही, पृष्ठ 280

एक प्रमुख तत्त्व है। आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता का निर्वाह वहीं तक ठीक रहता है जहाँ तक वह पाठक के लिये सुबोध हो और उसमें उबाऊपन न आये। 'मैला-आचल' के प्रथम खण्ड में एक व्यवस्थित एवं सन्तुलित शृंखलाबद्ध कथा का अभाव है। नीरस और विस्तृत ब्यौरों को पढ़कर पाठक का मन ऊबने लगता है। इसी प्रकार 'पानी के प्राचीर' (राम दरश मिश्र) 'जंगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी तृषित) 'जुलूस' (रेणु) 'लोक-परलोक' (उदयशंकर भट्ट) मे आंचलिक ब्यौरों की भरमार हो गई है। कभी-कभी तो भाषा को पढ़कर ऐसा लगता है कि कथाकार पाठक के धैर्य की परीक्षा लेने पर उतर आया है।

समाज के वास्तविक स्वरूप को ज्यो का त्यों निरपेक्ष भाव से फोटो की तरह प्रस्तुत कर देना साहित्यकार के लिये सभव नही है। फोटोग्राफर और साहित्यकार मे यही अन्तर है कि फोटोग्राफर यंत्र के समान निरपेक्ष भाव से समाज का कोई चित्र प्रस्तुत कर सकता है पर साहित्यकार को उसकी अपनी मान्यताएं, अनुभव, कल्पना आदि से प्रभावित होना ही पड़ता है। हिन्दी उपन्यासकारों मे यशपाल, भगवती चरण वर्मा, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, जैनेन्द्र आदि ने सामाजिक यथार्थ को अच्छी प्रकार से अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है किन्तु प्रत्येक की समाज को देखने की दृष्टि अपनी है और उस यथार्थ को प्रस्तुत करने की अपनी अलग-अलग शैलियाँ हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों मे उनका आदर्शोन्मुख यथार्थ है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासो में सामाजिक यथार्थ को अन्य ही दृष्टिकोण से देखा है जो साम्यवाद से प्रभावित है। 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेसरनाथ' तथा 'नई पौध' में ग्राम्य समाज की समस्याओं को उठाया गया है। जमींदारों का शोषण, कांग्रेस सरकार की कमजोरी, गाँवों में व्याप्त गुटबंदी, दहेज, अनमेल विवाह आदि समस्यायें बड़े ही सुन्दर एवं यथार्थवादी ढंग से उठाई गई हैं और इन सबका मूल आधार आर्थिक विषमता को ठहराया गया है। डा० मक्खन लाल शर्मा ने लिखा है कि "नागार्जुन में यशपाल जैसी पार्टी के प्रति निष्ठा नहीं है, इसीलिये उनके उपन्यासों में वे कमजोरियाँ नही आ पाई हैं, जो यशपाल में हैं।"[9]

'दादा कामरेड' (यशपाल) तथा 'सीधा सादा रास्ता' में मजदूरों के संघर्ष का चित्रण किया गया है। यशपाल फ्रायडवाद से प्रभावित होने के कारण रोमांस और राजनीति को एक साथ मिलाकर चले हैं। उपन्यास में दो प्रश्न मूलरूप से उठाये गए हैं। प्रथम तो यह कि क्रांति आतंकवाद से आ सकती है या समाजवाद से, दूसरा यह कि समाज द्वारा स्थापित मान्यताएं क्या वास्तव में मूल्यवान हैं या इनको बदलना चाहिए। उपन्यास में कांग्रेस के अहिंसात्मक आन्दोलन के साथ-साथ क्रान्तिकारियों के हिंसात्मक आन्दोलन का सजीव चित्रण किया गया है। हरीश का पार्टी से सैद्धान्तिक मतभेद हो जाना और हरीश को गोली से उड़ा दिए

9. हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा, पृष्ठ 216

जाने का निश्चय करना, यहाँ 'दादा' के रूप में चन्द्रशेखर तथा हरीश के रूप में स्वयं यशपाल दिखाई देते हैं। उपन्यास मे अन्य राजनीतिक दलों की निंदा की गई और कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन किया गया है। नागार्जुन भी साम्यवादी विचार-धारा से प्रभावित है। उनके उपन्यासो मे भी कांग्रेस पार्टी की खुलकर निन्दा की गई है। यशपाल के उपन्यासों में मजदूर आन्दोलन नेताओं में आकर सिमट गया है। नेताओं ने ही अपने भाषणों तथा तर्कों के द्वारा समाजवादी यथार्थवाद का समर्थन किया है जबकि नागार्जुन ने अपने पात्रों के भोगे हुए दर्द को मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

यशपाल अति रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण अपने वास्तविक लक्ष्य से बहुत दूर चले जाते हैं। नागार्जुन के उपन्यासो की सबसे बड़ी शक्ति वही है जो यशपाल के उपन्यासो की कमजोरी है—वह समस्या है यौन प्रश्नों की। नारी पुरुष की प्रारम्भिक काल से प्रेरणा और शक्ति रही है, इसे कोई अस्वीकार नही करता। नागार्जुन ने नारी का त्याग नही किया है और न करना चाहिए, किन्तु अश्लील प्रसंगों को छाँट-छाँटकर अपने उपन्यासों मे स्थान देने की कृपा उन्होंने नहीं की है और न यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक 'बलचनमा' के लिए समाज की पुरातन परम्पराओ से लड़ने के लिए किसी प्रेयसी की आवश्यकता है।[10]

यशपाल के नारी पात्र पुरुष को उसके आदर्श से दूर हटाने वाले है। उनमें स्वस्थ दृष्टिकोण का अभाव है। यशपाल का "कोई भी क्रान्तिकारी पात्र ऐसा नहीं है, जिसे किसी नारी की आवश्यकता न हो, और नारी की यह आवश्यकता शुद्ध शारीरिक है।"[11] 'दादा कामरेड' में हरीश शैल को निर्वस्त्र देखने की इच्छा करता है। शैल उसे पूरा करती है। यह सब क्या उचित है? राबर्ट और हरीश दोनों ही शैल को चाहते है। राबर्ट से शादी का इरादा रखते हुए भी शैल हरीश से ही गर्भ धारण करती है। यह प्रगतिशीलता नहीं है, यौनवाद है। यशपाल की मार्क्सवादी और सामाजिक यथार्थ की विचारधारा यहाँ आकर दूषित हो जाती है। नागार्जुन के उपन्यासों में भी सामान्य से अधिक कुछ अश्लील प्रसंग आ गये हैं पर उनका मंगल (वरुण के बेटे) अपनी प्रेयसी मधुरी को हरीश की तरह निर्वस्त्र देखने को लालायित नहीं है। हाँ 'इमरतिया' में भाई इमरतीदास का चरित्र कहीं-कहीं अश्लीलता को छू लेता है। पर ऐसे प्रसंग अधिक नहीं हैं। पात्रों द्वारा दी गई गालियो में जो अश्लीलता आ गई है, वह आक्रोश जन्य है जबकि यशपाल के पात्रों की अश्लीलता वासना जन्य है। नागार्जुन का नारी के प्रति दृष्टिकोण बड़ा संयत, शिष्ट और मर्यादित रहा है। नागार्जुन के नारीपात्र समाज उत्थान में रचनात्मक योग देते हैं वे केवल भोग के लिये सीमित नहीं हैं। 'वरुण के बेटे' की

10. वही, पृष्ठ 217
11. वही, पृष्ठ 216

मधुरी 'उग्रतारा' की उगनी तथा कामेश्वर की भाभी, 'दुखमोचन' की माया 'कुंभी पाक' की चम्पा ऐसे नारी पात्र हैं जो सामाजिक रूढ़ियों, गली-सड़ी परम्पराओं को तोड़ने वाली और नयी चेतना से परिपूर्ण हैं। 'वरुण के बेटे' की मधुरी नागार्जुन का आदर्श नारी पात्र है, जो समाजसेवी, परिश्रमी और प्रगतिशील है। नागार्जुन के उपन्यासों में जो नारी पात्र हैं वे इस बात को स्पष्ट करते हैं कि नारी अब घरों में कैद होकर रहने वाली नहीं है। नए समाजवादी समाज की स्थापना तभी संभव हो सकेगी जब स्त्री और पुरुष कंधे से कंधा मिलाकर चलेंगे और एक दूसरे को समान समझेंगे। नागार्जुन की नारियां आदर्श गृहिणी भी हैं, आदर्श प्रेमिका भी हैं ओर आदर्श माँ भी और आदर्श समाज सेविका भी हैं।

आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में कुछ और कृतियाँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनमें 'सागर, लहरें और मनुष्य' (भट्ट), 'कब तक पुकारूँ' (रांगेय राघव) 'ब्रह्म-पुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'हौलदार' (शैलेश मटियानी), 'जंगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी) तथा 'पानी के प्राचीर' प्रमुख हैं। इनके संदर्भ में ही नागार्जुन के उपन्यासों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना अधिक उपयुक्त होगा। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में उदयशंकर भट्ट ने भारत के पश्चिमी तट पर बम्बई के निकट बसे बरसोवा ग्राम के मछुओं के जीवन का चित्रण किया है। बरसोवा से बम्बई की निकटता ने वहाँ के सामाजिक जीवन में भी वर्तमान भौतिक सभ्यता के उन बीजों को बो दिया है जिनकी अंधा-धुंध बाढ़ से राष्ट्रीय जीवन त्रस्त हो रहा है। कोलियों में स्त्री जाति का शासन चलता है और वंशी जैसी कुशल एवं स्वच्छंद महिलाए बिट्ठल जैसे पतियों को अपना दास बनाकर रखती हैं। अपनी वासना पूर्ति के लिए वे पति के होते हुए भी प्रेमी रखती हैं, परन्तु दास बनाकर। इस प्रकार कोलियों के समाज की विशिष्टता की ओर इस उपन्यास में संकेत किया गया है। उपन्यास में एक प्रमुख समस्या उठाई गई है वह है पिछड़े समाज में शिक्षित नारी की स्वच्छंदता की। रत्ना ऐसी नारी है जिसमें अदम्य वासना है— प्रेम की, वैभव की जो उसके बम्बई के वैभवपूर्ण जीवन-संघर्ष, अभाव, शक्तिहीनता का यथार्थ चित्रण है। उपन्यास में सच्चाई होते हुए भी तीव्रता और संश्लिष्टता का अभाव है। 'वरुण के बेटे' में मछुओं के जीवन का वास्तविक प्रतिबिम्ब है। उसमें अनुभव जन्य तीव्रता भी है और संश्लिष्टता भी है। 'वरुण के बेटे' के मछुओं की तुलना में 'सागर, लहरें और मनुष्य' के मछुआरे अधिक सम्पन्न हैं तभी तो श्रमोपरान्त वे आनन्दमग्न दिखाई देते हैं। 'वरुण के बेटे' की मुख्य विशेषता है ब्यौरों की सूक्ष्म बातों की वर्णनात्मकता, पात्रों का अभावों से संघर्ष तथा आंचलिक भाषा। 'वरुण के बेटे' की मधुरी परिस्थितियों से जूझने को उतारू है और समाज उत्थान के लिए प्रयत्नशील है जबकि 'सागर, लहरें और मनुष्य' की रत्ना में क्षेत्रीय स्थितियों से पलायन की भावना है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में प्रेरणा

लगन और परिश्रम की मूर्त कथा प्रस्तुत करने में उपन्यासकार सफल रहा है किन्तु शहरी कथा के प्रवेश ने उपन्यास की आंचलिकता को आघात पहुंचाया है। सच तो यह है कि इसकी आंचलिकता संदिग्ध है क्योंकि उपन्यास में ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति के नागर संक्रमण का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

'कब तक पुकारूँ' (रांगेय राघव) में नटों के जीवन को चित्रित किया गया है। कथा का क्षेत्र ब्रज का एक भाग है। उपन्यास की भूमिका में उपन्यासकार ने यह स्पष्ट किया है कि शोषण का केवल आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है। शहरों में बैठने वाले आधुनिकता के नजरिए से सब कुछ देख डालते है। पर असली भारत गांवों में है जो अभी भी मध्यकालीन समस्याओ से ग्रस्त है। जमींदारों के गांव में यह प्रथा रही है कि करनटों की प्रत्येक लड़की जब जवान होती थी, तब पहिले उसे ठाकुरो के पास रात बितानी पड़ती थी। फिर वह करनटो की हो जाती थी। जमीदार, पुलिस आदि सब इस जाति को अपनी वासनापूर्ति तथा उद्देश्य पूर्ति का साधन बनाते थे। सामन्ती व्यवस्था की शिकार ऐसी जातिया अब समाप्त होती जा रही है परन्तु उनके सामाजिक शोषण का सत्य 'कब तक पुकारूँ' जैसे सशक्त उपन्यासों के माध्यम से सदा जीवित रहेगा। उपन्यास में एक कमी खटकती है, वह है करनट जाति के प्रति घनिष्ठ परिचय और आत्मीयता का अभाव। रांगेय राघव चूंकि उस यथार्थ को स्वयं भोगे हुए नही है इसी से उपन्यास में आंचलिक प्रेम का अभाव सा प्रतीत होता है जबकि नागार्जुन ने जिस यथार्थ को भोगा है, उसी का चित्रण किया है। यही उनके उपन्यासो का प्रमुख आकर्षण बन जाता है।

'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी) मे उपन्यासकार की दृष्टि हिन्दी भाषी प्रदेश को पार करके एक अहिन्दी-भाषी प्रांत के ऐसे लोगों के जीवन की ओर गई है, जिसका उस प्रांत में भी अपना एक विशिष्ट स्थान है और वह है—ब्रह्मपुत्र के किनारे बसने वाले असम के जनसाधारण का जीवन, उन नदी पुत्रों का जीवन जो सदा ब्रह्मपुत्र के उल्लास और कोप का लक्ष्य बनते हुए भी उनके सम्मुख नतमस्तक हैं।[12] 'ब्रह्मपुत्र' की कथावस्तु में कथा तत्व की दुर्बलता है। लोक जीवन की समस्याओं के साथ-साथ कुछ सामाजिक समस्यायें भी उपन्यास में उठाई गई हैं—जैसे जातीय तथा भाषायी विवाद। जातीयता के नाम पर ही गांव-बूढ़ा बनने के लिये संघर्ष होता है और आपसी मनमुटाव होता है। ग्रामवासियों में नई चेतना अतुल देवकान्त तथा राखाल काका के माध्यम से प्रवेश कर रही हैं। ब्रह्मपुत्र की बाढ़ से रक्षा के लिये श्रमदान से बांध का निर्माण, पुलिस अत्याचारों के विरोध में गांव में सभा, डिप्टी कमिश्नर की कोठी पर प्रदर्शन आदि घटनायें ग्रामीण अंचल में उभरती नई चेतना का परिचय देती है। नागार्जुन ने 'दुखमोचन' में बिहार के ग्राम्य जीवन की समस्याओं का वर्णन किया है। ये समस्यायें सामान्य ग्राम जीवन

12. आलोचना (जौलाई 1957), शिवकुमार मिश्र का लेख।

की समस्यायें ही हैं परन्तु उपन्यास में इन्ही के माध्यम से ग्राम्य अंचल मुखरित हो उठा है। नवीन जागृति और चेतना एक ग्रामीण पात्र दुखमोचन के माध्यम से व्यक्त की गई है। 'ब्रह्मपुत्र' के अतुल की तुलना मे दुखमोचन अधिक प्रभावशाली पात्र सिद्ध हुआ है। आचंलिक वातावरण की सृष्टि करने में भी नागार्जुन अधिक सफल रहे है।

'होलदार' (शैलेश मटियानी) कुमायूँ के अंचल की कहानी प्रस्तुत करता है। उपन्यास की भाषा ने अन्य तत्वों पर इतना गहरा आँचलिक रंग चढ़ा दिया है कि उनका प्रभाव आचलिक ही पडता है। 'होलदार' एक ऐसे नवयुवक की कथा है जो समाज में अपना प्रभाव जमाने के लिये होलदार बनना चाहता है, किन्तु दुर्भाग्य से वह प्रशिक्षण काल मे ही अपनी ही गोली से घायल होकर, टाँग कटाकर, छह माह के बाद ही गाव वापिस आ जाता है। शारीरिक अक्षमता ने उसके मन मे हीन भावना को जन्म दिया। उपन्यास का कथानक इसी हीन भावना से उत्पन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं को संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। टूटे हुए, हताश व्यक्ति की कथा को विभिन्न मनःस्थितियों में लेखक ने बड़ी मनोवैज्ञानिकता के साथ प्रस्तुत किया है। "फिर भी यह उपन्यास समग्र अंचल के सांस्कृतिक व्यक्तित्व की संश्लिष्टता को उभारने में उतना सफल नहीं हुआ जितना एक व्यक्ति की जीवन कथा को उभारने में।"[13] नागार्जुन ने समग्र अंचल की संश्लिष्टता अपने उपन्यासों में प्रस्तुत की है, वहाँ शैलेश मटियानी इसमें सफल नही रहे हैं। 'बलचनमा' भी एक व्यक्ति की जीवन कथा है पर उसे आंचलिक स्पर्श और स्थानीय रंगत देने में नागार्जुन अत्यधिक सफल हुए हैं। 'बलचनमा' आत्मकथा होते हुए भी समस्त अंचल कथा है।

'जंगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित') में बस्तर क्षेत्र के गोंड़ों के समाज की समग्रता प्रभावशाली ढ़ग से प्रस्तुत की गई है। आदिवासी जीवन पर लिखा गया यह सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। आदिवासी गोंड़ों के सम्मुख उनकी प्रकृति के अनुकूल ही उनके अधिकारों की समस्या है। इसी समस्या को उपन्यासकार ने उठाया है। कथानक आदिवासियों के विद्रोह की ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। आदिवासी समाज में चेतना और जागृति बाहरी तत्वों के सहयोग से नहीं आई बल्कि वह आदिवासियों द्वारा ही उद्भूत है। एक छोटी सी घटना ने आदिवासी समाज में चेतना और जागृति उत्पन्न कर दी। एक गोरे अफसर की गोंड़ों द्वारा रक्षा की गई और उसके बदले सरकार के द्वारा जमीन के पट्टे दिए गये। गोंड़ों को पट्टे दिये जाने के पीछे सरकार की चाल दिखाई पड़ती है। वह चाल है, जमीन और जंगलों पर सरकार द्वारा अपने अधिकार का प्रदर्शन। पुलिस के द्वारा किये जाने वाले अत्याचार तथा शिक्षा का प्रसार आदि के प्रयत्न भी इसमें सम्मिलित हो जाते हैं। महुआ, झालर सिंह, सुलकसाए आदि गोंड़ों की आंचलिक कथा नव-जागृति की नई

13. डा० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 206

दिशा ग्रहण कर लेती है। यद्यपि 'जंगल के फूल' में गोंडों के अधिकार हनन और शोषण की समस्या को चित्रित किया गया है किन्तु उसका कलेवर अत्यन्त व्यापक है। सम्पूर्ण गोंड समाज द्वारा सरकार के विरुद्ध आवाज उठाने का निर्णय करना प्रगतिवादी चेतना का परिचायक है। स्त्री और पुरुष सभी समान रूप से अपने अधिकारो की रक्षा के लिये उठ खड़े होते हैं।

'वरुण के बेटे' में भी नागार्जुन ने इसी प्रकार मछुओं के जीवन की समस्याओं को चित्रित किया है। स्वतन्त्रता के बाद जमींदारी-उन्मूलन होने पर भी जमींदार मछुओ से किसी न किसी बहाने जलकर वसूल करते है और गढ़ोखर को जो मछुओ का जीवनाधार है, दूसरे के हाथ बेच देते है। संघर्ष होता है जिसमे मछुओं ने एक जुट होकर अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज उठ ई है। यहाँ पर भी उपन्यासकार का प्रगतिवादी दृष्टिकोण उभरकर आना है। 'जंगल के फूल' मे जंगल का जीवन अपनी समस्त सास्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धो, बिसंगतियों और चेतना मे मूर्त हो उठा है। किन्तु उपन्यास में वन्य-जीवन का जो स्वरूप अंकित है वह जितना स्फीत है, उतना जटिल और गहरा नही।[14] नागार्जुन ने जो मछुओं के जीवन का स्वरूप अंकित किया है वह जटिल भी है और गहराई लिये हुए है।

'पानी के प्राचीर' (रामदरश मिश्र) मे गोरखपुर जिले के राप्ती और गोरी नदियों की धाराओ से घिरे एक विशाल भू-भाग की कथा है। भूमिका (पूर्वाभास) मे मिश्र जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह विशाल भू-भाग युगों से अपनी सारी हरियाली इन नदियों की भूखी धाराओं को लुटाकर विवशता, अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संसार के सारे सूत्रों से कटे इस प्रदेश का अपना ही अलग एक संसार है। उपन्यास की कथा स्वाधीनता से पूर्व की कथा है और स्वाधीनता समारोह की सूचना के साथ ही उपन्यास समाप्त हो जाना है। सद् और असद् के मध्य होने वाला संघर्ष उपन्यास की मुख्य कथा है जिससे जुड़े आर्थिक एव सामाजिक संघर्ष भी साथ-साथ चल रहे हैं। पाण्डेपुरवा ग्राम के जनजीवन को बड़ी सजीवता और स्वाभाविकता के साथ उभारा गया है। अंचल में प्रचलित मान्यताएँ, अन्धविश्वास, लोकगीत आदि को उपन्यासकार ने राष्ट्रीय आंदोलन के सन्दर्भ में प्रभावशाली ढंग से उद्घाटित किया है। पाण्डेपुरवा का मार्मिक चित्रण 'मैला आँचल' के मेरीगंज की स्मृति को ताजा कर देता है। नागार्जुन ने मिथिला अंचल के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं वे भी बड़े मार्मिक और प्रभावशाली हैं। 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेसरनाथ', 'बलचनमा' ऐसे उपन्यास हैं जो 'पानी के प्राचीर' के समान ही समस्याओं को अपने आप में संजोये हुए हैं किन्तु आँचलिकता के जिस स्वरूप को नागार्जुन ने प्रस्तुत किया है, 'पानी के प्राचीर' में उसका अभाव है।

---

14. डा॰ रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 207

नागार्जुन के उपन्यासों में मानवतावाद का स्वर पूर्णरूपेण मुखर हो उठा है। उन्होने सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामन्ती शोषण के शिकार पात्रों को उपन्यासों में चित्रित किया है। पात्रों के इस चित्रण मे जनवादी विचारों का समावेश कर देना उपन्यासकार की अपनी विशिष्टता है। उन्होंने जन साधारण को वाणी देकर न केवल प्रेमचन्द की परम्परा की पुनर्स्थापना की है वरन् उसे आगे बढ़ाया है। प्रेमचन्द का होरी आज की सामाजिक विकृतियों और पिशाचों का शिकार होकर मर जाता है पर 'बलचनमा' का बालचन्दराउत उर्फ बलचनमा परिस्थितियों से संघर्ष करता है। वह जाग रहा है। उसमें नई चेतना और दृढ़ता आ गई है। ग्रामीण अंचल में उभरती चेतना के पात्र दिगम्बर, कपिल, बूले, जैकिसुन हर परिस्थिति में संघर्ष करने को तैयार हैं। नागार्जुन ने भारतीय किसानो और जन साधारण में छिपी हुई शक्ति का दर्शन कराया है। साम्यवादी विचारों से अनुप्राणित होने पर भी नागार्जुन का स्वर आस्थावादी है।

आंचलिक उपन्यासकारों में फणीश्वरनाथ 'रेणु' ही उनकी टक्कर के हैं। कई क्षेत्रों में रेणु उनसे आगे निकल गये है तो कहीं नागार्जुन ने उन्हें पीछे छोड़ दिया है। नागार्जुन और रेणु के उपन्यास भिन्न-भिन्न वर्ग के हैं। दोनों उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। रेणु ने अंचलों को जहाँ उनके परिवेश में देखा है, नागार्जुन ने अंचलों को साम्यवादी चश्मे के पीछे से देखा है। ग्रामीण समस्याओं का का उद्घाटन करने में नागार्जुन की पठ बड़ी गहरी रही है, साथ ही व्यंग का पुट भी उसमें है। रेणु में विस्तार और व्यापकता तो है, दृष्टिकोण का आग्रह नहीं है। नागार्जुन के उपन्यास अन्य मार्क्सवादी और आंचलिक उपन्यासकारों की तुलना में जीवन के अधिक निकट हैं। वे समस्याओं से हताश नहीं होते हैं बल्कि उनके समाधान के लिये सदैव आशावादी रहे हैं। दलित और पीड़ित वर्ग का वास्तविक स्वरूप उनके उपन्यासों में है, लगता है कि वे दलित और पीड़ित वर्ग के ही लेखक है।

नागार्जुन के उपन्यासों में लोक तत्त्व

—कुंवरपाल जोशी

मेरे विचार से सर्वसाधारण को, जो अपनी आदिम स्थिति के संस्कारों से युक्त हैं, लोक की संज्ञा से अभिहित किया जाना चाहिये। सर्व साधारण के रीति-रिवाज, सस्कार, अन्धविश्वास एवं लोक-भाषा लोक तत्त्व कहलाते है। उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर नागार्जुन के उपन्यासों का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

मिथिला के ग्रामीण जन अपने संस्कारो, रीति-रिवाजों एवं व्रत-पर्व-त्यौहारों में अत्यन्त आस्था रखते है। लौकिक रीति-रिवाजों के अन्तर्गत संस्कार सम्बन्धी रीति रिवाज, व्रत-पर्व-त्यौहार सम्बन्धी रीति रिवाज तथा जाति सम्बन्धी रीति-रिवाज आते है।

मैथिल ब्राह्मणों मे विवाह की एक विचित्र रीति प्रचलित है। वहाँ एक मेला लगता है जहाँ कुंवारे लडके, उनके अभिभावक एव कन्या के अभिभावक आते है जिस सौराठ का मेला कहते हैं। वहाँ कन्या के अभिभावक लडके को पसन्द कर विवाह की बातचीत पक्की करते हैं। इस रीति का उल्लेख लेखक निम्नलिखित शब्दों में करता है—"सौराठ की सभा मे हजारों विवाहार्थी इकट्ठे होते हैं। कन्याओं की तरफ से उनके अभिभावक बडी तादाद में जमा होते है। सभा में यदि कन्यायें भी शामिल होती तो स्वयंवर का यह विराट पर्व न केवल भारत भर में परन्तु सम्पूर्ण विश्व मे अद्वितीय कहलाता। यद्यपि अपनी मौजूदा स्थिति में ब्राह्मणों का यह वैवाहिक मेला अनुपम है।"[1]

विवाह से पूर्व लग्न भी लिखकर भेजी जाती है—"ताड़ के लम्बे पत्ते पर लाल स्याही से पंजीकार ने सिद्धान्त लिखा।"[2]

विवाह के समय लड़की के द्वारा आम एवं मछुआ के वृक्ष को पुजवाया जाता है—"बिसेसरी को लेकर सधवा औरतें गाव के बाहर आम और महुआ के पेड़ पुजवाने गई थीं।"[3]

विवाह के अवसर पर मांग में सिंदूर भरना, गांठ बांधना तथा फेरों की रीतियां भी होती है।

1. रतिनाथ की चाची, पृष्ठ 143-44
2. नयी पौध, पृष्ठ 21
3. वही, पृष्ठ 44

"माँग में सिंदूर भी पड़ा, गाँठ भी बंधी, फेरे भी लगे।"[4] विवाह के समय नाई हवन की लकड़ियां लाता है। कुम्हार मंगल कलश लाता है—"वह देखो, नाई हवन की लकड़ियाँ ला रहा है, कुम्हार हाथी–पातिल–पुरहड़ और सकोरे वगैरह ले आया है।"[5] बड़े-बूढ़े दूब-अक्षत छींट कर वर-वधू को आशीर्वाद देते हैं—"गांव के बड़े-बूढ़े वर-वधू के माथे पर दूब-अच्छत छींट कर आशीर्वाद दे गये थे।"[6]

कुल देवता की पिंडी पर मातृ का पूजन एवं गणेश स्मरण भी किया जाता है। जब वर भाँवरों से उठकर अन्दर जाता है तो पैर धुलाने की रीति सम्पन्न की जाती है—"दूल्हा बाबू के पैर धुलवाये गए, उन्हें भली भाति पोंछवाया गया।"[7] वर-वधू को विवाह के बाद तीन दिन बड़ी तपस्या से बिताने पडते हैं, चौथे दिन उन के मिलन की रात्रि होती है—"तिरहुतिया ब्राह्मणो के रिवाज के मुताबिक, शादी के बाद की चौथी रात सुहाग रात थी।"[8]

निम्न जातियों मे सुहाग रात के दिन 'मुँह बजावन, की रस्म होती है जिसके अनुसार दूल्हा प्रथम मिलन पर दुल्हन को कुछ रुपये या अँगूठी आदि भेंट करता है। इसके लिये अग्रांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—"हथेली फैली तो उस पर दूल्हे ने सोने की एक अँगूठी धर दी।"[9]

सवर्ण जातियों में 'उपनयन संस्कार' बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। रिश्तेदार बुलाये जाते हैं। रंडियों का नृत्य होता है। भोज दिया जाता है। बकरे काटे जाते हैं।[10]

दाह संस्कार के समय लाश को जलाकर स्नान आदि करना आवश्यक होता है—"वहीं राम सागर ने अपनी मां का दाह संस्कार किया। लाश जलने में बहुत देर नहीं लगी। सुबह होते-होते नहा-धोकर लोग वापस आ गये।"[11] मरने के एक वर्ष बाद बरसी करने की भी रीति है—"परसों अप्पी की मां की बरसी हुई थी।"[12] मिथिला में श्राद्ध की रीति भी प्रचलित है—"राम पट्टी का महापात्र आया, वार्षिक श्राद्ध की क्रिया-कर्म दुखमोचन से उसी ने करवाये थे।"[13]

दिवाली, कृष्ण जन्माष्टमी, दुर्गापूजा, भैया दूज, देव उठान, तीज आदि

---

4. दुख मोचन, पृष्ठ 85
5. नयी पौध, पृष्ठ 38
6. वही, पृष्ठ 129
7. वही, पृष्ठ 40
8. वही, पृष्ठ 129
9. नयी पौध, पृष्ठ 131
10. बलचनमा, पृष्ठ 166
11. दुख मोचन, पृ० 12
12. वही, पृ० 61
13. वही, पृ० 61

त्यौहार मनाने का उल्लेख नागार्जुन के उपन्यासों में मिलता है। भैया दूज का त्यौहार विशेष रूप से मनाया जाता है। कार्तिक शुक्ल द्वितीया उन व्यक्तियों के लिए महत्त्वपूर्ण तिथि मानी जाती है, जिनकी बहिन जीवित हो। विवाह करके दूर चले जाने पर बहिनें अपने भाइयों को इस त्यौहार पर बुलवाती हैं।"[14] मिथिला में श्रावण शुक्ला तृतीया नव विवाहित वर-वधू के लिए त्यौहार की तिथि है जिसे 'मधु श्रावणी' कहते हैं। इस दिन वर वधू घृत मिश्रित बाती की हल्की लौ से वधू के पैरों को छूता है।[15]

बेतिया में विजयादशमी को वृहत् मेला लगता है जिसमें गाय, बैल आदि जानवर बिक्री के लिए आते हैं। देव उठान का त्यौहार भी मनाया जाता है— "देव उठान (प्रबोधिनी एकादशी) का त्यौहार बड़ा ही फीका गुजरा।"[16] 'नयी पौध' में तीज का त्यौहार भी मनाने का उल्लेख मिलता है—"तीज का त्यौहार पंडिताइन को रुला कर चला गया।"[17] दिवाली के मनाने की कोई विशेष रीति उल्लिखित नहीं है—"दिवाली के दिन दिगम्बर और दुर्गानन्दन पदुम पुरा पहुंचे।"[18] चौथ के दिन नैवेद्य निवेदन पूर्वक उगते चाँद को देखने का त्यौहार मनाया जाता है, जिसे 'चउड़ चन' कहते हैं।[19]

मिथिलांचल में सर्वाधिक प्रथायें प्रचलित हैं। मैथिली ब्राह्मणों की पंजी होती है। इस प्रथा के अनुसार किस ब्राह्मण का सम्बन्ध किससे पड़ता है, इसका पता लगाना सरल है। इन लम्बी फहरिस्तों के जानकार को पंजीकार या पजियाड़ कहते हैं।[20]

लेखक ने मैथिली ब्राह्मणो मे प्रचलित 'बिकौआ' प्रथा का भी उल्लेख किया है। 'बिकौआ' उन्हे कहा जाता है जो अपनी कुलीनता बेचकर अपनी जीविका चलाते थे। एक एक व्यक्ति बाईस-बाईस तक शादियाँ करते थे। उनका जीवन ससुराल में कट जाता था। समाज में उनका अधिक सम्मान था। आदर पूर्वक आमंत्रित करके तब लोग उनसे अपनी कन्या का पाणि-ग्रहण करवाते थे। तीन, चार और पाँच दफे बिकने वाले बिकौआ अब भी मैथिली ब्राह्मणों में यदा-कदा दिखाई पड़ जाते हैं।[21]

राजा महाराजा तथा जमीदार ताल्लुकेदार के यहाँ दहेज मे अन्य वस्तुओं

14. रतिनाथ की चाची, पृ० 81
15. वही, पृष्ठ 154
16. बाबा बटेसरनाथ, पृ० 112
17. नयी पौध, पृ० 80
18. वही, पृ० 121
19. वही, पृ० 108
20. रतिनाथ की चाची, पृ० 93
21. वही, पृ० 19

के साथ साथ 'खबास' देने की प्रथा का उल्लेख किया गया है ।[22]

शादी होने के बाद गौने की प्रथा भी प्रचलित है । गौना लाने के समय सगुन के रूप में लड़की वाले के यहाँ डोरा, सिंदूर और सगुन का अन्य सामान भेजा जाता है ।[23]

छोटी जाति वालों मे 'बिलौकी' की प्रथा है, उनके अनुसार दूल्हा या दुल्हिन पालकी में बैठकर बड़े बड़े लोगों के यहाँ आशीर्वाद लेने जाते है जहाँ उन्हे रुपये मिलते हैं ।[24] 'दुखमोचन' उपन्यास में ज्योनार देने की प्रथा भी दृष्टिगोचर होती है– "जात बिरादरी के लोगों का ज्योनार था ।"[25] पशुओं की बलि भी दी जाती है— "ग्वालों, अहीरों और धानुकों ने यही चार दिनों तक भुइयाँ महाराज का पूजन किया, दस भेड़ें बलि चढ़ायी ।"[26]

लोग मन्त्र-जन्त्र, भूत-प्रेत एवं शकुनापशकुनों में बड़ा विश्वास रखते है । इसके अतिरिक्त नदियों एवं देवी-देवताओं में भी उनका अटूट विश्वास है । अपशकुनों का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—"रात को काला कौआ चीखता रहता है कर्र-कर्र । दिन के समय गीदड़ हुंआ-हुंआ करता है'' अब की बार भारी अकाल पड़ेगा ।"[27] भूत-प्रेतों को उतारने के लिये औघड़ बाबा मन्त्र पढ़ता और भूत गायब– "ओं ऽ ऽ ऽ ङ् अ ल ऽ ख निरंज ऽ न् भग सा ऽ ऽ ऽ ऽ ले ऽ ऽ ऽ ऽ !" जन्त्र का उल्लेख भी 'नयी पौध' में मिलता है—"देवी देवता का फूल अन्दर डालकर लोग बड़े जतन से जन्तर मढ़वाते हैं ताँबे का, चाँदी का, सोने का अष्ट धातु का; वे उसे बाँह में, गले में, कमर में बाँधते हैं ।"[28] पानी न बरसने पर लोग ग्यारह लाख मिट्टी के शिव लिंग बनाकर पूजते हैं, स्त्रियों द्वारा मेढकों को ओखली में कुचलना आदि से बाबा बटेसर नाथ में क्षेत्र के धार्मिक अन्ध विश्वास की झलक मिलती है । मंगल बुध के दिन उत्तर की ओर जाना दिक्शूल माना गया है ।[29]

दरभंगा जिले में कमला नदी के प्रति वहाँ के लोगों में अपार श्रद्धा है । उसे देवी मैया या कमला मैया कहते हैं ।

दुसाध जाति के लोगों का देवता 'सल्हेस' होता है । पीपल, पाकड़ अथवा बरगद के नीचे कुटी बनाकर उसमें 'सल्हेस' की प्रतिमा स्थापित की जाती है ।[30]

---

22. बलचनमा, पृ० 101
23. वही, पृ० 137
24. वही, पृ० 110
25. दुखमोचन, पृ० 61
26. बाबा बटेसर नाथ, पृ० 45
27. बाबा बटेसरनाथ, पृ० 50
28. नयी पौध, पृ० 39
29. रतिनाथ की चाची, पृ० 125
30. वही, पृ० 24

काली की पूजा भी की जाती है। उनको बकरे की बलि चढाई जाती है—"बरहम बाबा को फूल पत्र, पितरों को गया का पिंड, बाबा कुसेसर नाथ को घी दूध चढ़ाया जाता है।"[31] इसके अतिरिक्त शालिग्राम सत्यनारायण, शंकर, राम-कृष्ण आदि की भी पूजा की जाती है।

नागार्जुन के उपन्यासों में लोक कथाओं एवं लोक गाथाओ का चित्रण तो नाम मात्र को ही हुआ है। राजा सगर की कथा का उल्लेख बलचनमा उपन्यास में मिलता है।[32] बाबा बटेसर नाथ मे उनकी जातक कथा वर्णित है।[33] सारगी बजाकर भरथरी की कथा भी गायी जाती है।[34]

नागार्जुन के उपन्यासो मे हमें लोकगीतो का सुन्दर परिज्ञान मिलता है। बलचनमा मे लोक गीत आनन्द और उल्लास को व्यक्त करते है—

"सखि है मजरल आमक बाग
कहू-कहूं चिकरए कोइलिया
झीगुर गावै फाग।
कंत हमार परदेस बसइ छवि
बिसरि राग-अनुराग।
विधि भेल बाम, सील भेल बैरी
फूटि गेला ई भाग।"[35]

इसमे अन्य गीत भी इष्टव्य हैं—

"दुर्दिनमा केलक हरान
रे फिकिरिया मारलक जान।"[36]

'वरुण के बेटे' उपन्यास में भोला गाता है :—

"भंगुरी को मात करती है मेरी प्यारी
वो रंगत और वो चिकनापन
कहाँ से लाएगी भंगुरी बेचारी
मात करती है भंगुरी को मेरी प्यारी
मेरी जान ! मेरी जान ! मेरी जान !
निछावर है तुझ पर भोला के परान।"

---

31. बलचनमा, पृ० 135
32. बलचनमा, पृ० 116
33. बाबा बटेसर नाथ, पृ० 18
34. बलचनमा, 137
35. वही, पृ० 147
36. वही, पृ० 10

निम्नलिखित लोकगीत में अर्थ गाम्भीर्य दर्शनीय है—

"जिनकी भेल पहा ।।। ड, उभिर भेल का ।।। ल
नइ फेंक ऽ नई फेंक ऽ आहे मोर दिल चन,
नेहिया पिरीतिया के जा ।।।ल।
आव ऽ आव ऽ देखि जा हा ।।।ल।

मैथिली भाषा का एक भजन इस प्रकार है जिसमें ईश्वर को अवढर-दानी कहा गया है—

"तुम चन्दन हम पानी
हम काहिल है, हम भिखमंगे, तुम हो औढर दानी।"

इनके अतिरिक्त अन्य लोक गीत भी है जिनके प्रयोग से उपन्यासों का माधुर्य द्विगुणित हो गया है।

लोक भाषा किसी विशेष अंचल का प्राण होता है। नागार्जुन के उपन्यास आंचलिक भाषा से युक्त हैं। मैथिली शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। जैसे 'नयी पौध' में सतमाय (सौतेली मां), टधार (पतली धार), गाछी (चौखट), 'रतिनाथ की चाची' में ओहार (पर्दा), पितियाइन (चाची) आदि शब्द। उदाहरण के रूप में स्थानीय भाषा देखिए—"अदहन हो जाने पर चावल उसमें छोड़ दिया। उसी में चार छः आलू चोखा के लिए डाल दिए। सुजनी डालकर बीच आंगन में लेट रही।"[37]

नागार्जुन का भाषा पर जबरदस्त अधिकार है। उन्होंने भावों की अभिव्यक्ति के लिए मुहावरों तथा कहावतो का आश्रय लिया है।

दरभंगा में प्रचलित एक मुहावरा देखिए—"चाची मुट्ठी बाँधकर खर्च करती, तो उनके लिए सौ-दो सौ रुपए बचा लेना आसान था।"[38] मुट्ठी बाँध कर खर्च करने का अर्थ है कृपणता से खर्च करना। एक मुहावरा और देखा जा सकता है—"बाबू कोयले की खान का हीरा है।"[39] 'कोयले की खान का हीरा' का तात्पर्य है निकृष्टतम वस्तु में अत्यन्त सुन्दर होना। इनके अतिरिक्त कान पाथ कर, नाक काट ली, गाँठ बाँधना (नयी पौध), आंखें तरेरना (इमरतिया), गुस्सा घोंट कै पीना (उग्रतारा), नजाकत की सोन छड़ी (हीरक जयन्ती), गाल फुलाना, नाक में नकेल डालना (दुख मोचन), आदि मुहावरे हैं।

कहावतों के प्रयोग से भाषा को सशक्त बनाया जाता है। इनके प्रयोग से भाषा के सौंदर्य में भी वृद्धि होती है। कुछ कहावतें इस प्रकार हैं—"आग लगन्ते झोंपड़ी जो आवै सो हाथ।" अर्थात् जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे लेकर चल देना (वरुण के बेटे), "आपन गामक परिवरि आन गामक गाछी।"[40] शेर-शेर है गीदड़-

37. रतिनाथ की चाची, पृ० 27
38. रतिनाथ की चाची, पृ० 111
39. वही, पृ० 70
40. बलचनमा, पृ० 106

गीदड है।"[41] "सावन जनमा गीदड़ और भादों आई बाढ़ और गिदड़वा चिलाया बापरे।"[42] "जले गाँव पर सूरज भी जलता है।"[43] "ठूंठ ठूठ है बिरवा बिरवा हैं।"[44] "उड़ती चिड़िया की पूँछ में हल्दी लगाना।"[45] आदि कहावतों से आंचलिकता प्रदर्शित होती है।

विभिन्न कथाओं में एक ही विचार या घटना के बार-बार प्रयुक्त होने को कथानक रूढ़ि कहते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों में कुछ प्रमुख कथानक रूढ़ियां इस प्रकार प्रयुक्त हुई हैं। बाबा बटेसर नाथ का अदृश्य होना एवं रूप परिवर्तन आदि कथानक रूढ़ियाँ कथा को गति प्रदान करती हैं। 'कुम्भी पाक' में बाल-बच्चा होने के लिए साधुओं द्वारा प्रयुक्त मंत्र-तंत्र कथानक रूढ़ि का काम करते हैं। 'उग्रतारा' में मठिया (छोटा मन्दिर) में कामेश्वर–उगनी का मिलन एक कथानक रूढ़ि है। 'नयी पौध' उपन्यास में रामेसरी और उसकी बहिनें अपने माँ-बाप को श्राप देती हैं। श्राप देना भारतीय कथानकों की प्रचलित कथानक रूढ़ि है। इसी प्रकार इसमें सौतेली मां का नाराज होना, हीरामन तोता आदि कथानक रूढ़ियां प्रयोग हुई हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नागार्जुन के उपन्यासों के निर्माण में लोक तत्त्वों का पर्याप्त योगदान रहा है।

---

41. नयी पौध, पृ० 56
42. वही, पृष्ठ 57
43. दुखमोचन, पृष्ठ 131
44. नयी पौध, पृष्ठ 58
45. कुम्भी पाक, पृष्ठ 18

ग्रामांचल की क्रान्ति-चेतना

—नारायण स्वरूप शर्मा 'सुमित्र'

हिन्दी-कथा साहित्य में प्रेमचन्द के पूर्व के प्रायः सभी लेखक रूढिवादी परम्परित समाज का ही समर्थन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करते रहे थे। प्रेमचन्द पहले ऐसे कथाकार थे, साहित्य के रंगमंच पर जिनके अवतरण के साथ ही परम्परागत-रूढ़िवादी समाज के विरुद्ध जिनका विसवादी स्वर गूंजने लगा था। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि प्रेमचन्द ने ही सच्चे अर्थों मे कथा-साहित्य को समाजोन्मुख बनाया था। लेकिन प्रेमचन्द के भी समग्र उपन्यास साहित्य मे एक 'गोदान' को छोड़कर प्रायः सभी ज्वलन्त सामाजिक प्रश्नों के हल आदर्शवाद और सुधारवाद की पीठिका पर प्रस्तुत किए गए हैं। 'गोदान' में अवश्य प्रेमचन्द का आदर्शवादी सपना टूट गया था। प्रेमचन्द-परवर्ती लेखकों में उनकी परम्परा को प्रशस्त करने वाले लेखकों में नागार्जुन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ग्राम्य-समाज और कृषक-जीवन की समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण करने वाले कथाकारों मे प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन का अन्यतम स्थान है। यह ठीक ही कहा गया है कि "प्रेमचन्द की संवेदना नागार्जुन की रचनाओं में समाजवादी चेतना में परिणत हो जाती है।" 'रतिनाथ की चाची' में नागार्जुन परम्परागत समाज के मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह का शंख फूंकते हुए कहते हैं : "समाज उन्हीं को दबाता है जो गरीब होते है। शास्त्रकारों को भी बलि के लिए बकरे ही नजर आए। बाघ और भालू का बलिदान किसी को नहीं सूझा। बड़े-बड़े दाँत और खूनी पंजे पण्डितों के सामने थे। इसलिए उधर से नजर फेर कर बेचारे बकरों का फनशा दे डाला।"[1]

बिहार-प्रान्त के 1937–38 ई० के सशक्त किसान-आन्दोलन का चित्रण करते हुए नागार्जुन ने लिखा है कि "सभा, जुलूस, दफा एक सौ चवालीस, गिरफ्तारी, सजा, जेल, भूख-हड़ताल, रिहाई यह सिलसिला किसानों को ठण्डा नही कर सका।"[2] और "सत्य ग्रही पृथ्वी-पुत्र जब पिटने लगे, खून से तिरंगा लाल हो उठा। इस छोटे से महाभारत में दो कुर्मियों और एक ब्राह्मण की जान गई। किसानों को कुछ हद तक सफलता अवश्य मिली, परन्तु मालिक को ब्रह्म-हत्या का पाप लग गया। चांदी और सोने का भस्म बड़े-बड़े रोगों की अचूक दवा है।"[3]

1. रतिनाथ की चाची, पृ० 58
2. वही, पृष्ठ 100
3. वही, पृष्ठ 110

'रतिनाथ की चाची' मे ही ताराचरण के रूप में लेखक ने ग्राम-समाज में नए नेतृत्व के उभरने का भी संकेत दिया है। गाँव के लोगो को अपनी प्रजा समझ कर उनसे भेड़-बकरियो का सा बर्ताव करने वाले राजा बहादुर दुर्गानन्दन सिंह के विषय मे ताराचरण कहता है—"जमाना बदल गया है, हम जब अंग्रेज की नाक मे कौडी बाँधते है, तो राजा बहादुर की बिसात ?"[4]

'बलचनमा' मे नागार्जुन ने जमीदार-वर्ग के अमानुषिक अत्याचारो का चित्रण करके प्रेमचन्द के द्वारा प्रस्तावित जमीदारी-उन्मूलन के आन्दोलन को महती शक्ति प्रदान की है। इस उपन्यास मे भारतीय किसान का दुख-दर्द और उसका समस्त जीवन-व्यापी सघर्ष चित्रित हुआ है। बलचनमा का पूरा चरित्र अपने जीवन की विषम परिस्थितियो से अनुभव ग्रहण कर धीरे-धीरे अधिकार-चेतना सम्पन्न होने वाले किसान का चरित्र है। 'गोदान' मे प्रेमचन्द किसानो की जिस प्रसुप्त अधिकार-चेतना को जगाने के लिए प्रयत्नशील है, 'बलचनमा' में आकर वह पूर्णतया जाग उठी है। बलचनमा के रूप मे होरी की तरह जीवनभर अनवरत संघर्ष करते, घुटते, छटपटाते और टूट जाने वाले किसान का नही, अपितु एक नए जुझारू और सघर्ष-शील किसान का अवतरण होता है "जो अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए जागर-तोड़ मेहनत करता है, तो अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जान की बाजी भी लगा देता है।"[5]

बलचनमा के जीवन की दास्तान होरी के जीवन से कम अभिशप्त नहीं है। उसकी माँ वैधव्य की अनेक विसंगतियो का शिकार बनती है। वही बलचनमा के जीवन मे विद्रोह का बीज-वपन करती है। "बबुआ बालचन ! मर जाना लाख गुना अच्छा है, मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नही।"[6] बलचनमा के शब्दों में जरा जमीदार बाबू लोगो के आचरण का जायजा तो लीजिए—"बड़े लुच्चे हैं ये लोग ! अमूल तहसील का काम गुमास्ता-बराहिल के हवाले, घर-गिरस्ती की देख-रेख छुट-भइयो के हवाले, सेवा-टहल का काम बहिया-खवास के हवाले, बाकी बचे बेटा, नाती, भाई-भतीजा, मार-सरबेटा, सो बैठे-बैठे तास पीटेंगे, सतरंज खेलेंगे, सहर जाकर सिनेमा देख आयेंगे। बेकार मन शैतान का घर ! खान-पान और आराम की कमी नही।······किसी की लड़की सयानी हुई नही कि निशाना साधने लग जाते हैं।······ मगर भैया जिनके पास दौलत होती है, वह निपट अन्धे होते है।"[7]

इसी जमीदार-वर्ग का अनादि काल से चला आता हुआ दमन-चक्र बलचनमा के विद्रोह का कारण था। बलचनमा की ही जबानी सुनिए—"हां तो हमारा गाँव जमीदारो का गाँव था।······गौना होकर कोई नवेली किसी के घर आती, तो इन लुच्चों की आँख उसकी घूंघट के इर्द-गिर्द मंडराया करती। जब तक आधी पौनी

4. वही, पृ० 169
5. डा० रामगोपाल चौहान:आधुनिक हिन्दी-साहित्य, पृ० 220
6 बलचनमा, पृ०79
7. वही, पृ०72

निगाह से ये उसे देख न लेते, तब तक नींद न आती बदमाशों को। कई बार ऐसा होता कि जिसे देखने को बाप बेताब हो उठता, उसी पर बेटा भी फिदा। उन दिनों मालिक लोगों का ही राज था। उनके खिलाफ तुम अपनी उंगली तक न उठा सकते थे। किसी की इज्जत-आबरू को बेदाग रहने देना न पसन्द था उन्हें।.........मैं नहीं चाहता था कि मेरी बहन के तन पर इन लुच्चों की चगुल पड़े,......... गरीबी नरक है भैया, नरक! चावल के चार दाने छींट कर जैसे बहेलिया चिड़िया को फंसाता है, उसी तरह ये दौलत वाले गरजमन्द औरतों को परपच में फंसा मारते हैं। उनके पास धन भी होता है और अकल भी होती है।"[8]

ऐसा यातना-मय जीवन जीने और पीढ़ी दर पीढ़ी भयकर शोषण की चक्की मे पिसने पर बलचनमा के जीवन मे विद्रोह का ज्वालामुखी फूटना सहज ही था—"सच मानो भैया! उस वक्त मेरे मन मे यह बात बैठ गई कि जैसे लोग अंग्रेज बहादुर से सोराज लेने के लिए झगड़ा-झझट मचा रहे है, उसी तरह जन-बनिहार, कुली-मजूर और बहिया-खवास लोगों को भी अपने हक के लिए बाबू भैया से लडना पड़ेगा।"[9] बलचनमा की इस वर्ग के प्रति चरम घृणा इन शब्दो मे व्यक्त होती है—"बेशक मैं गरीब हूं, तेरे पास अपार सम्पदा है, कुल है, खानदान है, बाप-दादे का नाम है और मेरे पास कुछ नहीं है। मगर आखरी दम तक तेरे खिलाफ डटा रहूंगा। अपनी ताकत को तेरे विरोध मे लगा दूंगा। मा और बहन को जहर दे दूंगा, लेकिन उन्हे तू अपनी रखेली बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा।"[10] 'दुखमोचन' मे पंचायत का यह फैसला भी उच्च वर्ग के प्रति निम्न वर्ग के तीव्र आक्रोश को व्यक्त करता है—"ऊंची जाति वालों के यहां अब वे अपमान-जनक तरीकों से काम नहीं करेंगे, न कुछ इनाम-अकराम ही लेंगे। जूठन में चाहे अमृत ही क्यों न रह गया हो, उसे कोई नहीं उठाएगा।"[11]

'बलचनमा' के ही किसानों के नेता-स्वामी जी का यह सन्देश भी करवट बदलते हुए ग्रामीण-समाज का एक नया रूप हमारे सामने रखता है—"बाहरी लीडरों के भरोसे मत रहिए। अपना नेता आप खुद बनिए। बाहरी लीडरों का लेक्चर सुन के भूख नहीं मिटती। आप लोग लीडरों से हजार दर्जे अच्छे है। आप सब कुछ पैदा करते हैं, तो अपना लीडर भी अपने ही यहाँ पैदा कीजिए। जो आपका लीडर होगा, वही आपकी तकलीफों को समझेगा......।"[12] इस विषम परिवेश में सामयिक धर्म और व्यवहार-बोध की शक्ति अर्जित करते हुए बलचनमा का व्यक्तित्व निर्मित होता है और फिर 'जुती धरती और भुरभुरे ढेलों को फोडकर' धधकने वाली विद्रोही चेतना

8. वही, पृ० 73
9. वही, पृ० 99
10. वही, पृ० 192
11. दुखमोचन, पृ० 80
12. बलचनमा, पृ० 192

भारतीय कृषक वर्ग के सच्चे प्रतिनिधि-बलचनमा को जीवन-व्यापी संग्राम में जुट जाने को सन्नद्ध करती है।

'गोदान' मे होरी के चरित्र में प्रेमचन्द ने जो करुण विवशता दिखाई है, वह बलचनमा में नही रही। होरी समझौता करता है, झुकता है और अन्त मे टूट जाता है, परन्तु बलचनमा इसके विपरीत टूट तो जाता है, मगर झुकता नही है। मरते-मरते भी उसे अपने मूलभूत लक्ष्य का ध्यान रहता है, उसका संकल्प अडिग रहता है। जमीदार के लठैतो द्वारा मरणासन्न कर दिए जाने पर भी बलचनमा इस प्रकार सोचता है—"उस वक्त मौत को सामने देख कर घिरनी की तरह मेरा दिमाग नाच रहा था······बेटी, औरत, माँ, गन्ने की खड़ी फसल, पलानी के सोये हुए वालटियर कि जिनके मुंहो मे शायद कपडे ठूंस दिए गए है,······और········· कमाने वाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो······धरती किसकी ?······जो जोते-बोए उसकी। किसान की आजादी आसमान से उतर कर नहीं आएगी, वह प्रकट होगी······नीचे जुती धरती के भुरभुरे ढेलों को फोड कर।"[13]

बलचनमा की यही आवाज 'वरुण के बेटे' मे माझियो के सघ का नेतृत्व करती प्रतीत होती है—"गढ-पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है। जमींदार जल-कर लेता था, हम देते थे। नया खरीदार दूसरे-तीसरे गाँव के मछुओं को मछलियां निकालने का ठेका देता चलेगा और हम पुश्तैनी अधिकारों से वंचित होकर रुलते फिरेंगे ! भला यह भी क्या मानने की बात है ?"[14]······मछुओं का संगठन सघर्ष मे जुट जाता है, इस घोषणा के साथ, "सतधारा वालों का नया प्रभुत्व गैर-कानूनी है, सर्वथा गलत है, वे गढ़-पोखर की सीमाओ के अन्दर उन्हें घुसने नहीं देंगे।"[15] मोहन माझी गाँव की जनता को अपने अधिकारो के प्रति सचेत करता है। उसके द्वारा आयोजित किसान-सम्मेलन में पचास गाँवो के किसान और खेतिहर मजदूर भाग लेते है। तकावी-वसूली को पाँच वर्षों तक स्थगित करने की माँग की जाती है और गढ-पोखर के मालिक जमीदारो को चेतावनी दी जाती है,— "वे युग की आवाज को अनसुनी न करें। मलाही-गोढियारी के मछुओं को गरोखर से मछलियां निकालने के पुश्तैनी हकों से वचित करने की उनकी कोई साजिश कामयाब न होगी। रोटी-रोजी के अपने साधनों की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले मछुए असहाय नही है, उन्हें आम किसानों और खेत-मजदूरो का समर्थन प्राप्त होगा।"[16]

'बाबा बटेसर नाथ' में खेतिहर संगठन के नेता भी अपने गाँव के जन-आन्दोलन को प्रदेश-व्यापी सघर्ष की धारा से मिलाने की बात सोचते हैं। दयानाथ कहता है-—"जमींदारो, सेठों, वकीलों और बालिस्टरो की यह जमात खुली तौर पर तब भी

13. वही, पृष्ठ 220
14. वरुण के बेटे, पृष्ठ 34
15. वही, पृष्ठ 127
16. वही, पृष्ठ 219

कहाँ खेतिहरों को अपने संगठन मे घुसने देती थी ?..........एक ओर तिकड़म थी, पैसे थे, पराई सम्पत्ति हड़पने की लालसा थी; दूसरी ओर सार्वजनिक ईमानदारी थी, जनबल था और अत्याचारियो के प्रति असहिष्णुता थी,......जीवनाथ और जैकिसुन आदि ने अच्छी तरह समझ लिया कि सिर्फ अदालत के भरोसे इन दुष्टो से छुटकारा नहीं मिलेगा गाँव को। जन-बल को अच्छी तरह संगठित कर लेना चाहिए। अपनी रुपउली के इस जन-आन्दोलन को जन-सघर्ष की जिला और प्रदेश-व्यापी धारा से मिला देना होगा।"[17]

बलचनमा के इस सोच मे नागार्जुन का समाजवादी सपना साकार होता नजर आता है—"लोगों को जब विश्वास हो जाएगा कि जमीदार-महाजन की फाजिल धन-सम्पदा उन्ही में बट जाएगी, रोटी-रोजी का सवाल हल होगा, बच्चो की लिखाई-पढ़ाई......बुढ़ापे की बेफिक्री......रहन-सहन का ठौर-ठिकाना......दवा-दारू......पथ-पानी का इन्तजाम......यह सब सभी के लिए सुलभ होगा......दरभंगा के महाराज हों या पटना के लाट साहब—मुफ्त का खाना किसी को नही मिलेगा...सब काम करेगा.........पैसे के बल पर कोई किसी को बधुआ गुलाम नही बना सकेगा।"[18]

नागार्जुन के उपन्यासों में यद्यपि वैधव्य की समस्या और उसका व्यावहारिक समाधान (रतिनाथ की चाची), अनमेल विवाह तथा वर-कन्या विक्रय की समस्या (नई पौध), नारी का शोषण और स्वातन्त्र्य-संघर्ष तथा उसमें राजनीतिक-सामाजिक चेतना का विकास (वरुण के बेटे), गाँव के दीनहीन लोगों के जीवन-यापन की समस्या (दुख-मोचन) तथा धर्माश्रित मठों और सम्प्रदायों में व्याप्त व्यापक कदाचार और अन्धविश्वास (इमरतिया) आदि अनेक सामाजिक समस्याओ का यथार्थ-परक और प्रभावी चित्रण हुआ है, तथापि ग्राम्य समाज के कृषक-वर्ग के जीवन का बहु-आयामी चित्रण करने में ही नागार्जुन की लेखन-कला विशेष रूप से मुखरित और सफलीभूत हुई है। नागार्जुन के पूर्ववर्ती राहुल सांकृत्यायन और यशपाल आदि लेखको की कृतियों में समाजवादी जीवन-दृष्टि पात्रों के जीवन का सहज-अभिन्न अंग न होकर उन पर बलात् आरोपित ही लगती रही है परन्तु नागार्जुन के औपन्यासिक पात्रो मे समाजवादी जीवन-दर्शन उनके जीवन की सहज प्रवृत्ति बन कर व्यक्त हुआ है। डा० इन्द्र नाथ मदान ने भी टिप्पणी की है—"नागार्जुन की समाजवादी जीवन दृष्टि वैचारिक या सैद्धान्तिक स्तर पर आरोपित होने का आभास नही देती। यह सवेदना के स्तर पर आत्मसात् होने का आभास देती है। इसका विकास परिस्थितियो के भीतर से होता है।"[19] 'गोदान' के होरी और बलचनमा की तुलना करते हुए डा० मदान लिखते हैं—"होरी किसान है और बलचनमा भी। होरी ग्रामीण संस्कृति के ध्वस की सूचना देता है और

---

17. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ 134
18. बलचनमा, पृष्ठ 164
19. आज का हिन्दी उपन्यास, 45

बलचनमा उसके भावी निर्माण की।······इस उपन्यास मे समाजवादी चेतना का यह परिणाम भी निकला है कि होरी की निराशावादी दृष्टि बलचनमा की आशावादी दृष्टि मे बदल जाती है, जिससे लेखक की आस्था का भी परिचय मिल जाता है।"[20]

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की अनुशीलन-यात्रा के बाद यह बात सबसे अधिक खलने वाली लगती है कि उसमे किसान-मजदूर-वर्ग के जीवन तथा ग्राम्य परिवेश का बहुत स्वल्प चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द के बाद के बहुत कम उपन्यासकार है, जो इन वर्गों के जीवन की विषमताओ का व्यापक और विशद चित्रण कर सके है। आज के अधिकाश उपन्यासो मे प्राय नगर-बोध अथवा महानगरीय चेतना ही आद्योपान्त परिव्याप्त है।

नागार्जुन ने अकेले हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के इस बड़े अभाव की पूर्ति करने का महद् आयोजन किया है। प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन अकेले ऐसे लेखक है, जिन्होने ग्राम्य समाज और सस्कृति के चित्रण को ही अपने उपन्यासों के मूल वर्ण्य और विवेच्य विषय के रूप मे चुना है, भले ही प्रान्त विशेष के ग्रामांचलीय परिवेश से ही उनके समस्त उपन्यासों के कथा-सूत्रों का सचयन किया गया हो। जैसे प्रेमचन्द की प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा आधार 'गोदान' है, वैसे ही 'बलचनमा' भी नागार्जुन की प्रतिष्ठा का उतना ही बडा और मजबूत आधार है।

निष्कर्षत: ग्राम्य परिवेश का उसकी समग्रता के साथ प्रस्तुतीकरण, भारतीय किसान-मजदूर-वर्ग के जीवन का स्पन्दन, उनका सत्रास, जीवन-व्यापी संघर्ष और नित्य-निरन्तर विकासोन्मुखी उनकी चेतना का यथार्थ-परक और मर्मस्पर्शी चित्रण करने वाले उपन्यासकारो मे नागार्जुन का अन्यतम स्थान है। नागार्जुन के उपन्यासों को भारतीय ग्रामाचल की क्रान्ति-चेतना के विकास के प्रामाणिक दस्तावेज कहा जा सकता है।

---

20. वही, पृष्ठ 46-47

नागार्जुन की किसान चेतना

—गोपाल कृष्ण शर्मा

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नागार्जुन सबसे पहले उपन्यासकार है जिन्होने प्रेमचन्द की परम्परा का अनुकरण करते हुए ग्रामीण जीवन तथा उसके आस्था-विश्वास और परिवर्तित अर्थ-व्यवस्था का समग्रता के साथ चित्रण किया है। नागार्जुन नई पीढ़ी के पथ-प्रदर्शक भी है जिनसे प्रेरित होकर अनेक सामयिक उपन्यासकारो ने अपने कथा लेखन मे किसान-मजदूर संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान की। नागार्जुन ने प्रेमचन्द के मोह भंग को नया जीवन भी दिया है, क्योंकि प्रेमचन्द युगीन ग्रामीण जीवन में एक सामाजिक-राजनीतिक हलचल थी, एक बहाव था जो अपना मार्ग और गन्तव्य निर्धारित न कर सका था, लेकिन प्रेमचन्दोत्तर काल मे स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। आजादी के बाद वर्गीय चेतना के आलोक मे परिवर्तित परिस्थितियों को देखकर किसान और खेतिहर मजदूर अपने मार्ग मे भटकाव उत्पन्न करने वाले मतवादों के अन्धेरे के आर-पार अपने गन्तव्य को स्पष्ट देखता है। नागार्जुन का 'बलचनमा' चेतना सम्पन्न होने के कारण होरी की भाँति निराश होकर अपने प्राण नही त्यागता बल्कि जुझारू योद्धा की भाँति अन्तिम समय तक निरन्तर संघर्ष कर विजय पथ पर अग्रसर होता है।

प्रेमचन्द के समान नागार्जुन का भी किसान-जीवन की समस्याओं से गहरा तादात्म्य है और शायद यही कारण है कि उनके उपन्यासों में ग्रामीण जन-जीवन की वास्तविक यथार्थानुभूति होती है। उनके उपन्यास न केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही चर्चित हुए हैं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ख्याति अर्जित कर चुके है। 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'नई पौध', 'वरुण के बेटे', 'कुम्भीपाक', 'उग्रतारा' आदि नागार्जुन के प्रसिद्ध उपन्यास हैं जो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन में होने वाले परिवर्तनों का साक्षात्कार कराते हैं।

आजादी के बाद सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण परिवर्तन ग्रामीण जीवन और कृषि अर्थ-व्यवस्था में आया है। जमीदारी उन्मूलन, कृषि का आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, नवीन पंचवर्षीय योजनाये, सहकारी खेती, चकबन्दी, भूमि सुधार सम्बन्धी नए कानून आदि से भारतीय ग्राम्य जीवन में उथल-पुथल हुई। औद्योगिक उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का आधिपत्य हुआ वही ग्रामीण स्तर पर एक ऐसे नये वर्ग का उदय हुआ जिसमे भू-स्वामी और पूंजीपति दोनों के गुण विद्यमान थे। पूंजीपति और राष्ट्रीय बुर्जुआ ने अपने हितों की रक्षा के लिये जमीदारी उन्मूलन कानून पास

किया जिससे जमीदारो का प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभुत्व तो समाप्त हुआ परन्तु किसानों को कोई विशेष लाभ नही मिला। क्योकि कानून ने जमीदारों से केवल मालगुजारी वसूल करने का अधिकार ही छीना, परन्तु लम्बी-चौडी जोत की जमीनें उनके अधिकार में ही रही। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि औद्योगिक क्षेत्र में पूंजीपतियों द्वारा तथा ग्रामीण क्षेत्र में नए वर्ग द्वारा आम किसान-मजदूर का शोषण जारी रहा।

आजादी के बाद इस बदले हुए परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण देश मे जमीदार और किसानो के बीच जबरदस्त सघर्ष हुए। किसानो ने किसान सभा के रूप में सगठित होकर जमीदारों के अत्याचारों से न केवल अपनी रक्षा ही की अपितु उनके सामन्ती अहकार को भी तोडा। जमीदारों द्वारा किसान सगठनो को तोडने की प्रत्येक चाल किसानो की राजनीतिक समझ के आगे नाकाम हुई। 'रतिनाथ की चाची' का कालीचरण, 'बलचनमा' का बलचनमा, 'बाबा बटेसरनाथ' का जैकिसुन, जीवनाथ, दयानाथ, 'वरुण के बेटे' का मोहन माँझी किसान वर्ग के चेतना-सम्पन्न प्रतिनिधि पात्र है।

नागार्जुन के समस्त उपन्यासों मे किसान संघर्ष 'रतिनाथ की चाची' से लेकर 'वरुण के बेटे' तक निरन्तर कई सोपानो को छूता है। डा० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार—"नागार्जुन ही शायद अकेले उपन्यासकार है जिन्होंने समाजवादी बोध को सहज एव अनायास रूप में आत्मसात किया है। और यह बोध इनके पोर-पोर तथा रग-रग मे निःसृत है।" नागार्जुन ने अपने सभी उपन्यासों में मिथिला के गरीब किसानो और खेतिहर मजदूरों का चित्रण किया है। उनके खान-पान, रीति-रिवाज, आस्था-विश्वास का वर्णन एव पात्रानुकूल मैथिली भाषा का प्रयोग कर कथावस्तु को जीवन्त बना दिया है। कुछ लोग शायद इसी आधार पर उन्हें आँचलिक उपन्यासकार कहकर उनके महत्व को कम आँकने का प्रयास करते है।

नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में किसान-जमीदार संघर्ष सबसे पहले शुभंकरपुर गाव में उस समय शुरू होता है जब जमीदारों द्वारा किसानों को बेदखल किया जाता है। परिणामस्वरूप किसानो मे असंतोष उभरता है। गाँव में किसान संगठन का निर्माण किसान कुटी के नाम से होता है। शोषित और पीड़ित किसान इस संगठन के सदस्य बनकर अपनी वर्गीय चेतना का परिचय देते हैं। 'रतिनाथ की चाची' गौरी साधनहीन होने पर भी किसान कुटी की सहायता स्वरूप अपना कम्बल भेंट करती है। इस सघर्ष में किसान डटकर जमीदारों से मोर्चा लेते हैं। परन्तु वर्ग सचेतन किसानो की सामूहिकता तथा भाई-चारे को देखकर शोषक वर्ग (जमींदार) पैंतरा बदल देते है। परिणामस्वरूप जमीदारों के प्रलोभन मे आकर नेताओं की अवसरवादिता के कारण किसान-आन्दोलन चौपट हो जाता है। लेकिन फिर भी प्रगतिशील युवा नेता ताराचरण जमींदार से इतना अवश्य मनवा लेते है कि "खेत किसानों की जोत मे रहेंगे। फी बीघा ग्यारह मन के हिसाब से अनाज इसके ऐवज में उसे हर साल

मिलता रहेगा।"[1] किसान आन्दोलन की यह असफलता तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालती है।

'रतिनाथ की चाची' का किसान-मजदूर आन्दोलन जहा नेताओ की अवसरवादिता के कारण असफल होता है वहाँ 'बलचनमा' उपन्यास मे किसान-मजदूर संघर्ष वर्गीय वैचारिकता से सम्पन्न जुझारू संगठन के नेतृत्व में सफलता प्राप्त करता है। नागार्जुन का बलचनमा न तो अवसरवादी है और न ही कहीं बाहर से आया हुआ नेता है। वह स्वय पीड़ित और शोषित समाज का अग है। शोषण और अत्याचार जब सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं तब सस्कारो की दीवारों को तोड़कर बलचनमा जैसे युवक सिर पर कफन बांधकर सघर्ष करते है। बलचनमा का आक्रोश उस लक्ष्यहीन युवक का आक्रोश नही है जो झूठे प्रलोभनो से प्रेरित होकर या किसी राजनेता के गरमागरम भाषण से उत्तेजित होकर उभर उठता है अपितु अभावों, सत्रासो, पीडाओ, वेदनाओ और अत्याचारो की मर्मान्तक चोट से उभरी हुई चेतना है जिसके कारण वह वर्ग सघर्ष की नीति को आत्मसात करके दलित एव शोषित किसानो को संगठित कर उनका सक्रिय नेतृत्व करता है।

बलचनमा ने स्वयं उस कारूणिक दृश्य को देखा है जिसमें उसके पिता को बाँस की टहनियों से जमींदार के द्वारा पीटा जाता है। उसकी मां और दादी क्रूर जमींदारो के पैरो पड़कर उसके पिता ललुआ के प्राणों की भीख माँगती है। माँ और दादी की आँसू बहाती आँखें, निर्मम पिटाई के कारण उधडी हुई चमड़ी वाले पिता की मूक वेदना एव इसी नृशंस अत्याचार के कारण ललुआ की मृत्यु आदि गहन अनुभूतिपरक घटनाएं सम्मिलित हैं जिन्होंने बलचनमा के किशोर हृदय मे जुल्म के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए बीज वपन किया है। उसका विद्रोह विभिन्न परिस्थितियों में विकसित होकर सक्रिय किसान आन्दोलन के रूप में फलता-फूलता है। जीवन के कटु यथार्थ ने ही बलचनमा को क्रान्तिकारी बनाया है। उसमे हौसला है, मर्दानगी है, वर्ग संगठन की समझ है, जूझकर उत्सर्ग करने की चेतना है। वह बधुआ मजदूरों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाता है, संघर्ष करता है।[2]

'बलचनमा' उपन्यास में सबसे पहली बार नागार्जुन ने स्वातंत्र्योत्तर भारत में बंधुआ मजदूर, खेतिहर मजदूर और किसानों के तीखे संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान की है और राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर वर्ग संघर्ष का व्यापक चित्रण भी 'बलचनमा' में खुले रूप में हुआ है। जमींदारों द्वारा भूमिहीन किसानों से बेगार लेना, काम न करने पर उनकी पिटाई करना, किसान-मजदूर की बहू-बेटियों को बलात् भोगना आदि का चित्रण कर जमीदारों के दोहरे अत्याचारों की ओर संकेत किया है। उपन्यास में रेचनी के साथ बलात्कार करने वाला जमीदार रेचनी की माँ की पिटाई

---

1. रतिनाथ की चाची, पृष्ठ 129
2. हिन्दी उपन्यास: सामाजिक चेतना, डॉ० कुंवर पाल सिंह, पृष्ठ 159

करता है और बलचनमा को झूठे मुकद्दमे मे फसाने का प्रयास भी करता है । बलचनमा जमीदार की इस बर्बरता के विरुद्ध सशक्त स्वर मे कहता है—"बेशक ! मै गरीब हूं । तेरे पास अपार सम्पदा है, कुल है, खानदान है, बापदादे का नाम है, अड़ौस-पडौस की पहचान है, जिला-ज्वार मे मान है और मेरे पास कुछ नही है । मगर आखिरी दम तक मै तेरे खिलाफ डटा रहूंगा । अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध मे लगा दूंगा । माँ और बहिन को जहर दे दूगा लेकिन उन्हे तू अपनी रखैल बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा ।"[3] बलचनमा गाँव छोड़कर पटना तथा लहरिया सराय के आश्रम मे शरण लेता है । उसका वैचारिक और राजनीतिक विकास यही से शुरू होता है । आश्रम मे रहकर वह सत्याग्रही और उनके आन्दोलन, काग्रेसी नेताओ के दाँव-पेच, सोशलिस्ट कार्यकर्त्ताओ और स्वामी सहजानन्द तथा शर्मा जी जैसे कम्युनिस्ट मजदूर नेताओ के भाषणो को सुनकर शोषक और शोषितों के वर्गीय स्वार्थों तथा तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ के वास्तविक स्वरूप और यथार्थ समाधान के निकट पहुचता है ।

बलचनमा के जीवन मे दूसरा मोड तब आता है जब जमीदार किसानों को बेदखल कर बढ़ती लगान पर खाते पीते किसान के नाम बन्दोबस्ती करते है । वह भी अपने वर्गीय हित को पहचान कर किसानों को सगठित करता है । लेखक की दृष्टि मे यही एक उचित उपाय है जिससे जमीदारों के जुल्मों और शोषण के विरुद्ध किसान सगठन बद्ध होकर सामूहिक संघर्ष तथा एकता से विजय प्राप्त कर सकते है । महपुरा के किसान जमीदार खान बहादुर सादुल्ला खां के शोषण के विरुद्ध किसान संगठन का निर्माण करते है और सभाएं आयोजित करते है । पटना, गया, दरभगा के सोशलिस्ट कम्युनिस्ट किसान नेता किसानो को सम्बोधित करते हुए उनके सगठन की एकता का महत्व तथा आन्दोलन की भूमिका पर प्रकाश डालते है । महपुरा के किसान संगठन की शक्ति और आन्दोलन को देखकर आस-पास के गाँव के किसानों में भी वर्गीय चेतना जाग्रत होती है । बलचनमा भी अपने गांव में किसानों को सगठित कर जमीदारों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाता है । अगहन की फसल की छीना-झपटी होती है । इस सघर्ष मे एक किसान का खून भी होता है । जमीदार उलटे किसानों पर मुकद्दमा चलाते हैं । लेकिन वर्ग सचेतन किसान डटकर मोर्चा लेते है और फसल पर अधिकार किये रहते हैं । खेत में खड़ी फसल के अधिकार को लेकर किसान-जमीदार संघर्ष तीव्र होता है । जमीदारों की रक्षा हेतु शहर से पुलिस और फौज भी बुला ली जाती है लेकिन किसानो की शक्ति और जुझारू संघर्ष को देखकर मिलटिरी और पुलिस भी कुछ नही कर पाती ।

किसान आन्दोलन से सम्बद्ध रहने के कारण नागार्जुन संघर्ष में कूटनीति को भी महत्व देते है । वह बलचनमा के माध्यम से स्पष्ट कहते है—"पिटाई पर पिटाई

---

3. बलचनमा, पृष्ठ 86

खाना और भेड़-बकरी की तरह पकडा कर जेल चला जाना बहादुरी नही है।"[4] इसी लिए बलचनमा महपुरा के किसानों की गलती न दुहरा कर जमींदारो के गुण्डो, पुलिस-फौज के द्वारा किये जाने वाले लट्ठ, बन्दूक और गोली के प्रयोग के प्रतिक्रिया स्वरूप आश्रम में गडासे आदि का प्रबन्ध करता है। इस लम्बे और सफल सघर्ष से बौखला कर जमींदार अपने पालतू गुण्डो से बलचनमा की निर्मम हत्या करा देते हैं। लेकिन बलचनमा का यह बलिदान नेतृत्व विहीन किसान आन्दोलन को और तेज कर देता है।

नागार्जुन अपने सामयिक कथाकारो की तरह सामन्ती सस्कृति और जमीदारों के शोषण का चित्रण मूल्यांकनवादी दृष्टि से नही करते अपितु उभरती हुई समाजवादी शक्तियो के सन्दर्भ मे यथार्थ के धरातल पर करते है। इसीलिए डॉ० इन्द्रनाथ मदान "नागार्जुन को आधुनिकता की चुनौती को समष्टि के धरातल पर स्वीकार करने वाला कथाकार मानते हैं।"[5] डॉ० सुषमा धवन भी 'नागार्जुन की जीवन दृष्टि समाजवादी यथार्थ से प्रेरित मानती हैं।'[6] नागार्जुन का बलचनमा समाजवादी चेतना से लैस एक जुझारू योद्धा है जो विविध स्तरो पर सघर्ष करता हुआ सफलता प्राप्त करता है। जमीदारो के क्रूर अत्याचारों, पण्डे-पुरोहितों के धर्माडम्बर आदि के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते-करते वह इतना बोल्ड हो जाता है कि ईश्वर से भी उसकी आस्था डिग जाती है। वह स्पष्ट कहता है---"भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गूदा चूर-चूर कर फाँकती है, यह भी भगवान ठीक करते हैं और मालिक लोग कनकजीर और तुलसी के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते थे, सो यह भी भगवान की ही लीला थी।"[7] यही नही वह अपने साहस और शक्ति के आधार पर मालकिन द्वारा माँ को घर फूंक देने की धमकी का भी सपाट जबाब दे देता है। वह अपनी माँ से स्पष्ट कहता है—"उनके बाप का घर है? जा बैठ तू गई थी क्या करने?······किसी का घर फूंक देना क्या इतना आसान है?"[8] बलचनमा बखूबी भूमिहीनों का वर्ग प्रतिनिधित्व करता है और किसान सघर्ष में शहीद होकर भी धैर्य और आस्था के साथ बिना रुके मंजिल तक पहुंचने का सन्देश भी देता है।

'बाबा बटेसर नाथ' उपन्यास में नागार्जुन ने किसान संघर्ष का चित्रण एक नूतन शिल्प प्रयोग के द्वारा किया है। मिथिलांचल के रुपउली गाँव के सौ वर्षों का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक इतिहास जैकिसुन को वट वृक्ष बाबा बटेसर नाथ कहानी के रूप में सुनाते हैं। सामन्ती एवं पूंजीवादी व्यवस्था के गन्धि

---

4. बलचनमा, 194
5. आज का हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 47
6. हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 303
7. बलचनमा, पृष्ठ 17
8. बलचनमा, पृष्ठ 195

काल मे किसानो पर जमीदारो, महाजनों, सरकारी अधिकारियो और पुलिस के नृशंस अत्याचार, जमीदारो द्वारा गाँव के सार्वजनिक तालाबो, वृक्ष, भूमि आदि पर अवैध अधिकार तथा किसानों की बेदखली आदि के विरोध मे गाँव में उभरती हुई साम्य-वादी चेतना से युक्त नयी पीढी के नेतृत्व मे सगटित किसानो का अपने वर्ग हित के लिए निरन्तर सघर्ष जारी रहता है।

जमीदारी उन्मूलन कानून के पास हो जाने के बाद रुपउली गाँव के जमीदार सार्वजनिक भूमि, तालाब और वृक्षादि सामूहिक सम्पत्ति को टुनाई पाठक और जैनरायन झा जैसे वर्ग विरोधी किसानो को अधिक पैसो मे बेचकर जमीदारी प्रथा की अन्तिम घडियो का मूल्य लेते है। गाँव के प्रगतिशील नवयुवक जब इस धाँधले बाजी का विरोध करते है तो टुनाई पाठक और जैनरायन झा इन युवको को खून के झूठे मुकदमे में फसा देते है। दयानाथ इन नव युवको की पैरवी करता हुआ रेहुआ थाने के जन प्रतिनिधि काँग्रेसी नेता उग्रमोहनदास को जमीदारो की धाँधले बाजी और शोषण से अवगत कराकर किसानो की सहायता की माग करता है। लेकिन उग्रमोहन बाबू झूठे आश्वासन और व्यस्तता का बहाना कर बच निकलते हैं। लेखक के अनुसार यह काँग्रेसी नेताओं की वर्गीय पक्षधरता तथा स्वार्थ ही है, जो जमीदारी उन्मूलन कानून के पास हो जाने पर भी वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को खत्म करने के पक्ष मे नहीं है। परिणाम स्वरूप इन सब युवा नेताओं को जेल होती है।

लेखक ने किसान संघर्ष के साथ-साथ पूँजीवादी कानून, न्याय, अदालत और पुलिस की कारगुजारी को भी उजागर किया है। जहाँ अदालत जमीदारों के हित में फैसला मुल्तवी करती है वही दूसरी ओर पुलिस के लोग पाहुने बनकर किसानो के घर दावतें उडाते हैं।[9] 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास की कथा वस्तु बिहार के रुपउली अचल विशेष की ही कथावस्तु ही नहीं है, अपितु भारत के उन समस्त गाँवो मे होने वाली उथल पुथल की कहानी है जहाँ जमीदार सार्वजनिक सम्पत्ति को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति बनाकर खेतिहर मजदूरों और किसानों को भूमिहीन बना रहे थे।

'वरुण के बेटे' उपन्यास मे नागार्जुन ने मल्लाहो के जीवन-सघर्ष की अभि-व्यक्ति दी है। इस उपन्यास में सतधरा के जमीदारों द्वारा गढ़ पोखर की बन्दोबस्ती, मछुओ में उभरती हुई वर्गीय चेतना, उनका संगठित होकर जमीदारों के विरुद्ध संघर्ष करना आदि का बडा ही सजीव एवं यथार्थपरक चित्रण किया है।

नागार्जुन ने मछुओं के जीवन का सूक्ष्म विवेचन के साथ-साथ किसान, बधुआ मजदूर, निम्न वर्ग के लोगो तथा उनसे मिलते जुलते पात्रों की समस्या को उठाया है। बस्ती गरोखर के मछुए तीन सौ वर्षों से गढ पोखर में मछलियों का शिकार करते चले आए है। देपुरा के जमीदारो का उस पर अधिकार है जिन्हे मछुए 'जल-कर' देकर मछलियों का शिकार करते हैं। लेकिन जमीदारी उन्मूलन कानून के पास हो जाने के बाद देपुरा के जमीदार गरोखर को सतधरा के जमीदारों को अधिक मूल्य में

9. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ 119

बेचते है । गाँव के सारे मछुए गरोखर के इस हस्तान्तरण का विरोध करते है । गाँव का सबसे वृद्ध मछुआ गोनड इस बन्दोबस्ती का विरोध करते हुए कहता है—"यह पानी सदा से हमारा रहा है । किसी भी हालत मे हम इसे नही छोड़ सकते । पानी और माटी न कभी बिके हैं, न कभी बिकेंगे । गरोखर का पानी मामूली पानी नही, वह तो हमारे शरीर का लहू है । जिनगी का निचोड है ।"[10] गरोखर के समस्त मछुए गढ पोखर पर अन्त तक सतधरा के जमीदारों का अधिकार नहीं होने देते । वे अपना पुश्तैनी अधिकार की रक्षा करते हुए कब्जा किये रहते हैं । गाव मे वर्ग सचेतन एक नयी पीढी भी उभर रही है जो जमीदारों के शोषण के विरुद्ध एकताबद्ध होकर सघर्ष करने पर बल देती है । मलाही गाँव का चेतना सम्पन्न युवक मोहन माँझी इस स्थिति का विश्लेषण कर मछुओ को किसान सभा का सदस्य बनने के लिए आह्वान करता है ।

वर्ण-व्यवस्था के आधार पर सम्पूर्ण गाँव विभिन्न जातियो मे विभाजित है । मछुए जातीय अहम से ग्रस्त होने के कारण किसान और खेतिहर मजदूरो से अपना वर्गीय सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते । जातीय संगठन मछुओ के संगठन मे दरार डालते है । लेखक मछुओं की इस समस्या का हल राजनीतिक स्तर पर वर्ग-सघर्ष मे ही सम्भव मानता है । इसलिए वे किसान सभा जैसी जुझारू जमात पर जोर देते है, क्योकि सामन्ती व्यवस्था में किसान संगठन ही वह क्रान्तिकारी संगठन है जो ज़मींदारों से बराबर की टक्कर ले सकता है ।

मोहन माँझी के द्वारा गरोखर वस्ती के सारे मछुए अपने इस सघर्ष को देश व्यापी संघर्ष की पृष्ठभूमि मे रख कर देखते हैं और आम किसानो तथा खेतिहर मजदूरों के राष्ट्र व्यापी संगठन से सम्बद्ध होते है । किसान सभा भी मछुओं के संघर्ष में अपना समर्थन देती है । इस प्रकार मछुओं का संघर्ष किसान-मजदूरो के संघर्ष से सम्बद्ध होकर वर्ग-संघर्ष होता है । गरोखर के स्वामित्व के प्रश्न पर जमींदारों और मछुओं के बीच मुकदमेंबाजी होती है, लेकिन मछुआ संघ गढ़पोखर पर किसी भी जमींदार के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार नही करता । मछुओं का यह वर्ग संघर्ष मलाही गोढ़ियारी में उभरती हुई नयी चेतना का ही परिणाम है । मछुए सरकारी अधिकारियों की धमकियों से निडर होकर गर्व से अपनी गिरफ्तारी भी देते है । मधुरी की गिरफ्तारी एक ऐसी ही चिंगारी है जो संघर्ष को और तीव्र कर देती है । उपन्यास में पहली बार मधुरी का आगमन समाजवादी नारी का आगमन है जो पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर वर्ग संघर्ष में भाग लेती है ।

किसानों की भाँति नागार्जुन ने भारतीय ग्रामीण नवयुवको में भी चेतना का नया स्वर फूंका है । 'नई पौध' उपन्यास में नागार्जुन ने मिथिला के नौगछिया गाँव के नवयुवकों की उभरती हुई सामाजिक चेतना का आंचलिक परिवेश की समग्रता के साथ यथार्थवादी दृष्टि कोण से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । प्रेमचन्दीय परम्परा पर आधारित नारी की 'अनमेल विवाह' की समस्या के विरुद्ध इस गांव की नयी

10. वरुण के बेटे, पृष्ठ 36

पीढी सामाजिक स्तर पर खुला संघर्ष करती है। नौगछिया गाँव के नवयुवकों की यह टोली जिसे 'बम पार्टी' के नाम से जाना जाता है, ग्रामीण समाज की अन्यानेक कुप्रथाओ का विरोध करती है।

विधवा समस्या के समान अनमेल विवाह भी हमारे समाज की एक भयानक कुरीति है। प्रेमचन्द की भाँति नागार्जुन भी इस समस्या का अन्त आर्थिक स्वतन्त्रता मे मानते है। परन्तु प्रेमचन्द और उनके युगीन साहित्यकारों ने जहाँ अनमेल विवाह समस्या के समाधान का आदर्शपरक सुधारवादी प्रयास किया है, वहाँ नागार्जुन ने समाजवादी यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर नई पीढी का विद्रोह कराकर समाधान प्रस्तुत किया है जो वास्तव में एक आगे का कदम है।

नागार्जुन ने अनमेल विवाह की समस्या को उठाकर सामन्ती व्यवस्था के उस ह्रासोन्मुखी स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिसमे अर्थाभाव के कारण नारी के रूप का क्रय-विक्रय होता है। खोंखा पंडित समाज के एक ऐसे ही आर्थिक रूप से क्षीण वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है जो जाति के ब्राह्मण और कुलीन होने के बावजूद भी अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हुए अपनी चौदह वर्षीय नातिन के विवाह के लिए सौराठ के मेले मे नौ सौ रुपये नगद गिन कर एक साठ वर्षीय वृद्ध चतुरा चौधरी को वर के रूप में तय कर लेते हैं। साथ ही लेखक ने उन दलालों और पंडितो का चरित्र भी उजागर किया है जो विवाह के लिए वर तय करने में कमीशन खाकर गर्व से फूले नही समाते।

उपन्यास की मूल कथा बिसेसरी के विवाह की कथा है जो घटनाओं के विभिन्न सूत्रों में पिरोई गयी है। कथानक का चित्रफलक विस्तृत न होकर मिथिला के ग्रामीण अंचल तक ही सीमित है। लेकिन नौगछिया गाँव के माध्यम से लेखक ने सम्पूर्ण भारत में व्याप्त इस समस्या पर नई रोशनी में प्रकाश डाला है। गाँव की नयी पीढी इस अनमेल विवाह से गाँव की नाक कटना समझती है। बूलो के घर पर दिगम्बर मलिक, बूलो आदि सभी नवयुवक एकत्रित होकर वैवाहिक समस्या पर विचार करते हैं और एक स्वर मे विवाह न होने देने का संकल्प भी लेते है। बरात के आगमन पर दिगम्बर बुच्चन बाबू से स्पष्ट कहता है—"गाँव का एक-एक नौजवान पिटते-पिटते बिछ जायेगा मगर यह ब्याह नहीं होने देगा।"[11] इस प्रकार यह विद्रोही एवं चेतना सम्पन्न नयी पीढ़ी चतुरा चौधरी को बिना विवाह किये वापिस लौटने को विवश कर देती हैं और अन्त में बिसेसरी का विवाह कामरेड वाचस्पति झा के साथ कराकर एक आदर्श स्थापित करती है। नयी पीढ़ी के ये सभी नवयुवक संगठन बद्ध होकर गाँव में होने वाले प्रत्येक अत्याचार और शोषण का भी विरोध करते है। लेखक के 'नई पौध' के माध्यम से नयी पीढी के युवकों मे उभरती हुई नयी चेतना को साकार किया है।

11. नई पौध, पृष्ठ 58

नागार्जुन के सम्पूर्ण उपन्यासों का विश्लेषण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने मिथिलांचल के जन-जीवन को बड़े निकट से देखा तथा परखा है। किसान-मजदूरों की पीडा, वेदना, संत्रास, घुटन और शोषण को उन्होंने स्वयं भी भोगा है। 'नागार्जुन मिथिला के पीडित किसान घर मे जन्म लेकर आज सूर्य की भाँति चमक रहे हैं। वे स्वयं ही बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ और वरुण के बेटे है। उनके कठोर अनुभवों की ज्वाला मे तप कर उनकी प्रतिभा सोने के समान चमकी है।[12] नागार्जुन ने किसान-मजदूरों के शोषण के निराकरण के लिए उन्हें वर्ग-संघर्ष के लिए प्रेरित किया है। 'बलचनमा' 'बाबा बटेसरनाथ' 'वरुण के बेटे' उपन्यासो मे चित्रित वर्ग-संघर्ष तत्कालीन परिस्थितियो को उजागर करता है। नारी शोषण की समस्या को उन्होने 'रतिनाथ की चाची' तथा 'नई पौध' में उठाया है। नागार्जुन की दृष्टि मे नारी के शोषण का भी मूल कारण समाजार्थिक वैषम्य और परतंत्रता है जिसके लिए नारी को भी मजदूर-किसानो के वर्ग-संघर्ष मे सम्मिलित होना होगा। गौरी और मधुरी ऐसी ही नारियाँ है जो अपने घरेलू जीवन से ऊपर उठकर किसान-मजदूरों के वर्गीय-संगठन में सहायता करती हैं और संघर्ष मे कन्धे से कन्धा मिला कर चलती हैं। वास्तव में ''नागार्जुन का कथा साहित्य बहुत सम्पन्न है। लोक जीवन की भूमिका में पनपे सामाजिक यथार्थ के जीवन्त चित्रों तथा धारदार कथ्य के बीच से उभरने वाले 'बलचनमा' 'रतिनाथ की चाची' जैसे अविस्मरणीय चरित्रों की सृष्टि के लिए, हिन्दी कथा साहित्य उनका सदैव ऋणी रहेगा।'[13]

नागार्जुन का कथा साहित्य स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण समाज मे होने वाले परिवर्तन तथा विकास के इतिहास को समझने में पूर्ण सहायक है।

---

12. आज का हिन्दी साहित्य : प्रकाश चन्द गुप्त, पृष्ठ 49
13. साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ : डा० शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ 125

जनसंघर्षों की कलात्मक अभिव्यक्तिः 'बलचनमा' और 'वरुण के बेटे'

—कुंवरपाल सिंह

नागार्जुन के कवि-कर्म पर इस बीच में बहुत चर्चा हुई है। पत्र-पत्रिकाओं और आलोचको ने कवि नागार्जुन को केन्द्र में रखकर उनके साहित्य का मूल्यांकन किया है। पिछले दिनों 'आलोचना' ने नागार्जुन को केन्द्र में रखकर विशेषांक प्रकाशित किया था। इस पूरे अंक में नागार्जुन की कविताओं पर ही सामग्री थी। आश्चर्य है कि डॉ० नामवर सिंह जैसे प्रबुद्ध आलोचक यह कैसे भूल गये कि नागार्जुन केवल जनवादी कवि ही नहीं बल्कि स्वतन्त्रता के बाद के सबसे बड़े उपन्यासकार भी है। उन्होंने अपना उपन्यास-लेखन अज्ञेय की भाँति स्थगित नहीं किया है। वे निरन्तर उपन्यास लेखन भी कर रहे हैं। स्वतन्त्रता के बाद प्रेमचन्द की जनवादी परम्परा को यदि किसी एक लेखक ने पुनर्स्थापित और विकसित किया है तो वह नागार्जुन ही है। उनके दो उपन्यास 'बलचनमा' और 'वरुण के बेटे' हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा मे मील के पत्थर की भाँति हैं।

कवि नागार्जुन मे अनेक भटकाव दिखाई देते हैं। 1963–64 में उनकी अनेक कविताए है जहाँ नागार्जुन चीन और माओ-विरोधी से बढ़कर मार्क्सवाद विरोधियो की पक्ति मे भी दिखाई देते है। इसी प्रकार 1975 मे जे० पी० आन्दोलन के बीच मे भी वे कुछ दिन अराजकता के रेगिस्तान में भटकते दिखाई दिये। उनके ही शब्दो मे वे 'वेश्या की गली मे कुछ दिन भटकने के बाद; अपने सही स्थान पर लौट आये।' और यही नागार्जुन की महानता है। वे एक प्रतिबद्ध जनवादी कवि-उपन्यासकार है और उनकी प्रतिबद्धता का यह खूटा बहुत सुदृढ़ है। साधारण जन के जीवन-सघर्षो के प्रति उनका लगाव इतना गहरा है कि वे उससे अधिक दूर कभी नहीं जा सकते। उनके साहित्य का सही आकलन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके व्यक्तित्व का भी यथार्थ परक मूल्याकन किया जाय। किसी बड़े लेखक से आज के सन्दर्भ में यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि वह जन संघर्षों में प्रत्यक्ष साझीदारी करे। उसकी सवेदनात्मक स्तर की प्रतिबद्धता ही इन दिनों काफी है। नागार्जुन सा[illegible] नहीं हैं; वे एक प्रतिबद्ध प्रगतिशील साहित्यकार और जनवादी कवि हैं। [illegible]

दायरे में रखकर उनके व्यक्तित्व और साहित्य की पहचान और परख करनी चाहिए। यहाँ उनके दोनों उपन्यासों का मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया गया है। एक बात बहुत दिलचस्प है। उनके उपन्यास साहित्य में हमे भटकाव और स्वच्छंदता के दर्शन नही होते। नागार्जुन यहाँ प्रेमचन्द की भाँति अपने मंतव्य और लक्ष्य के प्रति बहुत सजग और स्पष्ट हैं।

नागार्जुन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने साधारण जन के प्रति अति साधारण परिवेश में ही संघर्ष के मुद्दों की तलाश की है और उसमे उस क्रांतिकारी चेतना की ज्योति जगाई है जिसका इस पूरे दौर के साहित्य पर प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने अपने उपन्यासों में ऋण और उससे उत्पन्न गुलामी देखी है। इस गुलामी की जजीरे तोड़ने का व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयास देखा है। आजादी की गंगा को अपने बंगलो की ओर मोड़ने वाले बड़े भूस्वामियों, पूंजीपतियो और उन नेताओं को देखा है जो राजनीति को अपनी आमदनी का माध्यम बनाकर इस शोषण तंत्र को अधिक अमानवीय और जटिल बना रहे हैं। जीवन अनुभव की उनकी यह पाठशाला उन्हें निरन्तर अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए प्रेरित करती रही है। इसलिए उनके उपन्यासों में व्यापक जीवन से साक्षात्कार तो होता ही है, साथ ही नागार्जुन के नई और व्यापक दिशाओं के अन्वेषण की भी बात हमें मालूम होती है।

भूमिहीनों को केन्द्र में रखकर वे हिन्दी का पहला उपन्यास लिखने का श्रेय प्राप्त करते हैं। 'गोदान' का नायक छोटा किसान है जो इतिहास के थपेड़े खाकर भूमिहीन बन जाता है, लेकिन बलचनमा जन्मजात भूमिहीन है। इसी तरह मछुआरों के जीवन और संघर्ष की गाथा को हिन्दी में लिखने का श्रेय सर्वप्रथम उन्ही को जाता है। शोषण विहीन समाज की संरचना के सिद्धान्तों को उन्होंने आत्मसात किया है। दूसरी ओर ग्रामीण जीवन का उनको गहरा, निकट का और घनिष्ठ परिचय है। वे यथार्थ के क्रांतिकारी पक्ष को भली भाँति पहचानते हैं। अपने उपन्यासों में उन शक्तियों को उभारते हैं जो रूढ़ियों, जड़ संस्कारों और हर प्रकार की विषमता के विरोध में संघर्षरत हैं। यही मानव विकास में सबसे सहायक शक्तियाँ हैं। उनके उपन्यासों में सामूहिक चेतना, पात्रों के जीवन में सहज रूप से अभिव्यक्ति पाती है। नागार्जुन का कलाकार इसलिए चरित्र चित्रण तथा कथानक के सहज और स्वाभाविक विकास का निर्वाह करने में सफल रहा है।

इस तथ्य का इतिहास साक्षी है कि स्वतन्त्रता की लड़ाई काफी लम्बी लड़ाई थी। जो जिस योग्य था उसने इसमे वैसा ही बलिदान किया। अतः स्वाभाविक था कि सत्ता परिवर्तन के सुखद परिणाम का वह भी हिस्सेदार बने परन्तु व्यावहारिक स्तर पर ऐसा सम्भव नहीं हुआ। आजादी कुछ गिने चुने लोगों के लिए ही आई, जिनमें पूंजीपति, जमींदार, सूदखोर, व्यापारी आदि प्रमुख हैं। समस्त जन समुदाय को जो सुविधाएं मिलनी चाहिए थी वे सभी इस शोषक वर्ग ने हड़प लीं। अपने इसी

अधिकार बोध के लिए मजदूर और किसान को फिर सघर्षों, सभाओ और आन्दोलनों का सहारा लेना पड रहा है। परतन्त्र देश में विदेशी शासन के विरुद्ध लड़ना पड़ा लेकिन स्वतन्त्र देश मे स्वदेशी शोषको से। आज अनेक प्रश्न उसकी राजनीतिक चेतना को लगातार आन्दोलित कर रहे है। जमीदारी उन्मूलन, पंचायती राज, सामंती विघटन, चुनाव, राजनीतिक दल और उनकी जातीय पद्धति, समाजवादी चेतना का विकास अनेक वैचारिक स्थितियाँ उसे कुछ करने के लिए प्रेरित कर रही है।

आजादी से पूर्व के घटना चक्रो का उल्लेख होते हुए भी 'बलचनमा' मे उसके निष्कर्ष, आजादी के बाद के गाँवो मे घटने वाले वातावरण पर पूर्णतः सही सिद्ध हो रहे है। ग्रामीण जीवन मे भू-स्वामी और खेतिहर मजदूरो की स्वतन्त्रता से पूर्व की स्थिति, शोषण एव राजनीतिक स्तर पर वर्ग संघर्ष का व्यापक चित्रण सबसे पहले 'बलचनमा' मे हुआ है।

नागार्जुन ने 'बलचनमा' मे गरीब मजदूर और दबे-पिसे लोगो के सपने को प्रकट किया है। "मैने सोचा मुलुक से अंग्रेज बहादुर चला जाएगा, फिर यही बाबू भइया लोग अफसर बनेंगे और तब इस बाबा जी महाराज का भी उद्धार हो जाएगा। इसके हाडो पर मास चढेगा, चेहरे पर चिकनाई आवेगी। बूढ़ा सूगा होगा, हो जाने पर पढ गुन तो क्या सकेगा मगर बाकी आराम सुभिस्ता इस रसोइया को भी मिलेगा।······महेन बाबू ने यही कहा था कि सुराज होने पर सबके दिन लौटेंगे, सबका भाग चमकेगा। हमारा भी, तुम्हारा भी।"[1] लेकिन देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन मे सक्रिय भाग लेकर उन्होंने इन बाबू भइयों के बारे में काफी जानकारी हासिल करली और उनके द्वारा लाये जाने वाली आजादी के बारे मे भी परतन्त्र भारत में ही भविष्यवाणी कर दी थी। ·······"स्वराज मिलने पर बाबू भइया लोग आपस में ही दही मछली बाँट लेंगे। जो लोग आज मालिक बने बैठे है, आगे भी तर माल वही उडावेंगे। हम लोगो के हिस्से मे सीठी ही सीठी पड़ेगी।"[2]

नागार्जुन का बलचनमा सामान्य समझदारी रखने वाला निम्न वर्गीय सदस्य है परन्तु कांग्रेसी नेता फूल बाबू के साथ रहकर बलचनमा ने उसके वर्गीय चरित्र और योजनाओं की तरह पहचान की है। उसने सुराजियों की दुरंगी चाल को भी देखा है। वह अच्छी तरह जान गया है कि "सोराजी हो गए तो क्या, थे तो आखिर बाबू भइया ही न। गरीब गुरबा का दु.ख ये क्या जाने।"[3] अब वह समझ गया है कि इन, सुराजी बाबू भइयो से अपने हक के लिए लड़ना चाहिए। इसके लिए वह आह्वान करता है। "अंग्रेज बहादुर से सोराज लेने के लिए बाबू भइया लोग एक हो रहे हैं। हल्ला-गुल्ला और झगड़ा झंझट मचा रहे है। इसी तरह बनिहार, कुली मजदूर और बहिया खवास को अपने हक के लिए बाबू भइया से लड़ना पड़ेगा।"[4]

1. बलचनमा, वही. पृष्ठ 90
2. वही, पृष्ठ 155
3. वही, पृ० 95
4. वही, पृष्ठ 95

बलचनमा राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित, शहर की राजनीति में गाँव का सपना देख रहा है। लोगों में समकालीन राजनीति और राजनीतिज्ञो से प्रेरणा लेकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने में जी जान से जुटा हुआ है। गाँधी के हुक्म से स्वदेशी आन्दोलन को तेज करने के लिए खद्दर और चरखे का प्रचार भी बलचनमा ने रसोइए का काम करते हुए भली भाँति देखा है।

रामपुरा गाँव में घटने वाली भूचाल की दुर्घटना भी ग्रामीण चेतना का एक केन्द्र बनी है। बलचनमा को कांग्रेस की ओर से मिलने वाले रिलीफ फंड की उपयोगिता की पूरी जानकारी है। कुए खुदवाने, रकम बंटवाने में जो वर्गीय स्वार्थों को भरपेट शोषण करने का मौका मिला है, बलचनमा ने उसे पूरी तरह स्पष्ट किया है। उसे यह भी मालूम है कि सरकार की ओर से मिलने वाली रकम कितनी है और देने तथा लेने के बीच की सौदेबाजी का कितना अन्तर होता है। यह स्थिति आज भी मौजूद है। कुल बीस आदमियो के नाम पर सवा पांच सौ रुपये मुआवजे के रूप में वितरित किए गये। भोली ग्रामीण जनता ने भी इसे आसमान से टपकी समझकर अंगूठे का निशान रजिस्टर पर बना दिया। इस भूकम्प की खैरात पर उसी गाँव की विधवा कुन्ती असलियत को सामने पेश करती है—"बबुआ बोलो, भुइकम्प यह क्या हुआ, बड़े लोगों के लिए आमदनी का एगो अउर रास्ता निकल आया।"[5] यह काम सरकार की ओर से कांग्रेस के कार्यकर्त्ता फूल बाबू को सौंपा गया था। नेता जी सीधे जाकर अपने फूफा के यहाँ ठहरते हैं और कांग्रेस द्वारा चन्दे के नाम पर लोगों, सेठों और महाजनों से ऐंठी गई रकम को डकारने के मनसूबे तय करते हैं। बलचनमा ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से कांग्रेसियों की सेवा की है तथा उनकी चारित्रिक कमजोरियों को नजदीक से देखा है। बहुत से कांग्रेसी भी पार्टी की मूलभूत कमजोरियों को देखकर सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होने लगे थे। राधा बाबू उन्हीं में से एक थे। सोशलिस्ट और कांग्रेस की मूल धारणाओं का उल्लेख करते हुए उसने अपने जीवन के मोड़ की ओर संकेत किया है—"गाँधी महात्मा से किस बात में सोशलिस्टों का मेल नहीं खाता है, अंग्रेजी राज न कांग्रेस चाहती है न सोशलिस्ट ही चाहते हैं, लेकिन गाँधी महात्मा कल कारखानों के खिलाफ हैं। वह इसके भी खिलाफ है कि सेठों, जमींदारों, राजाओं, महाराजाओं से जमीन जायदाद और धन सम्पदा छीनकर उसे लोगों में बांट दिया जाय। उनका कहना है कि एक न एक दिन अंग्रेजों की मति फिर जाएगी तब वह आपन मुलुक छोड़कर चल देंगे, उनको जास्ती परेशान मत करो।"[6]

दूसरी ओर वह सोशलिस्ट पार्टी के सिद्धान्तो को भी समझता है। उसे अच्छी तरह याद है कि स्वाभिमान और आत्मविश्वास का संघर्ष कांग्रेस में न होकर सोशलिस्टो मे है "सोशलिस्टों का क्या कहना था? उनका कहना वही था कि दो चार साधू महात्मा के गिड़गिड़ाने से अंग्रेजों का दिल नही बदलेगा। समूची जनता आपस

---

5. वही, पृष्ठ 155
6. वही, पृष्ठ 156

के भेदभाव भुलाकर खडी होगी तभी अंग्रेज भागेगा। ······लोगों को जब विश्वास हो जाएगा कि जमींदार महाजन की फाजिल धन सम्पदा उन्हीं मे बंट जाएगी, रोजी-रोटी का सवाल हल होगा, बच्चों की पढाई-लिखाई, बुढ़ापे की बेफिक्री खानपान और रहन-सहन का ठौर-ठिकाना······दवा दारू, पथ पानी का इन्तजाम······वह सभी के लिए सुलभ होगा। दरभगा के महाजन हों, चाहे पटना के लाट साहब, मुफ्त का खाना किसी को नही मिलेगा। ·····सब काम करेगा, सब दाम पावेगा······ लूला, अपंग, बूढ़ा बेकार सबकी जिम्मेदारी सरकार को उठानी पड़ेगी। पैसे के बल पर कोई किसी को बंधुआ गुलाम नही बना सकेगा।"[7] वह सोशलिस्ट विचार धारा का पूरा समर्थन करता है—"ठीक कहते हैं सोशलिस्ट भाई, जिसका हरफार, उसकी धरती। जिसका हुनर और जिसका हाथ, उसी का कल कारखाना।"[8] कल कारखाने और हल खेती की बात बलचनमा के मुंह से अचानक निकले हुए शब्द नही है बल्कि उनके पीछे एक जीवन्तता है।

बलचनमा की बहिन के साथ छोटे मालिक (फूलबाबू के फूफा) बलात्कार की साजिश करते है। इस अभद्रता को वह शाँति से रोकने का प्रयास करते हुए जब फूल बाबू के पास जाता है तो फूलबाबू अपने ही वर्ग की वकालत करते हैं जिससे कांग्रेस के घृणित रूप का और भी साफ-साफ पता चलता है। उसके मुख से दुःख के शब्द अनायास ही फूट पडते हैं। जीवन अनुभव उसे वर्ग राजनीति का पाठ पढ़ाते हैं।

वह सोशलिस्ट पार्टी का वालंटियर बनकर राजनीति मे सक्रिय भाग लेता है और अपने वर्ग, लोगों के हित और अधिकारो के लिए ग्रामीण स्तर पर संघर्ष करता है परन्तु जालिम जमींदार पालतू गुण्डों द्वारा बलचनमा की हत्या कराता है तो मरते समय वसीयत के रूप में उसके मुख से निकले हुए शब्द भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं "कमाने वाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो, धरती किसकी, जोते बोए उसकी। किसान की आजादी आसमान से उतर कर नही आएगी। वह प्रगट होगी, नीचे-जुती धरती के मुरमुरे ढेलों को फोड़कर।"[9]

बलचनमा के अतिरिक्त समसामयिक राजनीति से प्रभावित होने वाले पात्रों में डॉ० रहमान, राधाबाबू, लतीफ, स्वामी जी व शर्मा जी हैं जो कि जमींदारों के शोषण के विरुद्ध किसानों और मजदूरों को इकट्ठा करके संघर्ष के लिए आमंत्रित करते हैं। लतीफ गरीब और मेहनती आदमी है परन्तु पार्टी मीटिंग के लिए अपनी कच्ची फसल वाला डेढ़ बीघे का खेत अर्पित कर देता है। डॉ० रहमान खेतिहर मजदूरों और किसानों में उनके अधिकार के लिए मंच तैयार करते हैं। शर्मा जी और स्वामी जी गरीब और मजदूरों को सही दिशा की ओर आने का रास्ता दिखाते है। वे गरीब मजदूरों को उनकी शक्ति का बोध भी कराते हैं—"माना कि नेता पढ़े

7. वही, पृ० 156
8. वही, पृष्ठ 156
9. वही पृष्ठ, 192

लिखे होते है और आप अनपढ अनजान है, लेकिन गेहूं, चावल, दूध, घी, तिलहन, कपास सब कुछ आप ही पैदा करते है। लीडर लोग तो आपकी ही कमाई का हलवा खाकर लेक्चर देने आते हैं और अपने दिमाग और पेट की बदहजमी मिटाते हैं ··· आप सब कुछ पैदा करते हैं तो अपना लीडर भी अपने यहाँ पैदा कीजिए। काँग्रेस आपका दु:ख दर्द क्या समझेगी। वह खादी पहनकर और गले मे माला डालकर जमींदारों को जेल भेजने का नाटक करती है। खबरदार ······आप अकेले नही है करोड़ों की तादाद है आपकी। जब उठ खड़े होंगे और एक कठ से हुकार करेंगे तो जालिम जमींदारों का कलेजा दहलने लगेगा ······ कोई आपका हक नही छीन पायेगा। आप अपनी ताकत को पहचानिये।"[10]

नागार्जुन का उपन्यास 'वरुण के बेटे' उनके पूर्ववर्ती उपन्यासो 'बलचनमा, 'बाबा बटेसरनाथ' आदि से कुछ हटकर मछुओ के जीवन को सामने लाने वाला हिन्दी उपन्यास है। यह उपन्यास मछुओ की जिन्दगी को उसके विविध आयामो के साथ सामने लाता है। किस प्रकार जब सारी दुनिया सोती है तब मछुए जाल फैलाते हैं और बर्फीले ठंडे पानी में डुबकियां लगाते है। उपन्यास मे मेहनतकश वर्ग की शक्ति और इसके साहस के साथ-साथ उनकी जिजीविषा स्पष्ट होकर सामने आती हूं।

'मैला आंचल' के बामनदास की तरह मछुओं की बस्ती के मोहन मांझी ने आजादी का एक सपना देखा था—"गढ़ पोखर का जीर्णोद्धार होगा आगे चलकर और तब मलाही-गोढयारी के ग्रामांचल मछली पालन व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र हो जायेंगे। वैज्ञानिक प्रणाली से यहाँ मछलियाँ पाली जायेंगी। पूस से लेकर जेठ तक प्रति वर्ष अच्छी से अच्छी मछलियां आधे से अधिक परिमाण में हम निकाल सकेंगे। एक-एक सीजन में पचास-पचास हजार रुपये की आय होगी। मलाही-गोढ़ियारी का एक-एक परिवार गढ़ पोखर की बदौलत सुखी सम्पन्न हो जायेगा। विशाल जलाशय की इन कछारों में हम किस्म-किस्म के कमलों और कुमुदिनियों की खेती करेंगे। पक्की ऊंची भिन्डों पर इकतल्ला सैनिटोरियम बनेगा, फिर दूर पास के विद्यार्थी आकर यहाँ छुट्टियाँ मनाया करेंगे।"[11] लेकिन ये सपने साकार नहीं हो सकते। जमींदारों ने धीरे-धीरे पोखर और चरागाहो को बेचना शुरू कर दिया और यही से संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। प्राइमरी स्कूल में भोला खुरखुन, बिसुनी, रंगलाल, छितन, नवलि, नथुनी, नकछेदी आदि सोचते हैं—"छोड़ा नहीं जाये, गढ़पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है। जमीदार जल-कर लेता था, हम देते थे। नया खरीदार दूसरे-तीसरे गाव के मछुओं को मछली निकालने का ठेका देता चलेगा और हम पुश्तैनी अधिकारो से वचित होकर घूमते फिरेंगे। भला यह भी क्या मानने की बात है।"[12]

10. वही, पृष्ठ, 168
11. वरुण क बेटे, पृ० 34
12. वही, पृष्ठ 36

'वरुण के बेटे' की कथा सामन्तवादी व्यवस्था के अत और पूंजीवाद के विकास के प्रारम्भिक बिन्दु से शुरू होती है। सामन्तवाद और पूंजीवाद से संघर्ष करने वाले मछुए प्राकृतिक प्रकोप से पीड़ित होते है और सरकारी सहायता उनके दु:ख को कुछ और बढ़ा देती है। गाँवों के सीधे-सादे मजदूर शहर के जीवन का पाखंड देखते हैं; नेताओं के लम्बे-लम्बे भाषण सुनते हैं और आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि सच्चाई क्या है ?

आजादी के बाद गाँवों के किसानो का शहरी मजदूरो में परिवर्तित हो जाना एक युगीन सच्चाई है। 'बरुण के बेटे' के मछुए कोसी योजना में काम करने के लिये चले आते है और देखते है कि "मिट्टी काटते-ढोते बारह दिन हो गये, छदाम का भी दर्शन नही हुआ। उधार चावल, दाल, नमक, हल्दी, मिर्ची, ईंधन देने वाला दुकानदार भला क्यो छोडने लगा ? कुदाल रख ली, टोकरा रख लिया, धोती तक उतरवा ली, कमर से गमछा लपेटे दो दिन दो रात का भूखा घर लौट आया हू··· इतना कहकर दुन्नी ने लम्बी सास ली और धरती छूकर दोनो कान छू लिये।[13] इस प्रकार मछुए शहरी मजदूर बन जाते है। स्वतन्त्रता के बाद विकसित औद्योगीकरण की अमानवीयता की ओर संकेत करते हैं।

नई सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों मे मछुए जागरूक होते हैं और एक समय वह आता है जब वे मोहन मांझी के नेतृत्व में चेतनाशील मारे लगाते हैं। नागार्जुन ने अपनी राजनीतिक समझ का सही उपयोग करते हुए सर्वहारा में वर्ग चेतना का विकास दिखाया है। कही-कही व्यंग्यों के माध्यम से श्रमदान की वास्तविकता को उधेड़ा गया है। भूदान और श्रमदान किस प्रकार खोखले है, इनकी ओर भी संकेत किये गये हैं—"खाते-पीते परिवारों के शौकिया श्रमदानी सज्जनों की बात ही और थी, उनकी सुविधा के अनेक साधन कोसी के किनारे जुट गये थे। चाय, बिस्कुट, पान-सिगरेट शर्बत-मिठाई, पूडी-कचौड़ी, चूडा-दही, रेडियो, सिनेमा, रिकार्ड, माइक, लाउडस्पीकर, अखबार, और पत्रिकाये······। पास-पड़ोस के परिचित कांग्रेसी नेताओं की सिफारिश से वे पटना या दिल्ली से आये ऊंचे पदाधिकारियो के साथ भीड़ में खड़े हो जाते और फोटो खिच जाती। इन लोगों का श्रमदान क्या था। बैठे ठाले का अच्छा मनोरजन था।"[14] आज के जीवन की कृत्रिमता, प्रचारवादिता और नकलीपन पर नागार्जुन की गहरी नज़र है। वे आयोजनों की निरर्थकता और विकास के नाम पर परियोजनाओ मे व्याप्त यथास्थितिवाद को भली प्रकार सामने रखते हैं।

मलाही-गोढ़ियारी के छोटे से ग्रामांचल की ये समस्यायें महान भारत की समस्याये हैं जिनमें भूमि व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और राजनीति भी सश्लिष्ट है। समस्यायें और अवरोध किस प्रकार जन चेतना को जन्म देते हैं, इनका यथार्थ चित्रण तो इस उपन्यास में है ही, साथ ही शोषण से भरपूर समाज के समाधान के रूप मे समाजवादी समाज व्यवस्था के सुन्दर रूप को भी लेखक ने प्रस्तुत किया है। लेखक

13. वही, पृष्ठ 46
14. वही, पृष्ठ 42

कही से भी निराश और कुंठित नही है और न केवल हवाई कल्पनाओ के ताने-बाने बुनता है, वह वैज्ञानिक समाजवाद में आस्था व्यक्त करता है। मोहन माझी गाँव के समाजवादी विकास के स्वप्न देखता है। जब मलाही गाँव और गोबर तालाब मछली पालन व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र बनेगा और मल्लाहों का जीवन सुखमय होगा। मधुरी और मोहन माँझी हिन्दी साहित्य में नये समाजवादी नर-नारी के रूप में पाठकों के समक्ष आते हैं। कुछ आलोचक नागार्जुन पर प्रचारवाद का आरोप लगाते है। पर भारत के कोने-कोने से उठने वाली अधिकार रक्षा की लडाई का चित्रण यदि प्रचारवाद है तो क्या प्रभुओ की रंगरेलियों के गीत गाना ही साहित्य सर्जना करना है ? वास्तविकता यह है कि लेखक ने ग्रामीण जीवन का सही-सही ईमानदारी के साथ चित्रण किया है।

नागार्जुन ने 'वरुण के बेटे' के माध्यम से उपन्यास लेखको को रास्ता दिखाया है कि यौन रोगो से पीड़ित, कुंठाग्रस्त एवं अहंवादी मध्यवर्गीय पात्रो के शहरी जीवन के भटकाव, स्वयं अपने आप में खोये हुए, महाप्रगति के कोलाहल मे उपेक्षित और अपने तथा समाज के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण विचार रखने वाले पात्रो का वैयक्तिक चित्रण करना ही उपन्यास की कथावस्तु नही अपितु सीधे-सादे समस्याओं से जूझते, आगे बढ़ते और परिवर्तन करने का हौसला रखने वाले ग्रामीणों का जीवन-चित्रण ही वास्तव मे कथा-वस्तु हो सकती है।

जमनिया का बाबा

—रामवीर सिंह

प्रेमचन्द के बाद स्वातंत्र्योत्तर भारत के गांवों की बोली-बानी, पहनाव उढाव, खान-पान, रहन-सहन, सोचने-समझने के तौर तरीको, कीचड और रपटीली राहो, मान-मर्यादाओं, अन्धविश्वासो आदि को व्यापकता से अपनी रचनाओं में स्थान देने वाले नागार्जुन पहले रचनाकार हैं जिन्होने देश की दो तिहाई से भी अधिक इन्हे स्वीकार करने वाली मूक-जनता को वाणी प्रदान की है। बाबा नागार्जुन हिन्दी साहित्य में बडे ही स्पष्ट वक्ता हैं। वे रचनाकार के नाते जन-जीवन के साथ पूरी सहानुभूति रखते है। भ्रमणशील होने के कारण उन्हें गहरे अनुभव है। उन्होने लाखों लाख लोगों के चेहरो को देखा है, उन्हे पहचाना है। व्यक्ति का बौनापन, छद्म, मक्कारी, बेईमानी, जालसाजी आधुनिक समाज मे बड़ी तेजी से बढ़ रही है। संवेदन-शील साहित्यकार होने के कारण उन्हें इसका बडा दुख है। वे इन्ही दुखों से तिल-मिलाकर कविता, उपन्यास की रचना करते है, परन्तु आलोचना-जगत् में इस लेखक का यह दुर्भाग्य रहा है कि इसकी रचना-धर्मिता का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो सका। आलोचकों ने खेमेबाजी की सीमा रेखा में सिकुड़कर इस लेखक की खूब फजी-हत की है। लेकिन यह लेखक आलोचनाओं की खेमेबाजी से कोसो दूर अपने ग्राम्य कुटीर में रहता है जहाँ उसे रचना के लिए नैसर्गिक वातावरण सुलभ है। नागार्जुन ने अपने लेखन मे इसी नैसर्गिक वातावरण का चयन किया है। देहाती जीवन मे आने वाले अनेकों उतार-चढावों को उन्होने बडे सहज ढग से अपने पाठक को समझाकर उसे कुछ सोचने के लिए बाध्य किया है। 'जमनिया का बाबा' उपन्यास देहाती जीवन के धार्मिक उतार-चढाव का प्रामाणिक दस्तावेज है। भारत का शिक्षित और अशिक्षित समाज धर्म-लीला मे बहुत अन्धविश्वासी है। धर्माधिकार, मठाधीश, साधु सिद्ध इस धर्मभीरु समाज को आज बीसवी सदी के अन्तिम चरण में भी झांसा दिए जा रहे हैं। अपनी अमानवीय एव निर्लज्ज करतूतों पर आध्यात्मिक दुशाला ओढ़कर इन मठाधीशों ने अपना बहुमुखी स्वास्थ्य-लाभ किया है। उनके मन प्रसन्न रहने में ईश्वर प्रसन्न रहता है। अतः वे पाखण्डी समाधियाँ आज भी लगा रहे है। जमनिया का मठ और वहाँ दण्ड-बैठक लगाने वाले ऐसे सैंकड़ो बाबाओं, मठ के साथ लगे-लिपटे हजारों मक्कारों और बेईमानो का 'जमनिया का बाबा' के माध्यम से नागार्जुन ने पर्दाफाश किया है—

"जमनिया का मठ कोई परम्परागत प्रामाणिक मठ नही है। आज से दस बारह वर्ष पहले वहाँ कुछ नही था, वीरान था। जमींदारी ताल्लुकदारी प्रथा के उन्मूलन का कानून पास हुआ तो जमनिया और लखनौली के दो तीन भूस्वामियों ने ज्यादा से ज्यादा जमीन हडपने के लिये रातो-रात जमनिया मठ की स्थापना कर डाली। नारायणी नदी जहाँ नेपाल की तराई से नीचे उतरती है, वहां उत्तर प्रदेश और बिहार प्रान्त भी आपस में मिलते है। उस कछार भूमि से वे एक जटाधारी

औघड़ बाबा को लिवा लाए। जमीदारो ने उसी विचित्र व्यक्ति को अपने मठ का महन्त घोषित किया।"[1]

आजकल यह सच है कि धर्म की आड़ लेकर बड़े से बड़ा धोखा समाज को दिया जा सकता है। इसलिए हर व्यक्ति इस शरण स्थली से अपना सम्बन्ध रखने की फिराक में रहता है। जितने भी अनैतिक और काले कारनामे धर्म ध्वजा की छाया में किये जा सकते हैं, तमाम असामाजिक तत्व उन कार्यों को दिन रात यहाँ करते दिखाई देते हैं। यह एक मठ की नही बल्कि सैकड़ो मठों की स्थिति है। उदाहरण के लिए गया मठ की स्थिति अवलोकनीय है—

"गया मठ के स्वामी आचार्य धनसुख गिर अठारह न्यासो से लगभग बारह हजार बीघा जमीन के स्वामी हैं। वैसे भक्तो के नाम पर आठ सौ लठैत तैनात हैं।"[2]

इस तरह के आतंक और व्यभिचार के अनेको अड्डों पर अन्धविश्वासी भारतीय जनता की श्रद्धा भक्ति और आस्था आज बडी तेजी से बढ रही है। सामान्य व्यक्ति से लेकर सरकार नियामक राजनेता तक इन अनैतिक अड्डों मे शाम सुबह न जाने किस भले के लिए अपना सिर झुकाते हैं। हर रोज नये भगवान, आचार्य महाराज, आनन्द पैदा हो रहे हैं जिन्होंने अपने दोनो हाथ जनता के सिर पर न रखकर उसकी आँखों पर रख दिए है। जहाँ कभी दूध और दही का अर्घ्य लगता था, वहाँ अब सुरा सेवन किया जाता है। जहाँ शारीरिक कष्ट झेलकर सिद्धियाँ प्राप्त की जाती थी, वहाँ आज दूसरों की नर-बलि देकर स्वार्थ सीधे किये जाते है।

नागार्जुन ने धर्म के नाम पर साधु-सन्तो द्वारा पनपाई गई मिथ्या धारणाओ, ढोंगों, आडम्बरों, अनैतिकताओं, छल-कपटों, बेईमानी, जालसाजी, धोखाधड़ी को बड़ी निकटता से देखा है। उन्होंने निरीह, निरन्न, निर्वस्त्र समाज की घेराबन्दी करने वाले इन रंगीन लुटेरों की गतिविधियों को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया है। जमनिया का मठ अनेकों सुविधाओं की रंगस्थली है। वहाँ लालता, भगौती, सेठ विधीचन्द, शिव नगर स्टेट की रानी साहिबा आदि के मन बहलाव के लिए बाबा, मस्तराम, इमरतिया गौरी जैसे योगी और योगिनियाँ विराजमान हैं जो उनकी स्वार्थ सिद्ध के लिए अनेकों अधर्म सिद्धियाँ प्रतिदिन करते हैं। उनमें से उपन्यास में सबसे अधिक दिल दहलाने वाली घटना छह माह के अबोध शिशु की देवी को दी गई नर बलि है जिससे औघड़ बाबा की ख्याति सर्वत्र फैल जाती है और बाबा इस कुकर्म से इलाके भर में श्रद्धा का केन्द्र बन जाता है—

"पता नही सिद्धई का वैसा चूतियापा कब किसी दूसरे औघड़ पर हावी हुआ होगा ? वह बच्चा जिन्दा होता तो आज उसकी उम्र नौ-दस साल की होती·· पीछे, कई वर्षों तक सुनता रहा कि उस नर बलि के बाद यहाँ की आमदनी खूब बढ गई थी ···मस्तराम कहा करता : साधुओ की विष्ठा दुनियादारों के लिये चदन होती है।"[3]

नर बलि का वह नाटक जिस ढंग से गाजेबाजे के साथ इन हत्यारो द्वारा खेला गया, वह बड़ा ही हृदय विदारक है। छह महीने का अनाथ लक्ष्मी नाम की माँ

1. जमनिया का बाबा, पृ० 103
2. दिनमान (साप्ताहिक) अप्रैल—23 20, 1978, पृ० 23
3. जमनिया का बाबा, पृ० 145

की गोद मे बिलकारी भरता हुआ वह शिशु इन संतों की ख्याति बढाने, मठ की आमदनी बढाने की दृष्टि से बलि का पात्र चुना गया। मठ की योगिनी इमरतिया आत्म विश्लेषण मे सोचती है—

"क्वार के महीने मे उस वर्ष मठ के अन्दर धूमधाम से दुर्गा पूजा हुई थी। ······महाअष्टमी की रात में, देवी की प्रतिमा के सामने छः महीने का एक शिशु खडा किया। उसकी कमर में रेशमी वस्त्र का लाल टुकड़ा लपेटा हुआ था, गले में लाल फूलों की माला थी, माथे पर सिंदूर का टीका था, पूजा के मण्डप से बाहर जोरों से बाजे बज रहे थे। नगाडे, घड़ियाल, सिंगा, मादर, झाल, करताल, शख- –हजारो की भीड़ थी। अलग मैदान मे चारो तरफ मेला और बाजार। बकरी के बच्चे की तरह, आदमी के उस बच्चे का सिर धड से अलग कर दिया गया। खून के फव्वारे देवी की तरफ छोडे गये। शिशु मुण्ड को देवी के चरणो मे महिषासुर के पास डाल दिया। पीले वस्त्रो मे पुजारी जैसा दिखने वाला वह आदमी तलवार लिये खड़ा था। खून से सनी तलवार पैट्रोमेक्स की रोशनी मे चमक रही थी······तलवार मे उंगली छुआकर उस हत्यारे ने बाबा के ललाट मे रक्त का टीका लगाया। भगौती, ठाकुर, सुखदेव सब थे। सबके माथे पर लहू के गीले टीके लगाये गये। फिर उस बच्चे की देह को उस निठुर आदमी ने कई टुकड़ो में काटा। फिर वे टुकड़े एक-एक करके हवन कुण्ड में डाल दिये गये। जलते हुए मांस की दुर्गंध को दबाने के लिये सेरों गुग्गल, कपूर, जौ, तिल, सुपारी आदि तो आग मे डाले ही गए ऊपर से आधी टीन शुद्ध घी भी डाल दिया गया······बाबा की सिद्धई इस तरह सारे संसार में मशहूर हो गई। लाखों दिलो पर उनका चमत्कार असर डाल गया।"[4]

योगिनी इमरतिया बाबा के इस घिनौने कृत्य पर, आज जब वह अपने जीवन का विश्लेषण करती है, थूकती है। वह बाबा के नाटक को भली-भाँति समझकर 'यह सब बाबा के दिमाग की खाम ख्याली थी' कहती है। यह इतना बड़ा नर हत्या का अपराध ढोंगी बाबा जमनिया मे उत्सव मनाकर करता है। जब इस अपराध की खबरें थाने तक जाती है तो एक अपराध को छिपाने के लिये बाबा का मुंह लगा चेला जिसका मठ से जीवन मरण का प्रश्न जुड़ा है भरतपुरा के थानेदार सादुल्ला खां की क्रोधाग्नि को शात करने के लिए मठ की दूसरी योगिनी गौरी को लेजाकर उसके साथ लगातार चार दिन चार रात सुला देता है और थाने में झूठी रिपोर्ट बाबा और मठ के बचाव मे दर्ज करवा दी जाती है—

"पूजा की आठवी रात में जाने किधर से एक पगली आई। उसकी गोद में छः महीने का बच्चा था। पुजारी की नजर बचाकर उसने बच्चे को हवन कुण्ड में डाल दिया। कोशिशें तो काफी की गई लेकिन बच्चे को बचाया नहीं जा सका। बाबा की बड़ी ख्वाहिश थी कि पगली को थाने तक पहुंचा दिया जाय लेकिन अगले ही दिन वह गायब हो गयी। अब कुछ गुण्डों ने उल्टी बाते फैला दी हैं। सरकार बहादुर से अर्ज है कि वह जमनिया मठ के संत शिरोमणि बाबाजी महाराज की प्रतिष्ठा और इज्जत को ध्यान में रखें।"[5]

---

4. वही, पृ० 84–85
5. वही, पृ० 90

यह एक मठ और मठाधीश की स्थिति न होकर अनेकों मठो की स्थिति है जहाँ तथ्यो को छिपाकर उनकी झूठी शोहरत चंद चालाक भेड़िये करते है। अनैतिक कर्मों मे रत साधु महात्माओ की यह काली करतूते लोगो तक तथ्य बदलकर ख्यातिनामे के रूप में प्रसारित होती है।

. .. जमनिया का मठ तस्करी मे लिप्त है। विदेशी माल जटाधारी बाबाओ की जटाओं में इधर से उधर होता है। बाबा लोग स्वय और अपने चेलों-चेलियों को खुश रखने के लिये इस अनैतिक व्यापार की खुली छूट देते है। देशाभिमान या देश प्रेम जैसी बात विदेशी माल की चमक में कही दूर जा गिरी है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वेसन्तु निरामया' की उन्होंने अपने ढग की व्याख्या की है जिसका उद्देश्य मात्र सुखी और निरामय होने से है। अखबार मे छपी खबरो की कतरनों को भ्रष्ट भगौती नीद न आने की बेचैनी मे बैठा-बैठा बांच रहा है—

"जमनिया का मठ तस्कर व्यापार का छोटा-मोटा अड्डा नही है क्या? घड़ियाँ, फाउन्टेन पैन, ट्राजिस्टर, टेप रिकार्डर, रेशमी-ऊनी माल शुद्ध सोने की अगूठियाँ, टार्च, लाइटर, कैमरे और जाने क्या-क्या वस्तुयें मठ की भगत-मडली के के लिये सुलभ नही है क्या?"[6]

मठ में काम क्रीड़ायें खुले रूप मे होती हैं। पूरा सन्त-समाज यह खेल खेले बिना स्वस्थ और प्रसन्न नहीं रह सकता। भोली-भाली निरीह और निराश महिलाओ को चुंगल में फंसाकर उनके जीवन को सदा के लिये नरक बना देना इनके बायें हाथ का खेल है। देवदासियां, योगिनिया जैसी उपाधि से विभूषित जमनिया मठ पर भी बाबा, मस्तराम, भगौती, रामजनम, सुखदेव आदि को प्रसन्न रखने के लिये गौरी, इमरतिया, जलेबिया जैसी महिलायें चौबीस घन्टे उपस्थित रहती हैं। इनमें से किसी के अभाव की पूर्ति असम्भव नहीं। एक के न रहने पर दूसरी का आना स्वाभाविक है। बाबा स्वयं इस बात को बड़े सहज ढंग से कहता है—

"इमरतिया जायेगी तो जलेबिया नही आ जायेगी। एकाध सधुआइन न रहे तो मठ उदास लगता है। भगतो की तबीयतें उचटी-उचटी सी रहती हैं।"[7]

स्वयं भगौती मठ की इस कामलीला की खबर की कतरन भी अपने बैग में रखता है और रात को सिरहाने रखकर बेचैनी में पढ़ता है—

"असम्भव चमत्कारों का जाल बिछाकर दूर-दूर तक के लोगों को फांसा जाता है। पिछड़ी जातियों की बहुएं और बेटियाँ गुण्डों की वासना का शिकार बनाकर छोड़ दी जाती हैं'''जमनिया का मठ अंधी गढ़ी नहीं है तो क्या है?"[8]

मठ पर मस्तराम बाबा लोगों की कमर मे बेंत फटकार कर आशीर्वाद देकर लोगों को निहाल कर देते है। चमत्कारिकता, आशीर्वचन उनके मुखकमल से न निकल कर बेंत की पिटाई की आवाज से निस्सृत होते हैं—

"मस्तराम बाबा आपकी बेंत लगेगी तो ठूंठ की कोख से भी हरा-हरा पौधा निकल आयेगा, पत्थर पर दूब जनमेगी।"[9] मठ पर आशीर्वचन के कार्य अलग-अलग

---

6. वही, पृ० 104
7. वही, पृ० 17
8. वही, पृ० 104
9. वही पृ० 136

लोगो पर हैं। मस्तराम कमर पर बेत चटकाता है तो ठूठ की कोख में से पोधा पैदा करने पत्थर पर दूब पैदा करने के लालच में निराश महिलाये भगौती, लालता, रामजनम, सुखदेव जैसे फतह-बहादुरों के पास जाकर धन्य होती रहती हैं। जमनिया का मठ और वहाँ के सत विधि के विधान को बदलने में हर तरह की पूरी कोशिश दिन-रात करते रहते हैं। मठ पर रहने वाली दालिन गौरी संतों को प्रसन्न रखने के लिये ही रखी गई है। वह मर्द और जानवर में कोई भेद नही करती, अवस्था और रिश्ते उसके लिये काम क्रीड़ा मे सब बराबर है। इमरतिया उसके बारे में पक्की जानकारी देती हुई कहती हैं—

"गौरी तो थी ही छिनाल। वह साल-साल में दो-तीन मर्द बदलती थी। वह उन मर्दों का बुरी तरह पीछा करती थी जो डील-डौल के तगड़े होते थे।"[10] इस कार्य को करने में उसे जानवर और आदमी मे कोई अन्तर नही दिखलाई देता। उसके लिये अवस्था और रिश्तो का भी कोई अन्तर नही है—

"कच्चा चबाने के लिये मुझे आदमी ही चाहिये और हमेशा चाहिये·· दस वर्ष का लड़का हो तो भी चलेगा, सत्तर साल का बुड्ढा हो तो भी चलेगा···।"[11]

इस तरह की साध्वी मठ पर धार्मिक अनुष्ठान कराती है। बाबा भी तराई के इलाकों में भ्रमण के समय गौरी को ही साथ रखते है। दोनों का एक दूसरे से मन खूब मिला हुआ है। बाबा के नरबलि काण्ड को छिपाने के लिए गौरी ही बाबा के काम आई थी जिसने खुले मन और खुले तन से भरतपुरा के थानेदार सादुल्ला खां को लगातार चार दिन और चार रात तक प्रसन्न रखा था।

यह है आधुनिक मठ का स्वरूप जहाँ नंगा नाच सबके सामने बेझिझक किया जाता है। बाबा लोग अप्सराओं के बीच बैठकर अपनी मोहिनी दृष्टि से समाज को आकर्षित करते है। इन बाबाओ का प्रारम्भिक जीवन चोर-उचक्का, बदमाश, बेईमान और अनैतिक कुकर्म करने के कारण गाँव से भगाया हुआ व्यक्तित्व होता है। ये अपने उन्ही काले कारनामों को छुपाने के लिए दिन रात ऐसी हिकमतो में लगे रहते हैं जिससे इनका प्रभाव जनता में जल्दी और आसानी से फैल जाये। शाप देना, धमकी देना, भस्म करना जैसी तुनुक मिजाजी इन ढोंगियों की बान होती है। भोली-भाली महिलाओ की हस्तरेखा देखने के बहाने जो इन्हें स्पर्श सुख मिलता है, उससे इनकी ज्ञान धारा प्रवाहित होती है। जमनिया के मठ का औघड़ सिद्ध इसी कोटि का है। वह पहले मुसलमान था। गाँव में किसी लड़की को भगाने के आरोप में उसे गाँव से निकाल दिया गया है। अब वह कबीर बानी में······'नारि मुई घर सम्पत्ति नासी, मूड़ मुड़ाय भए सन्यासी' बाबा का भेस लेकर अपनी पुरानी आदतो को फिर से चिकना रहा है। मामला फँस जाने पर मठ का अलमबरदार भगौती बैठा-बैठा सिर कुरेदता हुआ अखबार की कतरन पढ़कर इस बात को सोच रहा है—

10 वही, पृ० 88
11, वही, पृ० 89

"जमनिया का बाबा अपने पूर्व-जीवन में (गृह-त्याग से पहले) मुसलमान था। इसका असल नाम करीमबक्स था। बाप का नाम खुदाबक्श। पेशा जुलाहे का। जवानी के दिनों में कई प्रकार के गम्भीर अपराध करने के बाद, पुलिस की निगाहों से बचने के लिए यह नेपाल भाग गया। तहसील पड़रौना के अन्दर, मौजा डिग्घी एक छोटी सी बस्ती है। वहाँ आज भी इसकी बुढ़िया माँ जिन्दा है। नेपाल में यह लगभग बीस वर्ष रहा। अपने दुष्कर्मों के चलते बार-बार इस पर वहाँ भी पिटाई पड़ी हैं।"[12] यह चारित्रिक विशेषता उस धर्माधिकारी की है जिसके हर अंग की पूजा जमनिया मे हुई है। यह बात वास्तव में हिन्दू और मुसलमान की नही है अपितु चरित्र विशेष की है जो कि समाज में अपना स्वांग दिन-रात करते हुए मजे से दिन गुजारते है।

वास्तव मे नागार्जुन का चरित्र-विश्लेषण इस मायने में अद्वितीय है। सहज और स्वाभाविक ढंग से वे पात्रों की उन तमाम बारीकियों को अपने पाठको के सामने रख देते है जिससे वह सही अर्थ और निष्कर्ष ले सकें। उनकी यथार्थ रुझान का यह वैशिष्ट्य उन्हे अन्य रचनाकारों से अलग महत्व देता है। विजय बहादुर सिंह की उनके चरित्रो पर यह टिप्पणी द्रष्टव्य हैं—

"नागार्जुन के उपन्यासो को पढ़ते हुए हम इसकी परीक्षा बहुत आसानी से कर सकते हैं। वे प्रायः उन्हीं अनुभव खण्डों को लेते हैं जिनके बारे मे उनकी जानकारी बहुत गहरी है ......पढ़ी और सुनी हुई दुनिया पर उनका भरोसा कतई नही है। वे देखी हुई दुनिया के लेखक हैं। इसीलिए उनके चरित्र बेहद प्रामाणिक है।"[13]

जमनिया के बाबा का चेला मस्तराम एक दूसरे अभयानन्द नाम के साधु को उसके तथाकथित 'सच्चे दरबार की जय' न कहने पर बेंत से पिटाई करने के अपराध में अपनी पूरी सन्त मंडली—बाबा मस्तराम और इमरतिया के साथ जेल जाता है। वहाँ भी वह चैन से नहीं बैठता। पुरानी लत के कारण वह चमत्कार का स्वांग जेल में भी शुरू करता है और यह अंध विश्वासी समाज चाहे पढ़ा हो, चाहे बेपढ़ा हो हर जगह मिल जाता है। जेल में रामसुभग सुकुल जैसे पढ़े लिखे सिपाही पीतल को सोना बनवाने के चक्कर में सिद्ध बाबा के चरणों में हर रोज गिड़गिड़ाते हैं—

"बाबा जिन्दगी भर राऊर गुलाम होके रहब, कवनों तरकीब भिड़ावल जाय, गरीब के उद्धार हो जाई।"[14]

बाबा इसी जुगाड़ में था ही। वह पीतल को सोने में बदलने को बायें हाथ का खेल मानता है और रामसुभग सुकुल को अपने गुरू की इस तरकीब का प्रमाण देकर खुश करता हुआ इस असाध्य कार्य को सरल करने की तरकीब बताता है—

"भादों की अमावस के अंधेरे में नदी के किनारे अगर काला बारहसिंगा लीद करे और उस लीद को पूरनमासी के दिन धूप में सुखा लिया जाय और उसी की आग में इस पीतल वाले गणेश को डाल दो तो यह सोने का हो जाये।"[15] यह वह ढोंग है जिसे न कोई पूरा कर सकता है और न इसे पूरा करने की किसी में क्षमता है। बाबा यह सब जानकर ही इस पारसविधि को प्रकट कर देता है। वह जेल में जमकर खीर

---

12. वही, पृ० 103 – 104
13. नागार्जुन का रचना ससार, पृ० 82
14. जमनिया का बाबा, पृ 11
15. वही, पृ० 12

पूडी खाता है और सत्यनारायण की कथा करवाकर सबकी श्रद्धा का पात्र सहज रूप मे हो जाता है।

आजकल के धर्ममठ राजनीति से सीधा सम्पर्क रखते है। बड़े-बड़े प्रशासक और राजनेता बाबाओं की चरणरज एवं चरणामृत को प्राप्त करने के लिए दिनरात इन महाप्रभुओं की आराधना में लगे रहते हैं। इन बाबाओ का वर्तमान राजनीति मे तो इतना दखल है कि उनके इशारे से उनके शिष्यो को बड़े-बड़े पदों, ओहदों की प्राप्ति बडी आसानी से हो जाती है। नागार्जुन ने इस तथ्य को बड़ी सरलता से कह दिया है। वे धर्ममठ मे प्रविष्ट राजनीति पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहते हैं—

"तिरंगा वाले तो मठ वालो को मिलाकर ही चलते है। उन्हे मदद मिलती है मठ से"[16] यह आजकल की सचाई है जिसे बडी आसानी से देखा जा सकता है।

प्रत्येक धर्ममठ से स्वार्थी लोगों का जुडाव स्वाभाविक होता है। पूंजीपति, सेठ, साहूकार, जमीदार अपने काले धन को सफेद कराने के चक्कर मे धर्मध्वज की शीतलछाया में करवटें बदलते रहते है। आजकल आयकर और बिक्रीकर से बचने के लिए खूब दान-लीला का स्वांग रचाया जाता है और मठों से होने वाली आमदनी का कोई हिसाब किताब नही। नागार्जुन जमनिया के मठ से होने वाले इसी शुभ लाभ को प्रस्तुत करते हैं। सेठ विर्धीचन्द, लालता. भगौती, ठाकुर शिवपूजन सिंह आदि जमनिय के मठ से ही औकात वाले बने हैं। इस बात को मठ का धर्माधिकारी स्वयं कहता है—

"यह क्या मेरी जटाओं का ही जादू नही था कि भगौती ने अपनी चारों लड़कियों की शादी में लाखों रुपये खर्च किये। लालता ने अपने बेटों को डाक्टर और इन्जीनियर कैसे बनाया ? सेठ विर्धीचन्द की तोंद तिगुनी किस तरह हुई ? ठाकुर शिवपूजन सिंह ने ट्रेक्टर कहाँ से खरीदा ? रामजनम और सुखदेव की क्या हैसियत गी दस वर्ष पहले ?"[17]

जमनिया के मठ में साधु-सन्तों द्वारा की गई धर्मलीला प्रायः हर मठ की धर्मलीला है। कहीं थोड़ी होती है कही अधिक। बाबा जटाओं वाले मिलते हैं तो कही सफाचट सिर वाले परन्तु उनके स्वास्थ्य में कोई विशेष अन्तर नही मिलता। शीशे की तरह चमकने वाला उनका दूध और घी पिया हुआ बदन, मुस्कराकर आशीर्वाद देने वाला मुख कमल, श्रद्धा से पूजा गया उनका प्रत्येक अग हर मठ पर पुलकित अवस्था में देखा जा सकता है। 'जमनिया का बाबा' उपन्यास इस दिशा में प्रकाश देने वाला पहला उपन्यास है जिसमें स्वयं संत, सिद्ध अपनी करतूतों को आत्म विश्लेषण में प्रकट करते हैं। नागार्जुन का यह विशिष्ट आत्मविश्लेषणात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास धर्मन्यासों में होने वाली गतिबिधियों का प्रामाणिक दस्तावेज भी है जिसमे व्यक्तित्व के दुहरेपन को खोल-खोल कर दिखाया गया है। बाबाओं की बाहरी और भीतरी दुनिया इस उपन्यास में आसानी से देखी जा सकती है।

---

16. वही, पृ० 14
17. वही, पृ० 143

हीरक जयन्ती : यथार्थ प्रेषण की संरचना

---बालेन्दु शेखर तिवारी

व्यंग्य के चरित्र और उसकी स्थापना से सम्बद्ध शोर-शराबे के बीच हिन्दी उपन्यास का एक नवीन उपभेद बड़ी तेजी के साथ प्रतिष्ठित हुआ है—व्यंग्य उपन्यास! इधर ऐसे उपन्यास खासी संख्या में लिखे गए है जिनमे व्यंग्य की सजग और पैनी दृष्टि के अनुरूप आचरण करने मे कथाकारो को सफलता मिली है। भारतीय जनजीवन में व्याप्त अव्यवस्था और भ्रष्टाचार के बीच झूलते हुए जनसाधारण की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने का सक्षमविधान व्यंग्य उपन्यास के रूप मे सामने आया है। परिवेश की सम्पूर्ण राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक दुर्बलताओं को स्वर देने की ईमानदार कोशिश ऐसे उपन्यासों में उपलब्ध है तो इसका कारण यही है कि इनके रचयिताओं ने देश दशा का सही एक्सरे उपस्थित करने का लक्ष्य सामने रखा है। रानी नागफनी की कहानी (हरिशंकर परसाई 1961), राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल 1968), एक चूहे की मौत (बदीउज्जमाँ 1971), प्रोफेसर पुराण (अशोक शुक्ल, 1976), छठा तंत्र (बदीउज्जमाँ 1977), महामहिम (प्रदीप पंत, 1980), श्री गुलसनोबर कथा (के० पी० सक्सेना, 1980), ब से बैंक (सुरेशकांत, 1980), हड़ताल हरिकथा, (अशोक शुक्ल, 1982) जैसे उपन्यास इतना साबित करने के लिए पर्याप्त हैं कि व्यंग्य उपन्यास के माध्यम से देश की विद्रूपताओं को शिकार बनाने में रचनाकार को किस हद तक सफलता मिली है। नागार्जुन का उपन्यास 'हीरक जयन्ती' (1963) भी इसी श्रृंखला की अविभाज्य कड़ी है, व्यंग्य लेखन की सम्पुष्ट सम्प्रेषण भंगिमा का अनूठा उदाहरण। 'हीरक जयन्ती' प्रमाण है कि व्यंग्य हर समय अंतर्विरोधों और स्खलित चलनों के खिलाफ तेज हथियार की भूमिका में रहता है। नागार्जुन के पास परिवेशगत सड़ाँध और मवाद को महसूसने वाली सही घ्राण चेतना है। एक सनसनाती हुई तेजी के साथ कथाकार ने जो कुछ टूटने योग्य है, उसे तोड डालने का यत्न किया है। लू शुन ने एक जगह लिखा है कि व्यंग्य का निशाना समाज है और जब तक समाज बदल नही जाता—व्यंग्य कायम रहेगा। बदलाव की छटपटाहट और प्रखर चकाचौंध की आहट से भरी-पूरी व्यग्य सर्जना नागार्जुन की कर्मप्रवण रचनाधर्मिता की ही देन है। विजय तेंदुलकर और उत्पलदत्त के नाटक जिस सामाजिक बदलाव की वकालत आज कर रहे है, वही काम नागार्जुन के उपन्यास बहुत पहले कर चुके हैं। 'हीरक जयन्ती' में अपने समय की शोषित-भ्रमित जनता के दर्द का अभीक उद्घोष कथाकार ने किया है, लक्ष्यच्युत समाज की आँख में उँगली डालकर शोषण

की परिसमाप्ति करना चाहा है। हर युग की हर भाषा के समर्थ व्यंग्यकार की तरह नागार्जुन की सर्जना में कुनैन के तीखेपन और तेजाब की दाहक मात्रा इतनी अधिक है कि राजनीतिक दुर्बलताओं तथा बहुव्याप्त भ्रष्टाचार को बेचैन कर डालने के लिए वह पर्याप्त है। यह राजनीतिक व्यंग्य उपन्यास किसी वृद्ध की थर्राती हुई आवाज नहीं हैं, आगत की चट्टानी अनुगूँज नही है। यह शाम की सितार नही है, सुबह का आलाप है। इस उपन्यास की सरचना मे मैदानी नदी की सोचती हुई सी स्थिरता नहीं है, अपितु पहाडी नदी का आवेग, टकराव और संघर्ष प्रतिध्वनित होता है।

'हीरक जयन्ती' का कथानक सांकेतिक रूप से बिहार के शासक दल के एक मन्त्री बाबू नरपत नारायण सिंह की कथा के बहाने काँग्रेस प्रशासन की विसंगतियों और व्यक्तिपूजा के ससाधनो का लेखा-जोखा है। नागार्जुन ने समसामयिक शासक वर्ग की भ्रष्टता, चरित्र-हीनता और उसमें व्याप्त स्वार्थपरता का न केवल खुला चित्रण किया है, अपितु उस पर तीखा प्रहार भी करना चाहा है। सामान्य जनता की अधोगति के लिए उत्तरदायी शासक वर्ग की विद्रूपताओं को नरपत बाबू की हीरक जयन्ती के बहाने कथाकार ने व्यंग्य का निशाना बनाया है। सामाजिक स्तर पर कुख्यात राजनेताओ को अभिनन्दित करने जैसा प्रहसन स्वातंत्र्योत्तर भारत में लगातार हुआ है। इसी परम्परा की कड़ी है नरपत बाबू की हीरक जयन्ती, जो 75 की जगह 71 वर्ष में ही मना ली जाती है। चाटुकारिता भरी हीरक जयन्ती का कार्यक्रम कलकत्ते के कुछ पूँजीपति बनाते हैं एक केन्द्रीय मन्त्री के लिए जिससे प्रेरणा लेकर मृगाक जी अपने प्रदेश के मन्त्री नरपत बाबू की हीरक जयन्ती मनाने तथा अभिनन्दन ग्रन्थ प्रदान करने की योजना बनाते हैं। इस योजना को मूर्त रूप देने के प्रयासों-समारोह समिति के गठन, समिति के पन्द्रह सदस्यों के कलुषित जीवन के उद्घाटन, समिति की बैठको तथा चन्दा एकत्र करने की कार्यविधियों, हीरक जयन्ती समारोह के विवरण आदि के सहारे ही समूचा उपन्यास बुना गया है। कथा के विकास की दिशा के साथ पात्रों की स्थिति का परिचय निर्दिष्ट करने के लिए नागार्जुन ने अपने उपन्यास में परिच्छेदों का शीर्षक-विधान रखा है। यह औपन्यासिक कृति क्रमशः उद्योग पर्व, परिचय पत्रिका, समारोह समिति की बैठकें, पिछला दिन, पिछली रात, आठ बजे दिन, बारह बजे, पाँच बजे शाम, दस बजे दिन, तीन बजे रात, अगले दिन चार बजे शीर्षक कुल दस परिच्छेदों में विभक्त है। कथा के सूत्रपात की इस प्रविधि ने 'हीरक जयन्ती' को उद्देश्य की लक्ष्य-केन्द्रित भंगिमा प्रदान की है। वस्तुतः कथाकार का एक सूत्री कार्यक्रम राष्ट्र का नेतृत्व करने वाले शासक दल के तथाकथित जननेताओं की कथनी और करनी का अतराल दिग्दर्शित करना है। नरपत बाबू जैसे लोगों का एकमेव कार्य राजनीतिक पैंतरेबाजी और स्वार्थमुखी तिकड़मों में व्यस्त रहना है। शोषण और भ्रष्टाचार ही नरपत बाबू के जीवन के मूलाधार हैं, लेकिन अपने भाषण मे वे नितान्त सादगी के साथ फरमाते हैं—

'शासन और सत्ता की जरा भी लालसा हमारे अन्दर नही, हाँ इस बात की लालसा जरूर है कि जनता-जनार्दन की सेवा के अंतिम क्षण तक हम अपने तन-मन का उपयोग कर सकें।'[1]

लेकिन सच्चाई यह है कि खादीधारी नरपत बाबू के लिए वासना पूर्ति ही चिन्तन है, गरीबों का शोषण ही व्यसन है और तिकड़मबाजी ही धर्म है। वे बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए मिली राशि जनजातियों के विकास के नाम पर डकार जाते हैं। अपनी अंकशायिनी माधवी को तृतीय श्रेणी के परीक्षाफल के बावजूद विभागाध्यक्ष बना देने की क्षमता उनमे है। अपने को महात्मा गाँधी का परम अनुयायी कहने वाले नेताजी अपने बेटे को गाँजे की तस्करी के अभियोग से मुक्त कराने में व्यापक सत्ता-प्रभाव का सहारा लेते है। उनके सम्पर्क मे मंजुमुखी का विकास राजनीतिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर होने लगता है। ऐसे स्वनामधन्य नेताजी की हीरक जयन्ती मनाने के लिए जिन लोगों की मण्डली सक्रिय है, उनकी सही तस्वीर भी नागार्जुन ने उपस्थित की है। नरपत बाबू के सभी भक्त व्यक्ति पूजा और उसको साधन बनाकर स्वार्थ सिद्ध करने वाले आत्मप्रवंचनाग्रस्त व्यक्तियों के प्रतिनिधि हैं। नेताजी के चारों ओर शासक और शोषक वर्ग के वे सभी लोग हैं जो स्वयं को समाज का संचालक मानते है और खुले तौर पर असामाजिक आचरण करते हैं। मृगांक जैसे चापलूस कवि सम्पादन के नाम पर धन बटोरते हैं तो गेंदासिंह ठीकेदारी प्राप्त करने के लिए चन्दा देते हैं। बुझावन कुएँ खोदने के लिये बीस हजार रुपये प्राप्त करता है और एक भी कुआँ तैयार नही होता। धर्मराज ने दो नामों से एक ही प्रेस खोल रखा है। महन्त सीताशरणदास अपने गुरु भाई को जहर मिली मिठाई खिला स्वर्ग पहुँचाने के बाद विलाप करते हुए गद्दीनशीन होते हैं। गोपीवल्लभ के अनुचित रिश्ते माधवी के साथ हैं तो रामप्यारे की निगाह धन कुबेर की विधवा बहन पर लगी हुई है। ये ही लोग बाबू नरपतसिंह की हीरक जयन्ती के कर्णधार हैं। अवसरवादिता और सघन भ्रष्टाचार के इन प्रतिमानों के चित्रण द्वारा नागार्जुन ने राजनीति-सामाजिक सच का उपस्थापन किया है। इसी कारण 'हीरक जयन्ती' में नरपत बाबू की यशलिप्सा और उसकी आड़ में होने वाले राजनीतिक भ्रष्टाचार के ठीक समानान्तर नेताजी की विधवा बेटी मृदुला का गृहत्याग राजनीतिक छल का प्रखर विरोध है। जिस रात नेताजी की हीरक जयन्ती मनाई जा रही है ठीक उसी रात मृदुला अपने प्रेमी के साथ भाग जाती है। उपन्यास की यह अन्तिम घटना हीरक जयन्ती का पर्दाफाश करती है, सत्ता के सिंहासन पर बैठे राजनेताओं का काला चेहरा दर्शाती है। दर असल यह समूचा उपन्यास नागार्जुन की प्रखर सामाजिक प्रतिबद्धता और क्रियाशील संवेदना का शंखनाद है। डॉ० पुरुषोत्तम दुबे के अनुसार—

1. हीरक जयन्ती, पृष्ठ 39

"इसमें जनसेवक कहलाने वाले नेता जनसेवा को ताक पर रखकर किस प्रकार अपना अभिनन्दन करवाने और अपनी हीरक जयन्ती मनमाने मे भूखी जनता की अपार सम्पत्ति का अपव्यय कर रहे हैं, ऐसा कच्चा चिट्ठा पाठक के सामने रखा गय है।"[2]

स्वभावतः नागार्जुन के लेखन की यह निश्चित दिशा उजागर हुई है कि शोषक व्यवस्था के हजार हाथों को निरस्त्र करना ही सजग रचनाकार का संकल्प है। नागार्जुन ने इस उपन्यास मे जिस गिरोह को खड़ा किया है, उसमे शोषक वर्ग के वे सभी घटक शरीक है, जिनकी क्रियाशीलता सामाजिक क्षय एव राजनीतिक विघटन का कारण बनती है तथा जो जनता के शोषण के माध्यम बनते है। ऐसे लोगो के समस्त कार्यकलापों का उद्घाटन व्यंग्यात्मक टिप्पणियो के माध्यम से कथाकार ने किया है। इस क्रम मे 'हीरक जयती' के रचयिता ने उस वर्ग की खुली हिमायत की है जिसका अखबार दो पैसे वाला 'बिगुल' है और जिसे मामूली दूकानदार, पानवाले, फेरीवाले, धोबी, चपरासी, मेहतर आदि पूरे चाव से पढ़ते है। आर्थिक विषमता की भयावहता नागर संस्कृति मे उन रिक्शाचालकों के बहाने साकार होती है, जिनकी दशा की गिरावट को नागार्जुन ने लक्षित किया है—

"रिक्शों की तादाद पचास से ऊपर हो गई है। जो उन्हें खींचते हैं उनकी फटी कमीजो के अन्दर से अब पीठों के हिस्से अधिक दिखाई दे रहे हैं।"[3]

शोषक के सभी प्रभेदो की अंतरग व्याख्या कथाकार ने की है। वस्तुतः नागार्जुन की कलम एक सच्चे भारतीय सर्वहारा की कलम है जो खुद को अपना नियता मानती है और नरपत बाबू की मण्डली का बेबाक निषेध करती है। इसी कारण 'हीरक जयन्ती' में बदलाव की आकांक्षा विविध स्तरों पर सामने आई है। अपनी ही हीरक जयन्ती की चकाचौध में डूबे नेता की बेटी की तांबा जयन्ती का प्रसंग नागार्जुन की प्रखर व्यंग्यात्मकता का समर्थ प्रमाण है। यह केवल उस यथार्थ का उद्घाटन भर नहीं है जिसकी परतों को निर्ममता पूर्वक कथाकार ने शल्य चिकित्सा का विषय बनाया है। यह उपन्यास उस सामाजिक वर्ग की भर्त्सना करता है जो समस्याओं से जूझने से कतरा कर चाटुकारिता और स्वार्थलिप्सा के झूठे संसार में विचरता है। डा० विजय बहादुर सिंह ने इंगित किया है—

"हीरक जयन्ती' में आधुनिक सामाजिक बदमाशियों और राजनीतिक ढोंगों को नंगा किया गया है और तथाकथित भद्र समाज को भीतर से पहचानने का एक अवसर सुलभ किया गया है।"[4]

2. व्यक्ति चेतना और स्वातत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ 287
3. हीरक जयन्ती, पृष्ठ 73
4. नागार्जुन का रचना-ससार, पृष्ठ 124

सम्भावना तो यह थी कि नागार्जुन इस राजनीतिक व्यंग्य उपन्यास के पैटर्न पर एक वृहत्तर औपन्यासिक कृति रचते। अपने वर्तमान रूप में भी 'हीरक जयन्ती' महज एक रिपोर्टिंग नही है—एक सम्पूर्ण व्यंग्य संरचना है। नारो और यशलिप्सा के फार्मूलों, विसंगतियों और लफ्फाजियो के घटाटोप वातावरण में कुछ नया, सच और एकदम ईमानदार देने की बेचैनी ही नागार्जुन के इस व्यंग्य उपन्यास की चारित्रिक अस्मिता है। कथाकार की शैली चाबुक और शंख एक साथ लेकर अपनी शोभा यात्रा पर निकली है तथा तमाम हवामहलों से झरती हुई अंतर्विरोधों की प्रतिध्वनियों की सुघड़ नाकेबन्दी करती है। 'हीरक जयन्ती' राजनीतिक वास्तव की गहन गोता खोरी का प्राणवंत प्रतिफलन है, इतना सच है।

———

नागार्जुन के उपन्यास : उपलब्धि और सीमाएँ

—सत्यकाम

नागार्जुन स्वतंत्र भारत के पहले उपन्यासकार है, जिन्होंने प्रेमचद की औपन्यासिक परम्परा को पुनर्जीवित ही नही किया उसे नये आयामो से पुष्ट भी किया। प्रेमचंद की मृत्यु 1936 मे हुई। तब से लेकर लगभग 1947 तक किसी भी हिन्दी उपन्यासकार ने ग्रामीण जीवन को सार्थक रूप मे अपने उपन्यासो का विषय नहीं बनाया। इस अवधि मे जैनेद्र, अज्ञेय, इलाचद जोशी, भगवती चरण वर्मा, वृंदावन लाल वर्मा, यशपाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि उपन्यासकारो का बोलबाला रहा, पर इनमें से किसी ने भी ग्रामीण जीवन को लेकर उपन्यास नही लिखे। इसका कारण कदाचित् यह भी रहा हो कि प्रेमचंद ने इस विषय को काफी निचोड़ लिया था। कदाचित् इसका कारण यह भी हो कि 1937–1947 के अधिकतर उपन्यासकार शहरी और अभिजात सस्कार के लेखक थे। एकमात्र हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रामीण संस्कार के व्यक्ति थे, पर वे पेशे से पंडित और शास्त्रज्ञ थे, उपन्यासकार नही। फलत. इस अवधि मे मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे गए, ऐतिहासिक और राजनैतिक उपन्यास लिखे गये, पर ग्रामीण जीवन पर आधारित उपन्यास किसी ने नहीं लिखा।

इसके विपरीत नागार्जुन गांव की मिट्टी से उपजे कथाकार हैं। वे गांव में पैदा ही नही हुए, वरन् प्रेमचद की तरह गांव की धूल और कीचड़ में, खेतों और अमराइयों में उनका बचपन बीता। 'पिता मूर्ख और दरिद्र : चार वर्ष की आयु मे मातृ वियोग, गरीबी के कारण संस्कृत का अध्ययन और परान्नभोजी छात्र जीवन'—इन सबने मिलकर बालक वैद्यनाथ (नागार्जुन का बचपन का नाम) को बचपन मे ही कड़वे अनुभवों का तीखा घूट पिलाकर पक्का कर दिया। उन्होंने बहुत निकट से, दर्शक नहीं भोक्ता के रूप में, गाँवों के किसानों और कृषक मजदूरो को देखा; देखा ही नहीं, इस जीवन की पीडा, विवशता और घुटन उनके व्यक्तित्व का अंग बन गयी। मिथिला के ग्रामीण जीवन की विषम और दयनीय स्थिति की गहरी छाप बालक वैद्यनाथ के मानस पर अंकित हो गयी। यायावर बनकर भी वह इस पीड़ाजन्य संस्कार से छपपटाता रहा, इसने उसे कभी मुक्ति नही दी। 1937 में वह 'नागार्जुन' बना। 1938 में बचपन का 'यातना से भरा वह संस्कार नागार्जुन को अपने प्रकृत क्षेत्र गांवों में खींच लाया।' उन्हें अपने अनुकूल रहनुमा भी मिल गया—स्वामी सहजानंद सरस्वती। स्वामी सहजानन्द तब तक किसान आंदोलन

आरम्भ कर चुके थे। नागार्जुन को जैसे इसी की खोज थी। उनके अंतर्मन मे जमे पीड़ाजन्य संस्कार का यही जैसे उपचार था। 1938 के जून में वे स्वामी सहजानन्द के चेले बने। चंदन को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। फिर दो वर्षों का कारावास। जेल से छूटने के बाद साहित्यकार का पेशा अपनाया और दरभगा, पटना तथा इलाहाबाद मे रहे।

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि स्वामी सहजानंद के किसान-आदोलन ने किसान जीवन का एक सर्वथा नवीन पहलू सामने रखा। प्रेमचद के सामने कृषक जीवन का यह पहलू नही था। गांधी जी तथा दूसरे कांग्रेसी नेतानों ने इस पहलू को नजर अन्दाज कर दिया था। प्रेमचद किसानो के दर्द से विक्षुब्ध और पीड़ित तो थे, पर इस दर्द का उपचार उन्हें नही मिल पाया था। स्वामी सहजानन्द ने इसका उपचार ढूंढा, पर तब तक प्रेमचन्द दिवंगत हो चुके थे। स्वामी सहजानन्द के इस सामाजिक-राजनीतिक आदोलन की साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए किसी प्रेमचन्द की जरूरत थी। स्वामी जी को वह 'प्रेमचंद' मिल तो गया 1938 में ही, पर उसके कण्ठ फूटे ठीक दस वर्ष बाद 1948 में। नागार्जुन ने अपना पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' 1948 में लिखा।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में नागार्जुन 1948 मे उतरे। उनके आठ उपन्यास चर्चित हुए है: रतिनाथ की चाची (1948)[1], बलचनमा (1952)[2], नई पौध (1953)[3], बाबा बटेसरनाथ (1954)[4], वरुण के बेटे (1957)[5], दुखमोचन (1957)[6], उग्रतारा (1963)[7] और जमनिया का बाबा (1968)[8]। इनमें से

---

1. दूसरा संस्करण 1953, प्र० किताब महल, इलाहाबाद। इसी में पहले संस्करण का प्रकाशनकाल भी दिया हुआ है।
2. प्रथम संस्करण 1952, प्र० किताब महल, इलाहाबाद।
3. प्र० सं० 1953, प्र० किताब महल, इलाहाबाद।
4. प्र० सं० 1954, प्र० राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड।
5. प्र० किताब महल, इलाहाबाद, 1957
6. यह उपन्यास 1956 ई० के जुलाई, अगस्त और सितम्बर महीने में आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र से प्रसारित हुआ था। 1957 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ।
7. प्र० सं० 1963, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।
8. इस उपन्यास के प्रकाशन के साथ एक रोचक किन्तु अप्रिय प्रसंग जुड़ा हुआ है। नागार्जुन का कहना है कि उन्होंने प्रकाशन के निमित्त इस उपन्यास को किताब महल, इलाहाबाद को दिया। किताब महल किसी कारणवश इसे प्रकाशित न कर सका। तब नागार्जुन ने इसी उपन्यास को नाम बदल कर राजपाल एण्ड सस, दिल्ली को प्रकाशनार्थ दे दिया। उपन्यास 1968 के अन्तिम चरण में राजपाल एण्ड संस से 'इमरतिया' शीर्षक से प्रकाशित हो गया। जनवरी 1970 में 'जमनिया का बाबा' अचानक बाजार में दिखाई दिया। पर हमने आश्चर्य के साथ यह भी देखा कि उस पर प्रकाशन तिथि 1968 की पड़ी हुई है। प्रकाशक किताब महल, इलाहाबाद है।

   इन दोनों पुस्तकों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ही उपन्यास के दो शीर्षकों से भिन्न-भिन्न प्रकाशन हैं। उपन्यास चार पात्रों—बाबा, मस्तराम,

किसी भी उपन्यास की पृष्ठ सख्या 175 से अधिक नही हैं। तात्पर्य यह है कि नागार्जुन ने बड़े पैमाने पर, कोई बृहदाकार उपन्यास नही लिखा। इनके उपन्यासो को 'लघु उपन्यास' की कोटि में रखा जा सकता है।

नागार्जुन प्रेमचन्द की परम्परा के उपन्यासकार है। अन्तर यह है कि जहाँ प्रेमचन्द ने उत्तर प्रदेश के अवध-बनारस क्षेत्र के किसानो की कहानी के माध्यम से समस्त उत्तरी भारत के किसानो की भाग्यगाथा प्रस्तुत की, वहाँ नागार्जुन ने मिथिला अचल को अपने उपन्यासो का विषय बनाया। पर बड़ा अतर यह है कि उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचंद के उत्तराधिकारी होकर भी नागार्जुन प्रेमचद की तरह मिथिला के किसानों के जीवन का अकन उतने व्यापक फलक पर नही कर पाये। उनका 'विजन', उनका दृष्टि-परिसर प्रेमचद की तरह व्यापक और वैविध्यपूर्ण नहीं है।

नागार्जुन के सामने मिथिला का परम्परा के निगड मे बुरी तरह जकड़ा हुआ रुद्ध-प्रवाह समाज है, जहाँ विधवाओ को जीवित मृत्यु की पीड़ा भुगतनी पडती है, जहाँ आठ-दस वर्ष की बालिकाओं का विवाह साठ-पैंसठ वर्ष के बूढ़े से होता है, जहाँ कुलीनता के नाम पर एक व्यक्ति से दर्जनो कन्याए ब्याह दी जाती हैं, और जिसके फलस्वरूप या तो विवाहित युवतियां घोर यातना का जीवन व्यतीत करती हैं अथवा व्यभिचार की शरण लेती हैं; जहाँ धर्म के नाम पर मठों की स्थापना, चोरबाजारी, मुनाफाखोरी और व्यभिचार के लिए होती है, और जहाँ गरीब किसान और कृषक मजदूर जमीदारो के क्रूर शोषण और अमानुषिक दमन की चक्की मे पिस रहे है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मिथिलांचल के जीवन के इन्हीं पहलुओ का अंकन किया है। 'रतिनाथ की चाची' में एक पुत्रवती विधवा का चरित्र अकित है जो अपने देवर से प्रेम करने तथा गर्भवती हो जाने के कारण अभिशप्त जीवन व्यतीत करती है। 'नयी पौध' में वृद्ध विवाह तथा बेटी बेचने जैसी समस्याओ का चित्रण है। 'उग्रतारा' में विधवा विवाह की समस्या का एक नये

इमरतिया और भगौती—की आत्मकथाओं के रूप में नियोजित है। ये पात्र पाठकों के समक्ष आकर अपनी कहानी सुना जाते हैं। दोनों पुस्तकों में फर्क केवल यह है कि जहाँ 'जमनिया का बाबा' में परिच्छेदो का क्रम 'बाबा मस्तराम इमरतिया—भगौती—इमरतिया—मस्तराम बाबा' है, वहाँ 'इमरतिया' में यह क्रम 'माई इमरती दास—मस्तराम बाबा—भगोती—बाबा मस्तराम—इमरती दास' है। बाकी बातें अक्षर-अक्षर समान हैं।

इन दोनों पुस्तकों को देखने से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि उपन्यास का मूल रूप 'जमनिया का बाबा' ही है। 'इमरतिया' की अपेक्षा इसका शीर्षक भी सार्थक है। परिच्छेदों का क्रम बदल देने से 'इमरतिया' के रूप में उपन्यास कमजोर भी हो गया है। अतः इस निबन्ध में हम 'जमनिया का बाबा' को ही मूल उपन्यास मानकर विवेचन कर रहे है।

कोण से अकन है। 'दुखमोचन' में भी यह समस्या चित्रित हुई है। 'जमनिया का बाबा' मे मठो की दुराचारपूर्ण जिंदगी का तथा धर्म और अधविश्वास के नाम पर अशिक्षित तथा मूर्ख जनता के शोषण का व्यंग्यपूर्ण चित्रण है।

जहाँ तक उपर्युक्त विषयों के चित्रण का प्रसग है, नागार्जुन को इसमें कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली है। सामाजिक पिछड़ेपन और उसकी बुराइयों के चित्रण में वे प्रेमचन्द से आगे नही बढ़ सके है। प्रेमचंद जैसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि, सूक्ष्म मनोभावों की पकड़ तथा मार्मिक प्रसगों की उद्‌भावना की कला भी नागार्जुन मे नही है। इस प्रकार के चित्रणों से नागार्जुन की प्रसिद्धि हुई भी नही। उन्होंने अपनी अलग पहचान बनायी किसानो और कृषक मजदूरो के जीवन के तीखे और यथार्थवादी चित्रण से, किसान-मजदूर आंदोलन के प्रमुख प्रवक्ता के रूप मे। यो तो 'रतिनाथ की चाची' से ही नागार्जुन जमीदारो के साथ किसानों के सघर्ष का चित्रण आरम्भ कर देते है पर यहां उस सभावना का सकेत मात्र मिलता है जो 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसरनाथ' में अपने वास्तविक रूप में सामने आती है।

वस्तुतः 'बलचनमा' ही नागार्जुन का वह उपन्यास है जिसने उपन्यासकार के रूप में उन्हें प्रतिष्ठापित किया और यह एक दुःखद सत्य है कि वे फिर उस ऊँचाई तक न पहुंच सके। इसका कारण संभवतः यह है कि 'बलचनमा' की रचना के पीछे एक गहरी प्रेरणा, मिथिला के किसानों की अभाव और शोषणपूर्ण जिन्दगी का तीखा अनुभव है। यहाँ नागार्जुन का मिथिला के निम्नवर्गीय जीवन का समस्त अनुभव एक प्रभावशाली 'विजन' के रूप में परिणत हो गया है, जिसके कारण उपन्यास सहज सशक्त बन गया है।

'बलचनमा' में मिथिलांचल के ग्रामीण जीवन का उत्कट यथार्थ अपनी सम्पूर्ण प्रखरता में चित्रित हुआ है। यद्यपि यह एक पात्र विशेष की, उसकी आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत, कहानी है पर वह पात्र—बलचनमा—सम्पूर्ण निम्नवर्ग का प्रतीक बन गया है; यह ग्रामीण निम्नवर्ग, जो न जाने कब से जमीन्दारों के शोषण और दमन का शिकार है, जिसके सदस्यों से, जिनमें बच्चे और स्त्रियाँ भी शामिल हैं, जमींदार उसी प्रकार काम लेता है जैसे अपने अन्य पालतू पशुओं से बल्कि पशुओं पर वह थोड़ी रियायत करता है, जो उन कृषक मजदूरों को नहीं मिलती। बलचनमा ऐसे परिवार का सदस्य है जिसमें सबके सब मजदूर ही हैं। उसकी मां और बहन, और बचपन की अवस्था से ही वह खुद जमींदार की 'खवासी' करते है। इतना ही नहीं जमींदार उसकी जवान बहन को अपनी काम वासना का शिकार भी बनाना चाहता है। और यह नियति केवल बलचनमा की नहीं है, बल्कि उसके जैसे अन्य सभी किसान मजदूरों की है। नागार्जुन को इस कटु यथार्थ के चित्रण में पूर्ण सफलता मिली है।

'बलचनमा' केवल इसलिए उल्लेखनीय उपन्यास नहीं है कि उसमें कृषक

मजदूरों के अत्याचार और शोषण की सही तसवीर है, वरन् इसलिए भी कि इसमे नागार्जुन ने जमीन्दारों से किसानों के संघर्ष की शुरुआत की कहानी लिखी है। प्रेमचन्द किसानों की गरीबी, बेकारी और जहालत की कहानी लिख गये थे, पर उनकी मुक्ति की दास्तान वे नहीं कह पाये थे। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जमीदारो के विरुद्ध किसानों का विद्रोह केवल संकेतित होकर रह गया है, वे उसे सही कलात्मक परिणति नही प्रदान कर सके है। 'गोदान' का होरी तो खैर विद्रोह करने वाली पीढी का आदमी ही नही है पर नयी पीढी का गोबर भी इस दृष्टि से उल्लेख-पात्र नही बन पाया। लगता है, 'गोदान' का गोबर ही बचलनमा के रूप मे, सही रूप मे उभरा है। अपनी आदर्शवादी मनः स्थिति के कारण प्रेमचन्द गोबर के चरित्र को यथार्थवादी परिणति नही दे पाते। पर बलचनमा का विकास बड़े ही स्वाभाविक रूप में होता है। यदि बलचनमा अचानक विद्रोही हो जाता तो उसका यह विद्रोह आरोपित होता, पर नागार्जुन ने यह कलात्मक भूल नही की है। वह अपने वर्ग के बालको की तरह ही साधारण, दीन, गमखोर और निरक्षर है। संयोग की ही बात है कि उसे फूल बाबू के साथ पटना आने और रहने का अवसर मिलता है जिसके परिणामस्वरूप उसमे राजनीतिक चेतना विकसित होती है। फूल बाबू के जेल चले जाने के बाद वह पटना मे ही उनके एक सहृदय मित्र के परिवार के साथ रहता है जहाँ उसके अनुभव, सोचने-समझने की शक्ति और राजनीतिक चेतना में और भी प्रखरता आती है। फूल बाबू के जेल से लौटने के बाद उसे उन्हीं के साथ दरभगा के कांग्रेस-आश्रम मे रहने का अवसर मिलता है। वहाँ वह फूल बाबू तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं के असली चेहरे देखता है। वह पाता है कि ये नेता उसी उच्च वर्ग से आते हैं जो अब तक निम्न वर्ग का शोषण करता आया है। ये लोग किसी न किसी रूप में शोषक वर्ग के ही अंश हैं। वह देखता है कि दैवी विपत्तियों से संकटग्रस्त किसानों की राहत के लिए जो सरकारी अनुदान मिलता है, उसे कांग्रेसी नेता अपने सम्बन्धियों के बीच बाँट देते हैं और गरीब किसान देखता रह जाता है।

इस प्रकार बलचनमा की राजनीतिक चेतना क्रम क्रम से विकसित होती है, जो नागार्जुन की चरित्र निर्माण की दिशा में सबसे बड़ी उपलब्धि है। और इसी क्रम में वह किसान आन्दोलन का पहले सिपाही और फिर अगुआ बन जाता है। यह समय था जब जमीन्दारों के खिलाफ किसानों का आंदोलन जोर पकड़ने लगा था और जमींदार अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए किसानों से अंतिम लड़ाई लड़ने लगे थे। स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा चलाया हुआ किसान आंदोलन जोरों पर था। जमींदार सामूहिक पैमाने पर किसानों को उनकी जोत से बेदखल करने की तिकड़म करने लगे थे। किसानो ने इसके खिलाफ मोर्चा लिया था। बलचनमा भी अपने को इस आंदोलन में झोंक देता है। वह जमींदार के खिलाफ किसानों को संगठित करता है, और पुस्तक समाप्त होते समय हम उसे जमींदार के एक गुण्डे की लाठी का सिकार होकर गिरते देखते हैं।

'बलचनमा' के एक अच्छा उपन्यास होने में शुरू से आखिर तक उसका यथार्थवादी आग्रह तो सहायक हुआ ही है, इसका शिल्प भी कम महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं करता। समूचा उपन्यास बलचनमा के अवलोकन बिन्दु से प्रस्तुत किया गया है। उपन्यासकार किस्सागो के रूप में, अथवा सर्वज्ञ के रूप में, स्वय कही भी पाठकों के सामने नहीं आता। वह हमें एक पात्र को सामने लाकर चुपचाप अलग हो जाता है, बल्कि कहना यह चाहिए कि जब हम पुस्तक खोलते है तो एक व्यक्ति के सामने होते है जो हमसे मुलाकात होने के साथ ही गहरी आत्मीयता स्थापित कर लेता है और हम उसकी कहानी सुनने लगते है। उसकी कहानी मे कुछ ऐसी सच्चाई, सहजता, भोलापन, ईमानदारी और निरीहता है कि पहली मुलाकात मे ही उसमे गहरी रुचि पैदा हो जाती है।

चरित्र प्रधान उपन्यासों के लिए, विशेषकर वैसे उपन्यास के लिए जिसका उद्देश्य किसी पात्र का व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत करना होता है, आत्मकथात्मक प्रविधि सर्वाधिक लाभप्रद होती है। बाहर से किसी पात्र का चरित्र-विश्लेषण करने की अपेक्षा स्वयं उस पात्र को ही सामने लाकर उसी के द्वारा अपने अतीत का पुनरीक्षण चरित्र के प्रस्तुतीकरण का सर्वाधिक विश्वसनीय माध्यम है। 'बलचनमा' में नागार्जुन ने इस प्रविधि का चुनाव करके अच्छी कलात्मक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। 'बलचनमा' की भाषा में आंचलिक प्रयोगों का बाहुल्य है। यह आंचलिकता इस शिल्पविशेष के कारण ही सार्थक बन पायी है। यदि किस्सागो की भूमिका में स्वयं उपन्यासकार ने ये प्रयोग किए होते, जैसा कि अपने एकाध अन्य उपन्यास में नागार्जुन ने किया है, तो यह आंचलिकता का फैशन मात्र बनकर रह गया होता। पर बलचनमा के स्वगत चिन्तन या पाठक से बात-चीत के रूप में आंचलिक प्रयोग न केवल उसके चरित्र को स्वाभाविकता प्रदान करते हैं, वरन् उस समस्त वातावरण को भी सजीव रूप में प्रस्तुत कर देते हैं जिसमें बलचनमा जी रहा है। बलचनमा निर्धन किसान-मजदूर परिवार का निरक्षर व्यक्ति है, अतः उसके मुंह से परिनिष्ठित खड़ी बोली यदि हम सुनते भी तो उस पर विश्वास नहीं कर पाते। नागार्जुन ने इस प्रयोग में भी प्रेमचन्द से सीख ली है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में, विशेष कर 'गोदान' में, अपने पात्रों की भाषा में आँचलिकता का समावेश किया था, पर प्रेमचन्द सूरदास अथवा होरी की भाषा में आँचलिकता का रंग इतना ही भर चढ़ने देते हैं कि वे 'श' का उच्चारण 'स' के रूप में करते हैं तथा तत्सम शब्दों के तद्भव और अपभ्रष्ट रूपों का अधिक प्रयोग करते हैं। नागार्जुन इससे आगे बढ़कर 'बलचनमा' से वैसे शब्दों और जुमलों का प्रयोग कराते हैं जो केवल मिथिलांचल के ठेठ ग्रामीणों के बीच प्रयुक्त होते हैं और जिन्हें दूसरे अंचल का निवासी, चाहे वह बिहार और उत्तर प्रदेश का ही क्यों न हो, पादटिप्पणियों में दिये गए अर्थ की सहायता के बिना नहीं समझ सकता। इस प्रकार नागार्जुन ने उपन्यास की भाषा के

प्रसंग मे एक सार्थक प्रयोग किया। इसके फलस्वरूप बलचनमा की भाषा खड़ी बोली होने पर भी तनिक भी गढ़न्त या अस्वाभाविक नही मालूम पडती। उसका समूचा व्यक्तित्व उसकी भाषा मे सिमट आया है। उसकी निरक्षरता, उसकी सरलता, उसका सहज सपाट व्यक्तित्व, सब कुछ उसकी भाषा के माध्यम से अपने सही रूप में हमारे सामने आ जाता है।

'बलचनमा' में आत्मकथात्मक प्रविधि का प्रयोग करके भी नागार्जुन उसके खतरो से सावधान नही रहे है। इस प्रविधि का पहला खतरा यह होता है कि यदि स्वगत चिन्तनरत या आत्मकथा सुनाने वाले पात्र को सम्यक् पृष्ठभूमि या भूमिका नही प्रदान की जाती तो उसका सारा आत्मकथ्य कमजोर हो जाता है। इसका दूसरा खतरा यह होता है कि इस प्रविधि के द्वारा जहाँ आत्मचिन्तनरत पात्र का चरित्र अपने सर्वोत्तम रूप मे सामने आता है, वहाँ दूसरे पात्रो का चरित्र, थोडी भी असावधानी से, न केवल धुंधला रह जाता है, वरन् प्रमुख पात्र का कथन भी अप्रामाणिक बन जाता है। 'बलचनमा' में नागार्जुन इन दोनो ही खतरों से बच नही पाये हैं। उपन्यास खुलते ही पाठक बलचनमा के सामने होता है। इस बात का पता ही नहीं चलता कि वह किस मनःस्थिति मे स्वगत चिन्तनरत है अथवा किस अवलोकन-बिन्दु से अपनी कहानी प्रस्तुत कर रहा है। पाठक इस स्थिति से किसी प्रकार समझौता कर भी लेता है तो उपन्यास के अन्त में उसे गहरा धक्का लगता है क्योंकि वह बलचनमा को बेहोशी की हालत में छोड़ता है। सुनने में आता है कि नागार्जुन इस उपन्यास का दूसरा भाग भी लिखने वाले है। पर यह अधूरापन प्रविधि का दोष बनकर सामने नहीं आता, यदि नागार्जुन अपने शिल्प के प्रति थोड़ा सावधान होते।

दूसरा दोष अधिक मौलिक है। आत्मकथात्मक प्रविधि में अन्य पात्रों के अंतरंग जीवन का चित्रण सम्भव नही हो पाता। अतः कुशल उपन्यासकार ऐसे मौके इस प्रविधि में आने हीं नहीं देते। पर नागार्जुन इसमे चूक गये हैं। जमींदार मालिक द्वारा बलचनमा की बहन रेवती के साथ बलात्कार का पूरा प्रसंग इस दोष की लपेट में आ गया है। जब बलचनमा इस प्रसग का प्रत्यक्ष द्रष्टा ही नहीं है तो फिर वह उन सूक्ष्म ब्यौरो का उल्लेख कैसे कर सकता है जो रेवती तथा छोटे मालिक के बीच आते है? इन शिल्पगत त्रुटियों से 'बलचनमा' के समग्र प्रभाव को क्षति पहुंची है।

फिर भी 'बलचनमा' हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक ऐसी उल्लेखनीय कृति है जो नागार्जुन को केवल अपने बल पर हिन्दी साहित्य में अमर बनाने के लिए पर्याप्त है।

'बलचनमा' की परम्परा में नागार्जुन ने दो ही और उपन्यास लिखे हैं: 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरुण के बेटे'। 'बाबा बटेसरनाथ' में एक 'फैंटेसी' की सहायता से लगभग सौ वर्षों के (1850-1950 ई०) बदलते हुए इतिहास का

जीवन्त वर्णन है। यद्यपि यहाँ भी चित्रफलक बहुत फैला हुआ नहीं है, पर नागार्जुन ने मिथिलाचल के एक गाँव की, जो भारतीय गाँव का प्रतीक भी माना जा सकता है, भाग्य-गाथा, समय के विस्तार मे, प्रस्तुत करने की कोशिश की है। यह वर्णन कितना सशक्त है, इसका पता निम्नलिखित उद्धरण से चल सकता है—

"असहयोग का वह जमाना अद्‌भुत था। देश का हर हिस्सा नई चेतना से स्पन्दित होकर अंगड़ाइयां ले रहा था। आसाम बंगाल रेलवे मे हड़ताल हुई। मिदनापुर के किसानों ने लगानबन्दी का आन्दोलन छेड़ दिया। दक्षिण मलाबार के मोपल ने बगावत कर दी। पजाब में सरकार के पिट्ठू महन्तो के खिलाफ अकाली सिक्खो की घृणा भडक उठी।" (पृ० 89)

वस्तु या 'थीम' की दृष्टि से 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास 'बलचनमा' का पूरक कहा जा सकता है। 'बलचनमा' यदि किसानो के वर्तमान का चित्र प्रस्तुत करता है तो 'बाबा बटेसरनाथ' हमें उनके अतीत की झांकी दिखाता है। किसानों पर जमींदारों और सरकारी अमलों, विशेषकर पुलिस के अत्याचारो का, किसानों की गरीबी, अकाल और भुखमरी का, बाढ़ और उससे उत्पन्न तबाही का, स्वाधीनता की लड़ाई का, इतना जीवन्त वर्णन अन्यत्र नही मिल सकता।

शिल्प की दृष्टि से नागार्जुन ने इस उपन्यास मे भी एक सफल प्रयोग किया है। इसमें फैंटेसी की प्रविधि अपनायी गयी है। बाबा बटेसरनाथ एक पुराने बटवृक्ष का मानवीय प्रतिरूप है। जैकिसुन नामक एक युवक, जो जमींदार के षड्यन्त्र से इस पुराने वृक्ष की परती जमीन के बन्दोबस्त कर दिये जाने तथा इस वृक्ष को काट दिये जाने की सम्भावना से दुःखी है, इस बरगद के नीचे सो रहा है। स्वप्नावस्था में यह बरगद मनुष्य का रूप धारण कर उसकी चेतना में प्रवेश करता है और उसके बाप दादों की, जिसका वह साक्षी रहा है, कहानी सुना जाता है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रविधि कमजोर और अयथार्थ मालूम पड़ेगी पर इसके माध्यम से नागार्जुन को किसानों के सौ वर्षों के अतीत की जीवन-गाथा प्रस्तुत करने की एक सुविधा भी मिल गयी है। प्रविधि की मनोवैज्ञानिक अयथार्थता भी नागार्जुन की आत्मकथात्मक पद्धति में कथा कहने की सशक्त शैली के कारण गौण पड़ गयी है। बलचनमा की तरह ही बाबा बटेसरनाथ भी पाठकों से गहरी आत्मीयता स्थापित कर लेने में सफल है। वह अतीत की कहानी इतने सहज और प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करता है कि उसके अस्तित्व की मनोवैज्ञानिक अयथार्थता भी खटकती नहीं। यह कहानी एक पात्र के भीतर से उगती है और उसी के साथ विकसित होती है, यही कारण है कि वह इतनी प्रभावशाली बन सकी है।

यदि नागार्जुन अपने प्रगतिवादी और सुधारवादी दृष्टिकोण से बचने में कलाकारोचित संयम से काम लेते तो 'बाबा बटेसरनाथ' 'बलचनमा' की कोटि का

उपन्यास बन सकता था, पर ने ऐसा नहीं कर पाये हैं। उपन्यास के अन्तिम हिस्सों मे, दसवे परिच्छेद के बाद, जमीदारो के षड्यन्त्र, पुलिस विभाग के भ्रष्टाचार, कांग्रेसी नेताओं की स्वार्थपरता, आजादी के बाद की निराशा तथा किसान आदोलन आदि का जो वर्णन किया गया है वह पैबन्द की तरह लगता है। कलात्मक दृष्टि से उपन्यास को दसवे परिच्छेद के साथ ही समाप्त हो जाना चाहिए था।

'वरुण के बेटे' मे मलाही गोढियारी के मछुआरों की कहानी है, जो जमीदारो के अत्याचार से पीड़ित हैं। देश आजाद हुआ पर गढ पोखर जैसा जलाशय, जो मछुओं की जीविका का एकमात्र सहारा था, जमीदारों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बना रहा। नागार्जुन ने इस उपन्यास मे यदि एक तरफ मछुआरो की अभाव और कशमकश की जिन्दगी का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है तो दूसरी तरफ जमीदारो के विरुद्ध उनके संघर्ष का चित्रण भी किया है।

'नयी पौध' मे पुराने संस्कारो, परम्परागत सड़ी गली मान्यताओ और जमीदारों के अत्याचारों के विरोध मे उठ खड़ी होने वाली नयी पीढ़ी का चित्रण है, तो 'दुखमोचन' में ग्राम सुधार का आदर्शवादी रूप खड़ा किया गया है। 'उग्रतारा' मे विधवा-विवाह का आदर्शवादी समाधान है तो 'जमनिया का बाबा' मे मठो की दुराचारपूर्ण जिन्दगी का अंकन किया गया है।

नागार्जुन यथार्थवादी उपन्यासकार माने जाते है, पर उनके सम्बन्ध में यह धारणा 'बलचनमा' के कारण बनी है। अपने अन्य उपन्यासों मे वे प्रेमचन्द से भी बढ़कर सुधारवादी और आदर्शवादी हैं। यह अलग बात है कि उनका सुधारवाद 'प्रगतिवादी' ढंग का होने के कारण प्रगतिशील आलोचकों की नजरों में खटकता नहीं। केवल 'बलचनमा' इस दोष से मुक्त है, सो भी सम्भवतः इसलिए कि संयोग-वश नागार्जुन उसका दूसरा खंड नही लिख पाये। उनके प्रायः प्रत्येक उपन्यास के अन्त में युवक-युवतियों का ऐसा दल बन जाता है जो सामाजिक बुराइयों और आर्थिक शोषण के खिलाफ लड़ता है। 'नयी पौध' में प्रगतिशील युवको का दल किशोरी बिसेसरी के सठसाला चौधरी से विवाह का विरोध करता है और वे इस विवाह को रोकने में सफल भी होते हैं। इतना ही नहीं, वे उसका विवाह नयी पद्धति से एक युवक से कराकर नया आदर्श प्रस्तुत करते हैं। 'बाबा बटेसरनाथ' में किसानों का ऐसा मजबूत संगठन है कि उसके सामने जमींदार को मुँह की खानी पड़ती है। 'वरुण के बेटे' के अन्त मे मछुआ संघ की स्थापना होती है जो मछुओं के हितों की रक्षा के लिए लड़ता है। 'दुखमोचन' की परिकल्पना तो पूरी तरह आदर्शवादी पद्धति पर हुई है। वह अपने गाँव को सुधारने के लिए कृतसंकल्प है और उसे हर क्षेत्र में देर-सवेर सफलता मिल ही जाती है। वह गाँव में विधवा-विवाह ही नहीं कराता वरन् नवयुवकों की टोली बनाकर गाँव की चौतरफा उन्नति करने में भी सफल होता है। 'उग्रतारा' मे तो विधवा-विवाह का प्रतिपादन बहुत ही अतिरंजित

हो गया है। इसका नायक कामेश्वर न केवल विधवा उगनी से विवाह करता है वरन् परिस्थितिवश उगनी के अलग हो जाने और विवशता की स्थिति में ही सही, दूसरे की रखैल हो जाने तथा उससे गर्भवती हो जाने पर भी अन्त में उसे पत्नी के रूप मे ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि नागार्जुन के अधिकतर उपन्यासों का स्वर आदर्शवादी और कुछ कुछ प्रचारवादी हो गया है। केवल 'बलचनमा' इसका अपवाद है।

औपन्यासिक शिल्प की दिशा में नागार्जुन ने कतिपय सार्थक प्रयोग किये थे। उनका पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' उपन्यासों की सामान्य प्रविधि—उपन्यासकार के अवलोकन-बिन्दु से कथा-वर्णन एवं दृश्य-योजना का बारी-बारी से परिवर्तन—का अनुगमन करता है पर इस प्रविधि मे नागार्जुन को सफलता नही मिली। तब नागार्जुन ने उपन्यास के ही किसी पात्र के अवलोकन-बिन्दु से कथा प्रस्तुत करने की प्रविधि का प्रयोग किया और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। 'बलचनमा' इस प्रविधि का सर्वोत्तम नमूना है, यद्यपि इसकी त्रुटियों का उल्लेख हमने पहले किया है। 'बाबा बटेसरनाथ' में नागार्जुन ने आत्मकथा की प्रविधि को ही फेंटेसी की विशेषता से युक्त कर दिया है। इसके बाद उन्होंने 'रतिनाथ की चाची' की प्रविधि में 'वरुण के बेटे' और 'उग्रतारा' नामक उपन्यास लिखे, जो शिल्प की दृष्टि से ही नहीं अन्य दृष्टियों से भी साधारण उपन्यास है। अपने उपन्यास 'जमनिया का बाबा' में, शैली एकरसता को तोड़ने के लिए ही, नागार्जुन ने आत्म-कथा की प्रविधि में एक प्रयोग किया जो उपन्यास की दुनिया में सर्वथा नवीन न होने पर भी थोड़ी ताजगी लिए हुए है। इसमें उन्होंने 'बलचनमा' की तरह किसी एक पात्र को केन्द्र में न रखकर चार पात्रों को बारी-बारी से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है जो अपने-अपने अवलोकन बिन्दुओं से कथा कहते हैं और इस प्रकार अन्त तक पहुंचते-पहुंचते एक संश्लिष्ट कथा सामने आ जाती है।

नागार्जुन एक असावधान लेखक हैं, जिसका पता उनके उपन्यासों के शिल्पगत स्खलनों से अच्छी तरह चलता है। 'बलचनमा' जैसे उपन्यास में भी उपन्यासकार की असावधानता के चिन्त्य उदाहरण हैं। पृ० 162 और 163 के बीच कथा का सूत्र टूटा हुआ है। (बलचनमा, पहला संस्करण, 1952) एक स्थान पर बलचनमा को 'पनियाले हुए चास में धान का पौधा रोपते समय छुप छुप की आवाज' सुरैया के तान से भी मीठी मालूम पड़ती है। सवाल उठता है जिस समय (1937 ई० के पूर्व) की यह कथा है, उस समय सुरैया थी क्या? इसी प्रकार पृ० 133 पर बलचनमा कहता है: "तब तक पटना जंकशन का यह नया बिल्डिंग नहीं बना था" पर उपन्यास में कहीं भी इस बात का संकेत नही है कि बलचनमा किस समय अपनी कथा सुना रहा है। 'बाबा बटेसरनाथ' के दसवें परिच्छेद के बाद आत्मकथा प्रविधि

को छोडकर स्वयं उपन्यासकार का किस्सागो के रूप मे उतर पड़ना भी शिल्पगत रखलन का उदाहरण है।

नागार्जुन जहाँ किसी पात्र के द्वारा उसकी आपबीती सुनाने की कला में प्रवीण है, वहाँ किस्सागो के रूप मे उनकी अपनी भूमिका जम नहीं पाती। वे कथा के विभिन्न सूत्रों को जोडने मे अथवा कथा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ सिद्ध होते है। 'रतिनाथ की चाची' मे सम्भवत: उनका पहला उपन्यास होने के कारण, यह दोष बहुत अधिक मात्रा मे है। शीर्षक को ध्यान मे रखते हुए रतिनाथ की चाची को कथा के केन्द्र मे होना चाहिए, पर उपन्यासकार अक्सर इस बात को भूल जाता है और रतिनाथ की कहानी उसकी चाची की कहानी से विच्छिन्न होकर विकसित होती है। इतर प्रसगो के ब्यौरे प्रस्तुत करने के उत्साह मे भी नागार्जुन मुख्य कथा को भूल जाया करते है। कभी-कभी वे पात्रो का विवरण प्रस्तुत करने के क्रम में उनके पुस्त दर पुस्त के नाम-गोत्र की ऐसी भीड लगा देते है कि असली पात्र का नाम ही हम भूल जाते है। जब वे आमो के विभिन्न प्रकार का वर्णन करने लगते है तो साधारण पाठक की बात तो अलग रहे, आम बेचने वाला कुंजड़ा भी मुंह ताकता रह जा सकता है। 'नई पौध' डबल क्राउन आकार के 221 पृष्ठों का छोटा उपन्यास है, पर इसकी कथा में भी बेजान प्रसंगों की बैसाखियाँ लगी हुई हैं। 'वरुण के बेटे' और 'उग्रतारा' भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। 'उग्रतारा' में तो कथानक-योजना की दृष्टि से कई बडे कमजोर स्थान है। कामेश्वर और उगनी की कथा विश्वसनीय नही बन सकी है। उगनी का विभीखनसिंह की पत्नी बनने तथा उसका गर्भ धारण करने के बाद पुन: कामेश्वर से विवाह की बात भी असामान्य होने का भाव पैदा करती है। तात्पर्य यह है कि नागार्जुन अपने उपन्यासों की कथानक-योजना में, विशेषकर अपने अवलोकन बिन्दु से प्रस्तुत कथा में, सफल नहीं हो सके हैं। कही-कही अनवधानताजन्य त्रुटियाँ भी विशेष रूप से खलती हैं। 'दुखमोचन' के पृ० 18 पर दुखमोचन की औरत 'हैजा' से और पृ० 71 पर टी० बी० से मरती है। एक स्थान पर उसी की माँ की बरखी के दस बारह दिन बाकी है। जब तक वह डाकखाने से टिकट लेकर लौटता है, तब तक अप्पी की माँ की बरखी हुए तीन दिन गुजर चुके होते हैं। इस तरह की असंगतियाँ नागार्जुन के उपन्यासों में दर्जनों की संख्या में देखी जा सकती हैं।

शिल्प-योजना की दृष्टि से नागार्जुन को आत्मकथात्मक प्रविधि में उल्लेखनीय सफलता मिली है। जहाँ भी उन्होंने यह प्रविधि अपनायी है, वे सफल उतरे हैं। यह उनकी अपनी प्रविधि है। सम्भवत: हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद नागार्जुन ही हिन्दी में आत्मकथात्मक प्रविधि के सफल उपन्यासकार है।

भाषा-प्रयोग की दृष्टि से नागार्जुन प्रेमचन्दीय परम्परा के लेखक हैं पर उनकी भाषा में प्रेमचन्द की अपेक्षा सुर्खी अधिक है। यह भी उल्लेखनीय है कि केवल

आत्मकथात्मक प्रविधि वाले उपन्यासों में ही नागार्जुन की भाषा का शक्तिशाली रूप दिखाई पड़ता है। 'बलचनमा' 'बाबा बटेसरनाथ' और 'जमनिया का बाबा' मे नागार्जुन की भाषा उनके अन्य उपन्यासों की तुलना मे विशिष्ट ही नहीं बन गयी है, वरन् समस्त हिन्दी उपन्यास साहित्य मे वह अपनी अलग पहचान बनाने में समर्थ हो गयी है। यह भाषा सरल होकर भी इतनी प्रखर, प्रवाहपूर्ण, सटीक और शब्द मितव्ययी है कि उसका सीधा प्रवाह पडता है। सम्बोधन की भाषा होने के कारण इसमें गहरी आत्मीयता उत्पन्न करने की भी अपूर्व क्षमता है। नागार्जुन को आंचलिक उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्धि मिली है जिसका प्रमुख कारण 'बलचनमा' मे बहुलता से प्राप्त होने वाले आंचलिक शब्द और जुमले है। भाषागत आंचलिकता प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी मिलती है, पर नागार्जुन उससे आगे बढ़कर मिथिलाचल में प्रयुक्त वैसे शब्दों और मुहावरों का निर्बाध प्रयोग करते है जो न केवल परिनिष्ठित हिन्दी में स्वीकृत नही है वरन् जिनसे हिन्दी का सामान्य पाठक अपरिचित है। फलत: नागार्जुन को पदाटिप्पणियो में उन शब्दों का अर्थ देने को बाध्य होना पड़ा है। 'बलचनमा' में यह भाषागत आंचलिकता सार्थक है, क्योकि यह उपन्यास बलचनमा की आपबीती के रूप में उभरता है। बलचनमा अपढ और गंवार किसान-मजदूर है अत: उससे परिनिष्ठित खड़ी बोली का प्रयोग कराना युक्तिसंगत नही होता। नागार्जुन ने यह बात समझी है अत: वे उससे ऐसी भाषा का प्रयोग कराते हैं जो उसके व्यक्तित्व के साथ अभिन्न रूप में जुड़ी हुई है। वस्तुत: आंचलिक प्रयोगों के कारण ही बलचनमा का चरित्र इतने शक्तिशाली रूप में सामने आ सका है। पर नागार्जुन जब उन उपन्यासों में भी ऐसे आंचलिक प्रयोग करने लगते हैं जो स्वयं उपन्यासकार के अवलोकन बिन्दु से प्रस्तुत हैं तो उनका औचित्य सन्दिग्ध हो जाता है। उदाहरणत: "नयी पौध" में आंचलिक प्रयोगों का बाहुल्य खटकने वाला सिद्ध हुआ है। एक वाक्य के विश्लेषण द्वारा इस कथा की सत्यता सिद्ध की जा सकती है। इसमें एक वाक्य आता है "जूते खोलकर दुर्गानन्दन ने एक ओर रख दिये और अपना कुर्ता निकाल कर देवल में टुंकी कील पर लटका दिया।" 'देवल' शब्द का अर्थ पादटिप्पणी में 'दीवार', 'भीत' दिया हुआ है। यहाँ 'देवल' शब्द का प्रयोग आंचलिकता के प्रति लेखक का अनावश्यक मोह व्यक्त करता है। यदि यह शब्द किसी पात्र के मुँह से आया होता तो वह उसके व्यक्तित्व का अंग होता। उपन्यासकार को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वह जिस भाषा में उपन्यास लिख रहा है उसका एक विशिष्ट अनुशासन होता है।

पर नागार्जुन भाषा के अनुशासन के कायल नही जान पड़ते। उनकी अनवधानता शिल्प में ही नहीं, भाषा प्रयोग में भी दिखाई पड़ती है। स्वर्गीय आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने तो नागार्जुन की भाषा के प्रसंग में 'दुखमोचन' की समीक्षा लिखते हुए यहाँ तक लिख दिया कि "यदि कुछेक ऐसी पुस्तकें पाठ्य

क्रम मे स्वीकृत रहें तो अध्यापको का काम एक हद तक सरल हो जाए—-अशुद्ध प्रयोगो के निर्देश के लिए अशुद्धि ढूंढने मे उन्हें श्रम नही करना पडेगा ।" उनके लगभग सभी उपन्यासो से भाषा की अशुद्धियो के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। यह एक अच्छे उपन्यासकार के लिए प्रशंसा की बात नही है।

यदि उपन्यास लेखक के रूप में नागार्जुन की उपलब्धि की चर्चा आवश्यक ही हो तो मै कहूंगा कि पढने लायक उन्होंने दो से अधिक उपन्यास नही लिखे। वे है 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसरनाथ' । इनमें 'बलचनमा' हिन्दी उपन्यास साहित्य मे अपना विशेष स्थान बनाये रखने मे समर्थ होगा । 'बाबा बटेसरनाथ' के प्रथम दस परिच्छेद 'बलचनमा' के पूर्वार्द्ध के रूप मे पढे जाएँ तो विशेष आनन्द प्राप्त होगा। नागार्जुन के शेष उपन्यास जीविका के साधन मात्र हैं, उनके पीछे कोई विशेष विजन नही है।

———

नागार्जुन के पत्र

—वाचस्पति

श्री वैद्यनाथ मिश्र उर्फ 'यात्री' उर्फ 'नागार्जुन' और कुल मिलाकर 'बाबा' के ये कुछ पत्र यहाँ पहली बार छप रहे हैं। पत्रों को चुनकर रखते समय कालक्रम से प्रस्तुत किया गया है। बाबा अपने पत्रों में 'अपनी खबर' देते हैं तो औरों की खबर खूब लेते भी हैं। स्थानाभाव से, चाहकर भी बहुत से मूल्यवान पत्रों को नहीं दिया जा सका है। अपने पत्रों मे बाबा दिनांक के ऊपर पता न देकर कार्ड/अन्तर्देशीय/ लिफाफे के पीछे की ओर पते के पास ही अपना पता लिखते हैं। इन पत्रों में मैंने प्रकाशन-सुविधा की दृष्टि से पता दिनांक के ऊपर कर दिया है। वाक्यों के पूर्ण होने पर तीन-चार बिन्दु विषय परिवर्तन के सूचक (मूल पत्रों के अनुसार) हैं। किसी भी अंश को हटा दिये जाने का भ्रम इससे नहीं होना चाहिए।

[1]

पटना — 6
27-6-73

वा,

आज लगभग चार घंटों से हरिऔध जी की मानस-भूमि पर विचरण कर रहा हूं—अभी कुछ घंटे और यह सुयोग लेता रहूंगा···क्या अद्‌भुत व्यक्ति थे! 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे'—'ठेठ हिन्दी का ठाठ'—'अधखिला फूल'—प्रियप्रवास'—'वैदेही वनवास'···बहुत-कुछ सामने रखकर बैठ गया हूँ! "हरिऔध और उनका साहित्य" भी सामने है। लगता है, कम से कम एक सप्ताह समय उस महर्षि के साथ बिता पाऊँ तभी तसल्ली होगी···

नाथूराम शर्मा 'शंकर' की रचनाओं का भी पारायण करना चाहूँगा। समकालीन नखरेबाजों से ऊबकर यदि कोई इन लोगों में अपने को रमा सके तो उसको अनूठी ताजगी हासिल होगी—"भारतेन्दु मंडल" के सभी महारथियों का सान्निध्य हमें बीच-बीच में प्राप्त करना ही चाहिये···

काफ़ी उद्धरण एकत्र कर रहा हूँ—इन्हें किसी भी प्रखर वामपंथी पत्रिका में सम्मानपूर्वक पुन: पुनः प्रकाशित किया जायेगा तो पाठक धन्य-धन्य हो उठेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है।

कलकत्ता कब पहुंच रहे हो? 5-7 तक? मैं अब उधर पहुंच नहीं पाऊंगा फिलहाल···लेकिन जुलाई-अगस्त के महीने पटना से बाहर ही गुजरेंगे—यह भी

निश्चय है। तुम्हें कलकत्ता लिखूंगा c/o श्री कृष्णाचार्य, हिन्दी—आफिसर, नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता। लेकिन कलकत्ता पहुंचने की निश्चित तारीख लिखोगे तभी न डालूंगा पत्र वहाँ!

अवधेश प्रधान को याद कर लूं न? —नागार्जुन

[2]

200, टैगोर पार्क, दिल्ली-9
14-11-73

वाचस्,

√ अन्तर्देशीय मिला होगा।

√ बड़े-बड़े पत्र लिखना दिनानुदिन कम करते जाओ।

√ व्यवस्थित और अनुशासित लेखन की तरफ अपने को मोड़ लो। लु-सुन की तरह छोटे-छोटे, प्रखर-पैने निबन्ध हमारे लेखन का चरम लक्ष्य होना चाहिये। वे हथियार और औजार का काम करेंगे।

√ व्यक्तिगत पत्र भी सूत्र या वार्तिक शैली में लिखा करो···

√ प्रधान लौट आए?

√ निर्वाचन के दिनों में 20 रोज उत्तर प्रदेश और 10 रोज उड़ीसा रहना चाहूंगा।

√ स्वस्थ हो न? —ना०

[3]

c/o राजकमल प्रकाशन, पटना-6
1-3-74

प्रियवर वाचस्,

पत्र मिला। बम्बई-पूना जरूर देख आओ। यदि अवसर मिल रहा है तो चूकना नहीं। हो सकता है, भविष्य में, यूरोप के देशों की तरह हमारे महाराष्ट्र—बंगाल—गुजरात—नगाभूमि, गोआ, तमिलनाडु भी स्वयं हमारे लिये "पर-देश" बन जाएं! शिवसेना वाले जब महाराष्ट्र में गैर-महाराष्ट्रियों को नहीं देखना चाहेंगे तो दूसरे राज्यों में भी तो यही दुर्भावना अंकुरित होगी न? होली के दिनों में इधर ही रहना है। मार्च 20 के बाद जमशेदपुर जाना है फिर लौट आना है। —ना०

[4]

शास्त्री भवन, महेन्द्रू, पटना -6
20-4-74

प्रियवर वाचस्पति,

पत्र मिला। इधर डाक की भी तो गड़बड़ी चल रही है। इसी से पत्र नहीं डाल रहा था।

17 को हम छः जने (फ० रेणु, दामोदर अम्बष्ठ, मधुकर सिंह, रवीन्द्र राजहंस, जुगन् शारदेय और नागार्जुन) प्रतीक-अनशन पर थे। अम्बष्ठ मूर्ति निर्माता और चित्रकार हैं। जुगनू शारदेय पत्रकार हैं। र० राजहस यहाँ कॉमर्स कालेज में अंग्रेजी पढ़ाते हैं। आपकी कवितायें विदग्ध—समाज में पसंद की जाती हैं। मधु० सिंह (कथाकार) से परिचित हो ही। आम जनता शान्तिपूर्ण विरोध प्रकट कर रही है- प्रतीक अनशन, मौन जुलूस, धरना, रात्रि की नीरवता में घड़ियाल-थाल आदि बजाना'''यह प्रक्रिया छोटे-छोटे कस्बों तक में पहुंच रही है। 5—10 वर्ष के बालक बालिकाजन एवं अन्त:पुरीका वर्ग भी इस कर्मकांड में भाग ले रहे हैं। शिक्षकों का समर्थन तो रहा ही है, अब वकीलों—एडवोकेटों की भी सक्रिय सहानुभूति छात्रों को मिलने लगी है। निचली श्रेणियों के सरकारी कर्मचारी, छोटे व्यापारी आदि भी अपनी हमदर्दी जाहिर कर रहे हैं।

जनसंघ और संसोपा और संगठन कांग्रेस और सोपा और मार्क्सिस्ट—कम्यूनिस्ट दलों के प्रभाव में जो भी छात्र वर्ग-युवावर्ग हैं, "छात्र संघर्ष समिति" में उनका प्रतिनिधित्व है। सर्वोदय वालों के "तरुण शान्ति सैनिक" (गांधी के चुने हुए सत्याग्रहियों की तरह) फिलहाल "छात्र संघर्ष समिति" को अपने अनुशासन में चला रहे हैं। आन्दोलन की पूरी 'निगरानी' ज० प्र० ना० कर रहे प्रतीत होते हैं। "अन्धाधुन्ध दमन" वाला प्रभुवर्ग इसीलिए अपने सुगन्धित आश्वासन प्रचारित कर रहा है। वह अभी महीनों तक शांति का यह अभिनय देखता रह सकता है। दूसरी ओर सैकड़ों छात्र और नौजवान रोज-रोज गिरफ्तार किये जा रहे हैं। दो-ढाई हजार तरुण जेलों में "यातना शिविर" के तजरबे ले रहे हैं। विधायक और सांसद (जी, हाँ प्रतिपक्ष वाले भी) भत्ताग्रहणपूर्वक सब-कुछ देख रहे हैं''''''सब कुछ सुन रहे हैं।

ऐसे में छद्म वाम देवी-देवा के प्रति अपना व्यामोह छिपा नहीं रहा है। यह अच्छा है। मैं किस प्रकार के तरुणों की अगवानी में अपना आशीष व्यक्त करना चाहूंगा, क्या बताऊं!

शेष, दूसरे पत्र में। —ना०

[5]

173, स्लमक्वार्टर्स, लोहियानगर,
पटना-20
4-12-74

बाबम्,

पत्र मिला था। पांडे मिले होंगे।
14 की शाम तक पहुँच रहा हूं''

15 को काशी मे एक प्रोग्राम रख दिया उन्होंने···ततः पर, 22

(22 दिसम्बर) का एक प्रोग्राम पूना (महाराष्ट्र) का है। 10 जनवरी, 75, को हमें नागपुर रहकर "विश्व हिन्दी" वाले महानाटक के खिलाफ मोर्चा जमाना होगा—हिन्दी भाषा के नाम पर शासकीय चाटुकारों का यह 'महा मेला' कितना बड़ा पाखंड होगा !

तुम्हारा

—ना०

[6]

शास्त्री भवन, पटना-6
21-4-75

प्रियवर वाचस्पति,

एक पत्र परसों काशीपुर वाले पते पर डाला है। वह तुम्हें बाद को, लौटने पर मिलेगा।

काशीपुर रहना तुम्हें अखरता रहेगा। हमारे पूर्वजों को भी इसी तरह स्वजनों—मित्रों—साधना केन्द्रों से हटकर सुदूर कहीं रहना पड़ता था। इस बात के सबूत हमारे पुराने साहित्य में यत्र-तत्र मिलते हैं। इस विडंबना को प्रसन्नतापूर्वक झेलने की आन्तरिकता अपने आप में विकसित करनी होगी।

✓ मैं दमा के कारण इधर शिथिल पड़ा हूं। आज फिर भी जमशेदपुर जाना है। शायद 29 तक लौट आऊंगा—दो एक दिन आगे-पीछे।

मरे हुए पशुओं की खालों—हड्डियो के व्यापारी बड़ी मुस्तैदी से अपने धंधे का आधुनिकीकरण कर रहे हैं। वर्ष भर अभी धूमिल ही उनका 'उपजीव्य' रहेगा। फिर कोई और निकल आयेगा जो अकाल मृत्यु को प्राप्त होगा।

लाखों की द्रव्यराशियां एक दूसरे के नाम पर उछालने वाले फिल्मी विधाता आज तक शकर शैलेन्द्र की रचनाओं का संकलन नहीं निकलवा सके हैं। दिवंगत नेताओं का भी यही हाल देख रहे हैं, यदि वे करोड़ों की सम्पदा और अनुगामियों की कतार अपने पीछे नहीं छोड़ गये हैं।

'अभी और क्या लिखूं ! लिखने को ढेर-सी बातें हैं लेकिन अभी नहीं लिख सकूंगा।

'आशा है, तुम स्वस्थ हो। प्रधान और शुक्ल जी भी स्वस्थ होंगे। उषा भी ठीक होगी।

' मैं मई के दूसरे सप्ताह में महाराष्ट्र जाने वाला हूं। शायद उधर से ही गुजरात का भी चक्कर लगाता आऊं···5-5 को इधर से निकलने का इरादा है।

√ तुमसे जाने कब तक मुलाकात होगी !

—नागार्जुन

तुम्हारा

[7]

शास्त्री भवन, महेन्द्रू, पटना—6

17-5-76

प्रियवर वाचस्,

14 का पत्र मिला। मैं गत महीने में 26 को कारामुक्त हुआ। ठीक ग्यारह महीने बाद। दमा के बारे बेहद अस्वस्थ रहा। अब ठीक हो रहा हूं। और क्या लिखूं अभी ? शायद देहात जाना हो। काशी पहुंचने का जी करता है। तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक रहता है न ? पत्रों का सिलसिला बन्द हो जाने से मैं तो अब नाम तक भूलने लग गया था परिचितों के ! खैर, उम्र का असर भी तो पड़ना ही चाहिये। अवधेश, शुक्ला जी, अतिबल आदि से मेरा सलाम बोल देना··· —ना०

[8]

c/o श्री जगदीश मिल्स,

फारबिसगंज

N E F R

25-4-77

प्रियवर वाचस्,

14 वाला अंतर्देशीय मिल गया था।

मैंने 18 को दिल्ली छोड़ी। रेणु के श्राद्ध के दिनों में उसके गांव (औराही हिंगना) तक पहुंचना था। लगभग चार रोज वहाँ रहकर कल यहाँ आया हूँ। कल शाम तक पटना पहुंच जाऊंगा। 2 की शाम को कलकत्ता पहुंचना है। फिर उधर से ही 5 मई तक दिल्ली वापस लौट आयेंगे। आप अगला पत्र दिल्ली वाले पते पर ही डालें। विस्तार से लिखूंगा।

—नागार्जुन

तुम्हारा

[9]

c/o प्रेमचन्द सृजन पीठ

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

10-9-81

प्रियवर वाचस्,

(1) आज दुपहर की गाड़ी से हम भोपाल जा रहे हैं···वहाँ 'प्रगतिशील

लेखक संघ" (भोपाल शाखा) 'महत्व' नाम से एक समारोह आयोजित कर रहा है—तीन दिनो का समारोह। पहली बार 'महत्व' केदारनाथ अग्रवाल की कृतियों पर आधारित चर्चाओं को ही देने जा रहा है।

(2) √ 11-12-13 (तीन दिन) हम वही रहेगे। शमशेर को तो चलना ही था। मुझे भी वे लोग छोड़ने वाले नहीं हैं न? 14 को विश्राम करूंगा। अगले दिन इटारसी-मार्गेण पटना के लिए। पटना पहुँचेगे 17 को। आपका पत्र वही पहुंच रहा होगा। भोपाल वालों को जब मेरा पता 'नई दुनिया' के अंकों से चला तो भला वे कैसे मानते। मेरे लिए भी भावनात्मक स्तर पर वापसी मे ढिलाई की गुंजायश थी ही। केदार तो मेरे सर्वाधिक प्रिय सखा ठहरे।

(3) √ 2 अक्तूबर तक पटना होंगे। दुर्गा पूजा इस बार कलकत्ता में रहने का इरादा जोर मार रहा है।

√ नवम्बर के आरम्भ तक हमें फिर मध्यप्रदेश आ जाना है—"कालिदास–समारोह" (उज्जैन वाला) हम पहली बार देखेंगे। यह लगभग 10 दिन चलता है······

(4) √ डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी Ph. D. कालिदास–अकादमी के डाइरेक्टर हुए है। वो यहाँ 24-8 को आये है। हमने सर्वात्मना महसूस किया कि एक सही व्यक्ति उचित स्थान पा गया है। यह तो तुम्हें भी चमत्कार ही प्रतीत होगा।

√शकुन् को सस्नेह आशीष। चि० अनिमेष को प्यार······विस्तृत पत्र डालना······

—नागार्जुन
तुम्हारा

[10]

131 टैगोर पार्क, दिल्ली–9
3-11-81

प्रिय वाचस्,

कल शकुन्तला के नाम एक और पत्र डाला–काशीपुर वाले पते पर। श्री हरिलाम सिंह की मार्फत। पहले एक पोस्टकार्ड डाला था। शकुन् को पत्रों का भारी शौक है न! यहाँ भी तो इन दिनों वही मुख्य 'विधा' हो रही है—पत्र साहित्य ही तो चलता है आजकल। कई मित्रों की राय है कि पत्रों का सिलसिला बन्द करके मुझे फिर से उपन्यास खण्डकाव्य आदि में जुट जाना चाहिये। "वह ज्यादा

आवश्यक है'' वे कहते हैं'''मगर हमें तो लगता है कि पत्रों द्वारा हमें अपने तईं अधिकाधिक परितृप्ति हासिल होती है—इसका मूल्य रायल्टी से कहीं अधिक होगा''''''

√हापुड़ नहीं गया। अब इधर ही हूं। दो-एक रोज के लिए शायद कभी हापुड़ का चक्कर लगा आऊँ '''

√ हाँ, इस अवधि में एक सप्ताह जहरीखाल में गुजारने का इरादा अंकुरित हुआ था। आपका कालेज शीत कालीन अवकाश कब मनाएगा ? शकुन्तला गोरखपुर नहीं जायेंगी क्या इस वर्ष ? मैं दिसम्बर के आरम्भ में चार-पांच दिनों के लिये जहरीखाल पहुंच जाऊँ ? यों, 15 दिसम्बर के बाद शायद मध्यप्रदेश जाना हो'''√स्वास्थ्य ठीक हो गया है लगभग'''

भाई महेश्वर तिवारी का पता लिखो। प्रभाकर से क्या मार्च के बाद ही मुलाकात होगी ? अपने माता-पिता और बहनों के स्वास्थ्य के बारे मे सूचित करना। —नागार्जुन

तुम्हारा

[11]

131, टैगोर पार्क, दिल्ली—9
Pin 110009
26-11-81

वाचम्,

कल एक तमाशा हो गया यहाँ !

यानी मेरा चश्मा खो गया ! यानि तत्काल 50/- का दण्ड भरना पड़ता न ? और शाम के बाद, ठीक साढ़े सात बजे हमारी आँखों का प्रिय सखा अपने आप 'परगट' हुआ !!

हमने फिर भी दिन में 7 पत्र लिख डाले थे। सोच लिया था, कल कमला-नगर जाकर चश्मा नया ही ले लेंगे'''मगर, अब तुमसे क्या बतलाऊँ ! आँखों का यह सखा उतना कहाँ गुम रहा ! यानि, कल शकुन् वाले पत्र में''' —ना०

[12]

82. IV. 19'' टैगोर पार्क 131'''दिल्ली—IX'''ना०

वा,

दोनों पोस्टकार्ड अभी डेढ़ बजे दिन में साथ मिले। और भी डाक थी। 3-4 वाला पत्र यहाँ सुरक्षित था'''वो भी मिला''' आप और शकुन् मेरे पत्रों का उपयोग अवश्य करें। मूल पत्र अपने पास ही रखें''' पत्रों को (खतों को) दिलो-दिमाग का आईना मानता हूं। कुछ सुधी–जन, बल्कि अधिक सुधीजन इसे फालतू–कोटि उबाऊ कार्यव्यापार समझते हैं—इस वर्ग में वे 'चतुर-सुजान' भी होते हैं जिन्हें भविष्य में अपनी पोल खुलने का आतंक सताता रहता है। मैं उन्हें दूर से

ही साष्टांग प्रणाम करता हूं···

एक पिक्चर पोस्टकार्ड चि० अनिमेष के नाम 'पोस्ट' करने वाला हूं आज। उसे पटना से ही रवाना करना था···

26 को फिर से ट्रेन पर होंगे हम···और तब 20-5 के बाद लौटेंगे। श्रीकांत पहली मई को जायेगा···लगभग पूरा महीना उसे लग जायेगा। अब अगले पत्र आप पटना वाले पते पर डालते जाना। हम दरभगा से आकर 2-5 को आपके पत्रों को हस्तगत कर लेंगे······बारात संयुक्त रूप से पटना से ही चलेगी, 7 के प्रातःकाल। बस से।···श्री कांत आदि तरौनी से छः की शाम को पटना पहुंच लेंगे। ··शेष बातें कल या परसो लिखूंगा··· —ना०

आपका

नागार्जुन का साहित्य

कविता-संकलन

1. **खिचड़ी विप्लव देखा हमने** ; संभावना प्रकाशन, हापुड ; प्रथम संस्करण 1980 ; पचीस रुपये; पृष्ठ 128

इस संकलन मे 66 कविताए है। शोभाकान्त ने 'कविताओ से पहले' लिखते हुए सूचना दी है कि मई '64 से सितम्बर, '79 की अधिकांश रचनाए दो सग्रहो में संकलित की गई है—'तुम रह जाते दस साल और' और 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' मे। प्रथम शीर्षक का संग्रह अभी तक नहीं दिखाई दिया। दूसरा यह है ही।

2. **तालाब की मछलियाँ** ; लोकायन सांस्कृतिक संस्थान, भिंड की ओर से अनामिका प्रकाशन खजांची रोड, पटना; प्रथम संस्करण 1975; सोलह रुपये; पृष्ठ 167

प्रस्तुत संकलन में 39' से 69' तक की 63 रचनाए हैं। इसमें 'युगधारा', 'सतरंगे पंखों वाली' और 'प्यासी पथराई आँखे' की विशिष्ट रचनाए आ गई हैं। सूचना है कि अगला संकलन 'अभी तक' नाम से प्रकाशित होगा। अभी तक नहीं हुआ है।

3. **तुमने कहा था** ; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1980; अठारह रुपये; पृष्ठ 94

इस संकलन में 52 कविताए हैं। शोभाकांत ने प्रारम्भ में सूचना दी है कि मई 64' से लेकर सितम्बर 69' तक की अधिकांश रचनाए 'तुमने कहा था' और 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' में आ गई हैं।

4. **पुरानी जूतियों का कोरस**; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1983; पैंतीस रुपये; पृष्ठ 167

इस संकलन में 72 कविताए हैं। शोभाकान्त ने सूचना दी है कि "समय समय पर इन रचनाओं को सुधी पाठकों ने मुक्त कंठ से सराहा है और विभिन्न शोध-ग्रन्थों या संदर्भ-ग्रन्थों में इनकी पंक्तियां 'कोट' की जाती रही हैं, पूरी रचना नहीं दिखलाई पड़ती थी।"

5. **भस्मांकुर**; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1971; ढाई रुपये (द्वितीयावृत्ति); पृष्ठ 108

भूमिका में कवि ने लिखा है कि "आज हमारी वह पुरानी अभिलाषा पूर्ण हुई कि बरवै छन्द में एक समग्र लघु काव्य पूर्ण हुआ। काम-दहन वाली कथावस्तु

को काव्य का रूप देने का संकल्प नथा नहीं था। पिछले सात-आठ वर्षों से यह कथानक अपने मन-मस्तिष्क के अन्दर एतदर्थ पकता उबलता रहा है।"

6. **युगधारा;** यात्री प्रकाशन C-3/169 यमुना विहार, दिल्ली; प्र० सं० 1953 पचीस रुपये (द्वि० सं०) पृष्ठ 112

प्रथम संस्करण के ज्ञापन में नागार्जुन के बारे में कुछ सूचनाएं हैं यथा, 1943 तक वह 'यात्री' नाम से लिखते रहे; सर्वप्रथम प्रकाशित रचना 'राम के प्रति' थी जो 'विश्वबंधु' साप्ताहिक लाहौर में 1935 में छपी थी; मैथिली की प्रथम प्रकाशित रचना 'मिथिला' मासिक लहेरिया सराय में 1930 में छपी थी। यह भी लिखा है कि "इस प्रकार के चार सकलन और तैयार हो सकते हैं, इन्हें सम्भालना नागार्जुन के लिए एक समस्या है। कुछ खो जाने की स्थिति में है, कुछ मित्रो के पास बिखरी पडी है और बाकी इस यात्री कवि के थैले मे दरभगा, पटना, इलाहाबाद, दिल्ली-इलाहाबाद-पटना-दरभंगा सफर करती फिरती हैं।" 'युगधारा' का पुनर्मुद्रण 1982 में हुआ 'एक सोची हुई योजना के अन्तर्गत।' इसमें 37 रचनाएं हैं।

7. **हजार हजार बाँहों वाली;** राधाकृष्ण, प्रकाशन, दिल्ली प्र० सं० 1981; पैंतीस रुपये; पृष्ठ 189

इस संकलन में 110 कविताएं हैं। शोभाकांत ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से इन कविताओ को संकलित किया है। वह लिखते है कि "इन रचनाओं के गुण-तत्व की परख का भार मर्मज्ञों पर रहा। राजनीति और साहित्य के मध्य की सीमा-रेखा के बारे मे मुझे कुछ नहीं कहना है।"

8. **पत्रहीन नग्न गाछ;** सम्भावना प्रकाशन, हापुड़; प्र० सं० 1981; तीस रुपये; पृष्ठ सं० 144

यह नागार्जुन की 52 रचनाओं का संकलन है। मूल मैथिली रचनाओं का हिन्दी रूपान्तर सोमदेव ने किया है। इसी रचना पर साहित्य अकादमी द्वारा 1968 में पुरस्कार दिया गया था। सूचना दी गई है कि पहली बार यह संकलन तीरमुक्ति अकादेमी (इलाहाबाद) से छपा था।

9. **गीत गोविन्द;** वाणी प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1979; पचीस रुपये; पृष्ठ 85

यह कवि जयदेव की प्रसिद्ध कृति 'गीत-गोविन्द' का खड़ी बोली गद्य में अनुवाद है। 'पूर्व-पीठिका' में नागार्जुन ने जयदेव का संक्षिप्त परिचय दिया है। इस संस्करण के शुरू में उन्होंने यह भी लिखा है कि "मेरी कुछ ही पुस्तकें पाठको को सुलभ है—वे भी सर्वत्र समान रूप से प्रयास करने पर भी, मिल नहीं पाती। 'गीत गोविन्द' का प्रस्तुत संस्करण अति आवश्यक था।" अनुवाद के साथ मूल भी छपा है।

10. **मेघदूत;** वाणी प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1979; पैंतीस रुपये; पृष्ठ 178

इस संस्करण के प्रारम्भ में नागार्जुन ने लिखा है कि "मेघदूत का यह रूपान्तर

वर्षों से अप्राप्य था। पहली बार सा० हिन्दुस्तान में (कई अंकों में) छपा था। दूसरी बार राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल (पटना) से प्रकाशित हुआ। अब वाणी प्रकाशन (दिल्ली) इसे छपवा रहा है। निःसंदेह पाठक समाज इस अभिनव संस्करण को पसन्द करेगा।" भूमिका में विस्तार से मुक्तवृत्त, कालिदास और मेघदूत के बारे मे नागार्जुन ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। अनुवाद के साथ मूल भी प्रकाशित है।

11. विद्यापति के गीत; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1979; पैंतीस रुपये; पृष्ठ 144

शुरू मे नागार्जुन ने लिखा है "इन गीतों का यह ताजा प्रकाशन अति आवश्यक था।...... कई वर्षों से अपनी इस विशिष्ट रूपान्तरित कृति को काव्य-रसिक जनता के मध्य अलभ्य देखकर मैं खिन्न हो रहा था। वस्तुतः इस पुस्तक की अप्राप्यता का कारण मेरी अपनी लापरवाही था। मुझे पूर्ण विश्वास है, महाकवि के चुने हुए गीतो का यह छाया-रूप पसन्द किया जायेगा। पाठकों-पाठिकाओ की सुविधा के लिये मूल पद भी साथ-साथ डाल दिये गये है।" 'कवि-परिचय' शीर्षक से नागार्जुन ने विद्यापति का संक्षिप्त परिचय भी लिखा है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त 'प्यासी पथराई आँखें' (यात्री प्रकाशन, इलाहाबाद; सं० 1962; मूल्य तीन रुपये; पृष्ठ 64) और 'सतरंगे पंखों वाली' (यात्री प्रकाशन कलकत्ता–7; सं० 1959, मूल्य तीन रुपये; पृष्ठ 64) भी प्रकाशित हुए थे लेकिन जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है 'तालाब की मछलियाँ' में इनकी विशिष्ट रचनाएं आ गई हैं। आठ लम्बी कविताओं का संकलन 'अग्निगर्भ' (वाणी प्रकाशन, दिल्ली) मुद्रणाधीन है।

उपन्यास

1. इमरतिया; राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; प्र० सं० 1968; तीन रुपये, पृष्ठ 125

2. उग्रतारा; राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; तीसरा स० 1970; चार रुपये, पृष्ठ 124

3. कुंभीपाक; राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; दूसरा सं० 1973; पांच रुपये; पृष्ठ 137

4. जमनिया का बाबा; किताब महल, इलाहाबाद; प्र० सं० 1968; पृष्ठ 148

5. दुखमोचन; राजकमल प्रकाशन; सातवां सं० 1973; मूल्य छह रुपये पचास पैसे; पृष्ठ 168

6. नई पौध; किताब महल, इलाहाबाद; द्वि० सं० 1967; पृष्ठ 144

7. पारो; सम्भावना प्रकाशन, हापुड़; प्र० सं० 1975; आठ रुपये; पृष्ठ 94

8. बलचनमा; किताब महल, इलाहाबाद; प्र० सं० 1952; पृष्ठ 207 (चतुर्थ स०)

9. बाबा बटेसर नाथ; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1954; दो रुपये (द्वि० सं० 1960); पृष्ठ 153

10. रतिनाथ की चाची; राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; प्रकाशक-यात्री प्रकाशन, पटना; बारह रुपये; नवीन संस्करण 1977; पृष्ठ 167

इस नवीन संस्करण के शुरू मे 'दो शब्द' में नागार्जुन ने लिखा है कि "रतिनाथ की चाची" की भाव भूमि दरभगा जनपद के एक अचल में सीमित थी। कथा-काल, 37 और 40 के मध्य का था। रचनाकाल '47···दूसरा संस्करण '67 में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। वह संस्करण अशुद्धियों की भरमार के चलते मेरे लिए क्लेशकारक बन गया। सरलमति पाठको को ध्यान में रखकर कुछ एक अश्लील एव अप्रासगिक अशों को हटा लेना मुझे अनिवार्य प्रतीत हुआ।······इस प्रकार 'रतिनाथ की चाची' का यह अभिनव संस्करण ही प्रामाणिक माना जाएगा।"

11. वरुण के बेटे; राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; संस्करण 1971; पाच रुपये; पृष्ठ 127

12. हीरक जयन्ती; यह उपन्यास पहले आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली से छपा था। फिर 'अभिनन्दन' नाम से वाणी प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। 'अभिनन्दन' का प्र० वर्ष 1979, मूल्य 18 रुपये, पृष्ठ सं० 135 है।

विविध

अन्नहीनम् क्रियाहीनम्; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1983; अट्ठाईस रुपये; पृष्ठ 136

शोभाकान्त की सूचना के अनुसार "स्फुट गद्य का यह पहला संग्रह है। इस तरह के कुछ संग्रह और तैयार होंगे। उपन्यास के अतिरिक्त गद्य लेखन का क्रम काफी पुराना है। यात्रा-सस्करण, निबन्ध, कहानी, बालोपयोगी कथा, पत्रों में कालम आदि शुरू से ही लिखा जाता रहा है।" इस संग्रह में ये गद्य-रचनाएं हैं—हिमालय की बेटियां, कैलाश की ओर, मशक्कत की दुनिया, थो लिङ् महाविहार, सिन्ध में सत्रह महीने, अन्नहीनम् क्रियाहीनम् सरस्वती का अपमान, हिन्दी की छाती पर अग्रेजी को नहीं लादा जा सकता, राज्याश्रय और साहित्य जीविका, दादा जी आप रिटायर हों!, वन्दे मातरम्, दिमागी गुलामी, बुद्ध युग की आर्थिक अवस्था, मृत्युंजय कवि तुलसीदास, राहुल जी—उनका साहित्य और व्यक्तित्व, मैं सो रहा हूं!, यशपाल, आईने के सामने।

आसमान में चन्दा तैरे; प्रस्ताव प्रकाशन, भागीरथी लेन, महेन्द्रू, पटना; प्र० सं० 1982; मूल्य बीस रुपये; पृष्ठ 120

यह यत्र-तत्र प्रकाशित कहानियों का संग्रह है। शोभाकान्त ने मुझे सूचना दी है कि "इसके अतिरिक्त दो निबन्ध-संग्रह, लगभग तीन काव्य-संग्रह और पांच-छह बच्चों के लिए बाल-साहित्य संग्रह करने में अभी लगा हुआ हूं। साथ ही मैथिली का एक काव्य-संग्रह।"

नागार्जुन की कविताएं

नागार्जुन एक लम्बे अरसे से काव्य-रचना मे सलग्न रहे है। आगे दी गई सूची में निम्न संकलनों की कविताओ का वर्ष-क्रम से वर्गीकरण कर दिया गया है—

1. खिचड़ी विप्लव देखा हमने
2. तालाब की मछलियाँ
3. तुमने कहा था
4. पुरानी जूतियो का कोरस
5. युगधारा
6. हजार-हजार बांहों वाली

कविताओं के शीर्षक के आगे कोष्ठक में उपयुक्त क्रम से ही अक डाल दिये गये हैं जिससे यह जाना जा सके कि कविता किस संग्रह में संकलित है।

'युगधारा' में संकलित कई रचनाओ मे वर्ष नही छपा है इसलिए वे आगे की सूची में शामिल नही हैं। वे है—

जन-वन्दना, भिक्षुणी, चन्दना, जयति कोरिया देश।

'मनुष्य हूं' शीर्षक कविता 'युगधारा' मे भी छपी है और 'तालाब की मछलियां' में भी संकलित है लेकिन 'युगधारा' में वर्ष छपा है—अगस्त, 46 और 'तालाब की मछलियाँ' में 1947 अंकित है।

इसी तरह 'जयति जयति बरसात' शीर्षक कविता का 'युगधारा' में वर्ष है—जून 1947 जबकि 'तालाब की मछलियां' में 1949 छपा है।

शोभाकान्त ने मुझे लिखा है कि "'मनुष्य हूं' अगस्त 1947 की रचना है। 'जयति जयति बरसात' जून 1947 की—'युगधारा' के मुताबिक। 'युगधारा' मे अंकित काल ही प्रामाणिक है।"

1936 निर्वासित (6)
1939 रजनी गन्धा (2), चातकी (2), उनको प्रणाम (6)
1940 बादल को घिरते देखा है (5)
1941 जया (2), बहती है जीवन की धारा (4)
1942 प्रत्यावर्त्तन (6), बुलबुले (4)
1943 सिन्दूर तिलकित भाल (2), दंतुरित मुस्कान (2), सफेद बादल (6), तब मैं तुम्हें भूल जाता हूं (4)

1944 बलाका (6), देवदारू (6), पीपल के पीले पत्ते (6), महामानव लेनिन (4), सिन्धुनद (4), क्षमा-प्रार्थना (4)

1945 रवि ठाकुर (2), गाँधी (6), मन करता है (6), अनुरोध (4)

1946 तुम जगी संसार जाये जाग (2), विवशता (2), कल्पना के पुत्र हे भगवान (6), तारे (4), मनुष्य हूं (5)

1947 एक मित्र को पत्र (2), उद्‌बोधन (2), मनुष्य हूं (2), नई पौध (2), मांजों और मांजो (2), जनकवि (2), पाषाणी (5), जयति जयति बरसात (5)

1948 कवि (2), तर्पण (2), शपथ (2), ऋतु-संधि (2), तालाब की मछलियां (2), विजयी के वंशधर (2), कवि-कोकिल (2), एटमबम (2), भूस का पुतला (2), साथी रुद्रदत्त भारद्वाज (6), जन्मदिन शिशु-राष्ट्र का (6), सच न बोलना (6), लाल भवानी (6), लो, देखो अपना चमत्कार (4), नौलखा हार (4)

1949 वह कौन था (2), जयति जयति बरसात (2), बरफ पड़ी है (2), साथी गणपति (4), केसर की मासूम क्यारियों से आती आवाज (4), भारत माता (5), छोटे बाबू (5)

1950 पक्षधर (2), बजट-वार्त्तिक (2), योगिराज अरविन्द (6) महाकवि निराला (6), बाकी बच गया अन्डा (6), भारतेन्दु (4), लाल कमल (4), नोच रहे दहलीज खीजकर (4), कवि (5), प्रेत का बयान (5)

1951 धरती (2), खाली नहीं और खाली (2), आओ तुम्हें भली भांति पहचान गये हम (6), अजगर करे न चाकरी (6), मैं कैसे अमरित बरसाऊं (6), फाँसी की सजा पाये हुए.........बारह वीर तिलंगे (4), स्वदेशी शासक (5)

1952 प्रेत का बयान (2), जयति जयति सर्वमंगला (2), वणिक्य पुत्र (6), संत विनोबा (5)

1953 अरुणोदय (2), दधीचि निराला (6), साथी स्टालिन (6), डिगा न पाया रोहिताश्व का मोह (6), पूरी आजादी का संकल्प आज दुहराते हैं (6), लक्ष्मी (6), बताऊं ? (6), सौदा (6), नेपाल का नौजवान (6), आइजन-हावर (6), जोमो केन्याता (6), तीस हजारी कार (6), नया तरीका (6), चमत्कार (6), मास्टर ! (6), खड़ी न होगी हम दोनों के बीच कभी दीवार (4), पंडित जी जाने वाले हैं रानी के दरबार मे (4)

1954 अनुदान (6), तिकडम कें ताऊ (6), पुलिस अफसर (6), खड़ी है ट्रेन (6), नेहरू (6), झंडा (6), नवादा (6), मैं हूं सबके साथ (6), वह तो था बीमार (6), छेदी [illegible] (4), नाजियो के [illegible] (4), अमलेन्दु एम० एम० ए० (4), चीलों की चली बरात (4)

1955 ऐसा क्या अब फिर-फिर लेगा (2), तर्पण-ख (2), आत्मा की बांसुरी (6), दोन-वोलगा जमुना-गंगा आज हो रही एक (6)

1956 क्या अजीब नेचर पाया है (2), तुम किशोर तुम तरुण (2), होती बस आंखें ही आंखें (2), ओ जन मन के सजग चितेरे (2), हो बंभोला (6) नीली झील और जलचर (6), सशय मे पड़ गये तथागत (6), चाचा भरे चाबी (6)

1957 जयति नखरंजिनी (2), तो फिर क्या हुआ (2), सौन्दर्य प्रतियोगिता (2), हटे दनुजदल (2), और तू चक्कर लगा आया तमाम (2) कैसा लगेगा तुम्हें (2), नीम की दो टहनियाँ (2), बसन्त की अगवानी (2), अकाल और उसके बाद (2), बहुत दिनों के बाद (2), नाकहीन मुखडा (2), यह कैसे होगा (2), सतरंगे पंखों वाली (2)

1958 देखना ओ गंगा मैया (2), गीले पाक की दुनियां गई है छोड़ (2), आओ प्रिय आओ (2), काले-काले भंवरे (2), तन गई रीढ़ (2), यह तुम थी (2), खुरदरे पैर (2), तन है सांवला सलोना (6)

1960 बीते तेरह साल (6), बोलो कितने बदनाम हुए (6), त्रिमूर्ति (4), पुरानी जूतियों का कोरस (4)

1961 दूर-दूर से आये हम मनवाने निज अधिकार (6), अच्छा हुआ कि जनता को मिल गई तुम्हारी थाह (4)

1962 भाई भले मुरारजी (6), दिल्ली चलो ! (4), तरल कनक (4), कबन्ध (4), फसल (4)

1963 कंचन-मृग (6), इस हाथ दो उस हाथ लो (6), फिलहाल (6), दान दो ! दान दो !! (4)

1964 तुम रह जाते दस साल और (3), तुमने कहा था (3), विकल है गुलाब (3), विजय हुआ बसन्त (3), पावस तुम्हें प्रणाम (3), फूले कदम्ब (3), घन-कुरंग (3), मेघ बजे (3), धूप में खिले पात (3), पछाड़ दिया मेरे आस्तिक ने (6), करवटें लेंगे बूंदों के सपने (6), छेड़ो मत इनको (6), लाली बढ़ी सौ गुनी (4)

1965 लाल बहादुर (3), हजार बांहों वाली शिशिर (6), और बस अंधकार है (6), मांग रही तरुणाई वो हथियार (6), भारत भूमि में प्रजातन्त्र का बुरा हाल है (6), खूब फंसे हैं नन्दा जी (6), खड़ाऊं थी गद्दी पर (4)

1966 रूठ के चली गयी बुआ (3), शासन की बन्दूक (3), आए दिन बहार के (3), दिन लदे सिंहासन राय के (3), लो यह उमड़-उमड़ आया (6), कल और आज (6), नाहक ही डर गई हुजूर (6), एकशन में आ गये लाख लाख (6), लोगे मोल ? (6), कर दो वमन (6), फिक्र में पड़ गये कामरेड ! (6),

चलो चलो धरना दें चल कर (4), उम्मीदवार (4), वह फिर जी उठी (4)

1967 अच्छा किया उठ गये हो दुष्ट (3), माधवन् आनन्द शंकर (3), बाढ़–67 पटना (3), दूर बसे उन नक्षत्रों पर (2), देवि लिबर्टी (2), चौधरी राजकमल (2), गेहूं दो, चावल दो (6), गांधी टोपी : हैट के प्रति (6), धन्य-धन्य श्रीमानों के श्रीमान (6), लीडर अपोजिशन का–कांग्रेसी (6), सुलग रहा वियतनाम (6), रोये बड़े-बड़े बलिदानी (6), देखा सबने चिड़ियाखाना (6), बातें (6), जी अकाल 'सहाय' (6)

1968 तीन दिन, तीन रात (3) भारतीय जनकवि का प्रणाम (6), जय हे कीचड (6), उजली हसी के छोर पर (6), शिकागो होगा इनोई (6), काओ की : स्वगत चिन्तन (6), हत्यारा (6), डालर रोया बिलख-बिलखकर (6), हाय रे ! ओ आला कमान (6), भज गोविन्दम् मूढमते (6), आखिर ······ इन्सान हैं भाई मोरारजी (4), स्वगत-चिन्तन कांग्रेसी आला कमान का (4), फेस टु फेस (4), वाह भाई मंडल (4), कोरस : चन्द विधायकों का (4)

1969 बतला दो बापू क्या थे तुम ? (3), तीनों बन्दर बापू के (3), मंत्र कविता (2), अब तक छिपे हुए थे उनके दांत और नाखून (4), धूल चटाओ (4), क्रांति तुम्हारी तुम्हें मुबारक (4), सरकाऊ सीढ़ियां (4)

1970 लेनिन तुमको लाल सलाम (3), महाप्रभु जॉन्सन–क (3), महाप्रभु जॉन्सन–ख (3), याद आता है तुम्हारा नाम (6), दो पंचक (6), आज मैं बीज हूं (6), लायें मीठे वचन कहां से (4)

1971 रहे गूंजते बड़ी देर तक (3), अब तो बन्द करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन (3), ताशों मे ही बचे रहेंगे अब तो राजा रानी (6)

1972 घर से बाहर निकलेगी कैसे लज्जवन्ती (3), देख लो इनके कई कई माथ हैं (3), महामना मेघराज (6), बड़े है दिन रात (6)

1973 प्रजातन्त्र का होम (3), शालवनो के निविड टापू मे (3), मैं तुम्हें अपना चुम्बन दूंगा (3), देवी तुम तो काले धन की बैसाखी पर टिकी हुई हो (4), पैने दांतों वाली (4), पता नहीं बिल्ली की देवी गोरी है या काली (4)

1974 तुम तो नहीं गई थी आग लगाने (1), इन्दु जी क्या हुआ आपको (1), लाइए मैं चरण चूमूं आपके (1), जयप्रकाश पर पड़ी लाठियां लोकतन्त्र की (1), बौखला (1), क्रान्ति सुगबुगाई है (1), काश, क्रांति उतनी आसानी से हुआ करती (1), अन्न पचीसी (4)

1975 पा गये हैं (3), मगरों के आंसू बहते हैं (3), पूछते हैं विद्वजन परस्पर (3),

अच्छा तो (3), अगले पचास वर्ष और (1), वो सब क्या था आखिर (1), जाने तुम डायन हो (1), इसके लेखे संसद-फंसद सब फिजूल है (1), सूरज सहम कर उगेगा (1), यह बदरंग पहाड़ी गुफा सरीखा (1), खिचड़ी विप्लव देखा हमने (1), सत्य (1), अहिंसा (1), सिंके हुए दो भुट्टे (1), छोटी मछली शहीद हो गई (1), पसन्द आएगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन (1), प्रतिबद्ध हूं (1), धज्जी धज्जी उड़ा दी छोकरों ने इमर्जेंसी की (1), हाथ लगे आज पहली बार (1), हुकूमत की नर्सरी (1), तकली मेरे साथ रहेगी (1), जरासन्ध (1), सदाशय बन्धु (1), थकित चकित भ्रमित मग्न मन (1), धोखे में डाल सकते हैं (1)

1976 चन्द्रू मैंने सपना देखा (1), लाल साहू (1), बन्धु डा० जगन्नाथन (1), नेवला (1), खटमल (1), खल गई होली इस साल (1), वेतन भोगी टहलुआ नहीं है (1), मुर्गे ने दी बांग (1), जी हाँ यह सबकी चहेती है (1), सुबह-सुबह (1) बसन्त की अगवानी (1), इन सलाखों से टिकाकर भाल (1), फिसल रही चांदनी (1), होते रहेंगे बहरे ये कान जाने कब तक (1), वो चांदनी ये सींखचे (1), हरे हरे नये नये पात (1), नंगे तरु हैं नंगी डालें (1), इर्द-गिर्द संजय के मेले जुड़ा करेंगे (1) कब होगी इनकी दीवाली (1), बाल बाल बचा हूं मैं तो (1), नये नये दिल हैं (1), रहा उनके बीच मैं (1), परेशान हैं कांग्रेसी (1), नये वर्ष की अगवानी में (4), सेंटिमेंट (4), भला और क्या चाहिए (4) मोर न होगा उल्लू होंगे (4)

1977 शैलेन्द्र के प्रति (3), तना है वितान (3), जादुई परस, जादुई परस ! (3), यह गुस्से की एक्टिंग (6), मैं उसे छोड़ूंगा नहीं (6), तुम धन्य हो ! तुम अनन्य हो !! (6), अभी अभी हटी है (6), तीस साल के बाद (1) भारत पुत्री का मुख मन्डल हुआ किस कदर पीला (1), इस चुनाव के हवन कुंड से (1), तुनुक मिजाजी नहीं चलेगी (1), जनता वाले परेशान हैं (1), नये सिरे से (1), नुक्कड़ जिन्दाबाद (1), हम विभोर थे अगवानी में (1), हरिजन-गाथा (1), इतना जल्दी भूल गया (4), युग की चहल पहल (4), उनके उर पर मोहन माला (4), नौ दिन चले अढाई कोस (4)

1978 हमारे दिल में (3), हो गये बारह महीने (3), माई डियर दद्दू हमारे (3), जो जी में आये कहो (3), हुआ ! हुआ !! हुआ !!! (3), घटकवाद की उठापटक है (3), आतुर जीव की प्रार्थना सुनेगा कौन (3), 26 जनवरी 15 अगस्त (3), नथने फुला फुला के (6), दौड़ गई है पुलकन रोम रोम में (6), हमने तो रगड़ा है (6), खूब सज रहे (1), हाय अलीगढ़ (1), देवरस-दानवरस (1), नित नये मिलन हैं (1), पुलिस आगे बढ़ी (1), यात्राएं दीर्घ हैं (4), डेमोक्रेसी की डमी (4)

1979 कुत्ते ने भी कुत्ते पाले देखो भाई (3), वो अन्दर से बांस करेंगे (3), न गधी का न घोड़े का (3), गुरू गुड (3), जी हाँ, लिख रहा हूं (3), फैल गया है दिव्य मूत्र का लवण-सरोवर (3), बादलों ने डाल दिया है घेरा (3), प्रतिहिंसा ही स्थायि भाव है (6), बदलियाँ हैं (6), बेतवा किनारे—एक (6), बेतवा किनारे—दो (6), हम भी साझीदार थे (6), दिव्य चिन्तन (4), हेमन्ती बादल हैं (4)

1980 खिला है यह अनोखा फूल (6), बड़ी फिकर है हमें तुम्हारी (6), नदियां बदला ले ही लेंगी (4)

1981 अच्छा किया तुमने (4), पटनायक नागभूषण (4), दल बदलू बुजुर्ग (4), लोकतन्त्र के दर्पण में (4), विकल हैं, व्याकुल हैं (4), बार-बार हुए हैं लहू-लुहान (4), लोह गोपिकाएं (4), छोटी मछली बड़ी मछली (4), जान भर रहे हैं जंगल में (4)

नागार्जुन अंक के लेखक

1. अजय तिवारी
   ई–24 ए, नानकपुरा, नई दिल्ली–110021
2. आनन्द प्रकाश दीक्षित
   हिन्दी विभाग, पुणे विद्यापीठ, गणेशखिंड, पुणे–411007
3. एन० ई० विश्वनाथ अय्यर
   26/2035, कालेज लेन, त्रिवेन्द्रम 695001
4. कुंवरपाल सिंह
   हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़–202001
5. कुंवरपाल जोशी
   मदनलाल इन्टर कालेज, बिसौली, बदायूं–202520
6. कृष्णलाल शर्मा
   9 वेला, छेडा नगर, बम्बई 400089
7. कृष्णचन्द्र गुप्त
   हिन्दी विभाग, एस० डी० कालेज, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)
8. गोपाल कृष्ण शर्मा
   हिन्दी विभाग, जे० एल० एन० कालेज, एटा (उ० प्र०)
9. छबीशाह
   ग्राम बड़ी मकन्दपुर, पो० अमिया बाजार वाया नवगछिया, भागलपुर
10. नारायण स्वरूप शर्मा 'सुमित्र'
    हिन्दी विभाग, दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत (उ० प्र०)
11. परमानन्द श्रीवास्तव
    बी–70, आवास विकास कालोनी, सूरज कुंड, गोरखपुर–273001
12. प्रभाकर श्रोत्रिय
    'अक्षरा' सम्पादक, हिन्दी भवन, शामला हिल्स, भोपाल–462012
13. प्रभाकर माचवे
    निदेशक, भारतीय भाषा परिषद्, शेक्सपीयर सरणि, कलकत्ता
14. प्रेमशंकर
    हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर–470003
15. बालेन्दु शेखर तिवारी
    हिन्दी विभाग, स्नातकोत्तर केन्द्र, चाईबासा–833202

16. **बेचन**
प्राचार्य, मारवाड़ी महाविद्यालय, भागलपुर–812007

17. **मधुरेश**
द्वारा ब्रह्मानन्द पाण्डेय का मकान, भांजी टोला, बदायूं–243601

18. **राणा प्रताप सिंह**
'कथान्तर' सम्पादक, मोर्चा रोड, बेगमपुर, पटना–9

19. **रामवीर सिंह**
ई०–697, कमला नगर, आगरा–282005

20. **वाचस्पति**
हिन्दी विभाग, राजकीय डिग्री कालेज, जहरी खाल, लैंस-डाउन (गढ़वाल)

21. **विश्वनाथ मिश्र**
32, द्वारकापुरी, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

22. **विजय बहादुर सिंह**
48, स्वर्णकार कालोनी मार्ग, विदिशा (म० प्र०)

23. **विश्वम्भरनाथ उपाध्याय**
हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

24. **विष्णु प्रभाकर**
818, कुंडेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली–110006

25. **शैलेन्द्र चौहान**
'धरती' सम्पादक, 5/10 पंजाबी कालोनी, अलोपीबाग, इलाहाबाद–211006

26. **[illegible]**
द्वारा हरिहर प्रसाद, भगीरथी [illegible] पटना–800006

27. **सत्यकाम**
शोध छात्र, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

28. **[illegible]**
हिन्दी विभाग, एम० एस० कालेज, सहारनपुर–247001

29. **[illegible]**
हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

30. **[illegible]**
शिक्षा विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ० प्र०)